जन-ज्ञान-प्रकाशन का ८४ वां पुष्प

॥ ओ३म् ॥

वेदामृत

प्रथम संस्करण-श्रीपाद पं० दामोदर जी
सातवलेकर द्वारा
एवं द्वितीय संस्करण
लवपुरस्थ
दयानन्दोपदेशकविद्यालय प्रधानाध्यापक

स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ
द्वारा सम्पादित

-प्रकाशक—
जन-ज्ञान-प्रकाशन
नई दिल्ली-५

प्रकाशक—
जन-ज्ञान-प्रकाशन
१५६७ हरध्यानसिंह मार्ग
नईदिल्ली—५

दूरभाष-५६६६३९

सम्पादक—
राकेश रानी

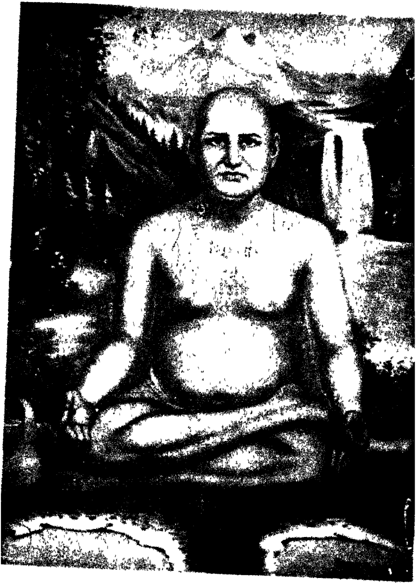
दयानन्द संस्थान
नई दिल्ली का प्रकाशन

मूल्य ६)
सजिल्द ८)

मुद्रक
हिन्दुस्तान आफसैट प्रेस
दिल्ली-६

द्वितीय संस्करण

श्रावणी—संवत् ३२



वेदोद्धारक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

वेदामृतकी विषय-सूची

—:o:—

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

—०—

'वेद' सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है । 'वेद' का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है ।

—ऋषि दयानन्द

द्वितीय संस्करण का

संपादकीय वक्तव्य

'जो मनुष्य प्रभु की कल्याणी वाणी का अध्ययन और मनन करता है, वह ऋषियो के प्राप्त किए मधुररस-ज्ञानरस, मुक्तिरस को, तथा ससार सुख कीसाधन सामग्री-दूध, घृत, मधु, जल प्रभृतिको प्राप्त करता है।'

ऋषि दयानन्द, निस्सन्देह, इस युग के सब से बडे वैदिक विद्वान् हुए हैं। उन्होने वेद का फिर से प्रचार कर लोक रुचि के उद्दाम प्रवाहकोही बदल दिया है। आचार्य्य के समय लोग उनकी बातोको उतना स्वीकार न करते थे, किन्तु अब जैसे जैसे समय बीतता जाता है, वैसे वैसे, क्या जनसाधारण और क्या पण्डित मौलिमण्डन, सब शनै शनैः दयानन्द के सिद्धान्तों को स्वीकार करते जाते हैं। यह और बात है, कि अभी वे दयानन्द का नाम लेने मे सकोच करते हैं। ऋषि अपने जीवन का सब से मुख्य कार्य्य वेद प्रचार को ही मानते थे। वेद के लिए उनकी भक्ति इतनी अगाध थी, कि एक बार व्याख्यान देते देते महाराज ने कहा—"दयानन्द की एक एक अंगुलि के पोर पोर को काट कर पूछा जाए, तब भी दयानन्द के मुख से वेद की श्रुति ही निकलेगी।" इस कलियुग मे इतना बडा वेद भक्त आचार्य्य, कदाचित् ही ससार ने देखा हो। आर्य्यों ने स० १९८१ वि० मे दयानन्द की शतसांवत्सरिक जयन्ती मनाने का निश्चय किया। अपने गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शन के मिष से प्राय प्रत्येक ने कोई न कोई शुभ कार्य्य किया, अथवा करने का सकल्प किया। पजाब-आर्य्य प्रतिनिधि सभा ने इस अवसर पर वैदिक सिद्धान्तों के प्रचारार्थ एक विद्यालय की स्थापना करने [उस वर्ष से लाहौर मे गुरुदत्त भवन मे दयानन्द उपदेशक विद्यालय स्थापित कर दिया गया।] तथा 'वेद मन्त्रो का एक सग्रह' प्रकाशित करने का सकल्प किया। सभा ने दूसरे कार्य्य का भार श्री पण्डित श्रीपाद-दामोदर सातवलेकरजी पर डाला। पण्डित जी ने बडे प्रेम और परिश्रम से शुभ कार्य्य का सम्पादन किया। उस संग्रह का नाम 'वेदामृत' रखा गया। पुस्तक, बम्बई मे पण्डित जी के तत्त्वावधान में छपी।

श्री प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर आर्य्य समाज का गौरव है। ऋषि के पश्चात् दो ही ऐसे महानुभावो का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने वेद सबन्धी ग्रन्थ लिखे हैं। एक परलोकगत श्री प० शिवशकर काव्य तीर्थ तथा दूसरे श्री सातवलेकर जी। श्रीमत्काव्यतीर्थ जी अत्यन्त चमत्कारिणी मेधा-बुद्धिसंपन्न तथा विशाल विद्या के धनी थे। उन्होंने वेदो पर विपक्षियो के द्वारा किए गए नाना मिथ्याक्षेपो का निराकरण कर उनको उनके यथार्थ रूप मे प्रकट कर, वेदो का माहात्म्य बढाया। और पण्डित सातवलेकर जी ने वेद विषय मे सरल, सुबोध ग्रन्थ लिखकर वेद को सर्वप्रिय बनाने का सफल प्रयत्न किया है। आज यदि लोग वेद का अभ्यास अधिक करते हैं, तो उसका श्रेय बहुत कुछ पण्डितजी को है। सभा ने पण्डितजी को यह कार्य्य सौपकर निपुण गुण-ग्राहकता का परिचय दिया है।

उस समय २००० प्रतिया छपवाई गई थी, जो सबकी सब जन्मशताब्दी महोत्सव पर ही समाप्त हो गई। इसी से पुस्तक की उपयोगिता का अनुमान किया जा सकता है। जन्मशताब्दी महोत्सव के बाद से अब तक पुस्तक की माग बराबर जारी है। इस माग को पूरा करने के लिए सभा ने इसका द्वितीय संस्करण निकालने का निश्चय किया। उसके सपादन के लिए मुझे आदेश दिया। कई अन्य योग्यतर विद्वानो के रहते तथा स्वय अध्यापन एव पुराणालोचन-ग्रन्थमालागुंफन के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य्यों मे व्याप्त होने पर भी मैं इस गौरव प्राप्ति के लोभ को सवरण न कर सका, इसमे कारण वेदभक्ति तथा अपने आचार्य्य के प्रति अनुरक्ति है।

श्री प० सातवलेकरजी को वेद का स्वाध्याय करते लगभग ३५ वर्ष हुए हैं, इतना समय तो मुझे कलेवर धारे भी नही बीता, अतएव मेरा वेद विषयक अध्ययन कितना अल्प है, इसके कहने मे मुझे कोई सकोच नही है। ऐसी स्थिति मे कदाचित् पण्डित जी जैसे बहुश्रुत विद्वान् के ग्रन्थ मे मेरा हस्तक्षेप करना दुस्साहस तथा धृष्टता समझा जाएगा। किन्तु मैं पाठको को तथा प्रशसित पण्डितजी को विश्वास दिलाता हूं, कि यथाशक्ति मैंने पण्डितजी के भावो की रक्षा की है, भावो की ही नही, अपितु उनकी भाषा भी बहुत से स्थलो पर वैसी रहने दी है। परिवर्त्तन यदि किया है, तो क्रम मे, और वह भी पाठको की सुविधा को लक्ष्य मे रखकर। अब के क्रम मे सबसे पहले ईश्वर परक मन्त्रों का सग्रह है, फिर जीव, प्रकृति इत्यादि का। ईश्वर निरूपण मे आर्य्य समाज के दूसरे नियम मे कहे सारे विशेषणो के बोधक मन्त्र देदिए, गये हैं। उन मे से बहुत से विशेषण स्कभ सूक्त मे थे, अतएव ईश्वर प्रकरण मे स्कभसूक्त इकट्ठा एक स्थान पर भी दे दिया है। ताकि स्वाध्यायशील पाठक सारे सूक्त का भी मनन कर सकें। इस बार पुस्तक मे कई नूतन विषयो का समावेश किया गया है। जसे जीव, प्रकृति, तीन अनादि प्रभृति। इस तरह से यह सग्रह अब

केवल जनसाधारण का ही उपयोगी नहीं, अपितु शास्त्रार्थ करने वाले पण्डित समुदाय के भी लाभ की वस्तु बन गया है। आशा है दोनों वर्ग इस से यथेष्ट लाभ उठाएंगे।

यहां प्रसंगात् यह स्वीकार करना कदाचित् अनुचित न होगा, कि इस पुस्तक में जो कुछ अच्छा है, वह सब प० सातवलेकरजी के महान् अध्यवसायका फल है।

ग्रन्थ का मूल्य पहले भी बहुत थोडा था, किन्तु प्रचार के लिए मूल्य अब आठ आने और भी न्यून करके २।।) कर दिया गया है। इस समय वेदविषयक इतनी बडी सुन्दर, अच्छी पुस्तक और साथ ही सस्ती बाजार में दूसरी कोई नहीं है।

इस ग्रन्थ की मन्त्र सूची तथा विषय सूची बनाने और प्रूफ सशोधन में मेरे शिष्यों—प० नरदेव सिद्धान्तभूषण तथा ब्र० सत्यदेव ने भक्ति पूर्वक सहायता की है। तदर्थ उन्हें शुभाशीर्वाद।

पृष्ठ १६२ पर 'दृष्टि' के स्थान में 'दृष्ठि', पृ० ३६१ पर 'सीसे' के स्थान पर 'मास' पृ० १६८ पर 'परमेश्वर' के स्थान में 'परमेश्वर सब' पृ० ४१६ पर 'पृथिवी शान्तिरन्तरिक्ष' के स्थान में 'पृथिवी शान्तिरिक्षं' तथा पृ० ११७ 'इन्द्रियाधिष्ठाता' के स्थान में 'इन्द्रियाष्ठाता' मुद्रायन्त्र के भैरवों के ताण्डव-नृत्य का परिचय दे रहे हैं।[1]

वेदपुरुष परमात्मा की असीम कृपा तथा वेदाध्यायी सज्जनों के शुभाशसन से यह पवित्र कार्य्य समाप्त हो सका है, अत उन्हें नतमौलि नमस्कारा,-ञ्जलि समर्पित है। छिद्रान्वेषी दोषदर्शीको, सुधार में सहायक होने के कारण वन्दनाकर इस वक्तव्य को यही समाप्त करता हूं। ओ शम्।

दयानन्दोपदेशक विद्यालय, श्रोत्रियवृन्दपादारविन्दमकरन्दमिलिन्दसतीर्थ
गुरुदत्तभवन, **लाहौर**। **श्रीवेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ**
२ फाल्गुन, दया० १०३।

१ ये सभी अशुद्धियां इस बार शुद्ध कर दी गई हैं।

प्रथम संस्करण का संपादकीय

वेद का अमृत

ऋ० १० । ६१ । ६

ओंकारस्वरूप सर्वश्रेष्ठ सर्वपूज्य परमपवित्र उस दिव्य यज्ञ-पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकट हुए है । यही "दिव्य वेद" संपूर्ण आर्यों के परम पवित्र और श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ हैं । इसलिये "वेद का पढना पढाना, सुनना सुनाना, आर्यों का परम धर्म है ।" हरएक आर्य के प्रतिदिन के अत्यन्त आवश्यक कर्तव्यो मे "वेद के मत्र का मनन करना" भी एक मुख्य कर्तव्य है ।

ऋषिऋण

हर एक आर्य के सिर पर "ऋषियो का ऋण" है । इस ऋण से उऋण होने का एकमात्र उपाय यही है कि, वह वेद मन्त्रो का तथा आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करे और उनके तत्त्वज्ञान का प्रचार करे । अन्यथा जन्म से प्राप्त "आर्यत्व" का कोई गौरव नही और उऋण होने का कोई दूसरा मार्ग भी नही है ।

मेरे सिर पर भी यह 'ऋषि ऋण' था । मेरे पूजनीय पिता जी की उत्तम प्रेरणा के कारण बाल्पन से ही मेरी प्रवृत्ति धार्मिक आर्ष ग्रन्थो की पढाई मे रही थी, परन्तु वेद मन्त्रो के मनन मे प्रवृत्ति का रुख झुकाने वाला कोई मिला नही था । मैं केवल छोटा बालक ही था, उस समय सवत् १६३१ के हिम ऋतु मे मैंने एक बम्बई के सनातन धर्माभिमानी वृत्त पत्रमे पढा कि–"एक सन्यासी बबई मे पधारे हैं, जो प्रतिदिन बडे बडे भावपूर्ण व्याख्यान देते हैं, विपक्षियो अर्थात् नास्तिकों के साथ शास्त्रार्थ करके नास्तिक और पाखण्ड मतों का खडन करते हैं, और सनातन वैदिक धर्म का मण्डन करते हैं । जहां ये सन्यासी जाते हैं, वहा अपने साथ एक गड्डाभर आर्ष ग्रन्थ ले जाते है और शास्त्रार्थ मे इन का मुकाबला कोई नास्तिक कर नही सकते ।"

संन्यासी के दर्शन की इच्छा

सनातन हिन्दु धर्म के पक्षपाती पत्र मे यह वृत्त मैंने जब पढा, तब मुझे अत्यन्त आनन्द हुआ । और इस सन्यासी का दर्शन करने की इच्छा उसी समय

मेरे मन मे उत्पन्न हुई। परन्तु मैं अत्यन्त छोटा बालक होने के कारण वह इच्छा वैसी ही मन मे रही और अन्त तक सफल नहीं हुई।

दश पन्द्रह वर्ज के पश्चात् विद्याध्ययन के लिये मैं बम्बई आ गया। परन्तु इस समय वह सन्यासी परलोक को सिधारे थे, इसलिये दर्शन की अभिलाषा पूर्ण होना असम्भव ही हुआ। परन्तु मन मे श्रद्धा विद्यमान थी। यद्यपि इस समय तक न तो उस सन्यासी का व्याख्यान सुना था और न एक भी ग्रन्थ पढा था, तथापि उस वृत्त पत्र के पढने से जो श्रद्धा मन मे बनी थी, वह स्थिर ही थी।

भाष्य भूमिका के साथ परिचय

बम्बई मे आने के पश्चात् चार पाच वर्ष अध्ययन मे व्यतीत हुए और पश्चात् एक समय अचानक ही एक विद्वान् योगी के साथ परिचय हुआ, जिसके पास '**ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका**' नामक एक ग्रन्थ देखा। यह अमूल्य ग्रन्थ छोटा सा पढते ही मेरी रुचि उस को अधिक पढने की ओर हुई और उसी दिन मैंने वह ग्रन्थ खरीद लिया। एक सप्ताह मे मैंने कई बार उसका पाठ किया और प्रतिबार मुझे नवीन २ ज्ञान मिलता रहा। इतना होने पर भी मुझे यह विदित नही था कि, इस ग्रन्थ के लेखक वही सन्यासी हैं कि जिनके विषय मे मैंने बालपन मे वृत्तपत्र मे वर्णन पढ़ा था और जिनके विषय मे मेरे मन मे अत्यन्त श्रद्धा थी।

परन्तु यह भ्रम बहुत देर तक नहीं रहा। एक समय एक विद्वान् सज्जन से मेरा परिचय हुआ। इनका नाम श्री प्रोफैसर श्रीधर गणेश जिन्सीवाले था। ये सस्कृत और अग्रेजी के बडे भारी विद्वान्, बम्बई युनिवर्सिटी के एम० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण, वुईलसन कालेज मे वेद के प्रोफैसर थे और विशेष बात यह थी कि उनका उसी सन्यासी के साथ शास्त्रार्थ हुआ था, जिनका नाम वर्णन मैने बालपन मे वृत्तपत्रो मे पढा था। ये प्रोफैसर साहेब स्वय आर्षग्रन्थों और वेद मत्रो के ज्ञाता थे, स्नानसध्यादि ब्राह्म कर्मों मे अत्यन्त निष्ठा रखते थे और प्रतिदिन यथाविधि अपना धर्मानुष्ठान किया करते थे। परन्तु इनका मत यही था कि "वेद पौरुषेय अर्थात् मनुष्य रचित है।" इसी विषय पर उक्त सन्यासी के साथ इनका शास्त्रार्थ बम्बई मे हुआ था। शास्त्रार्थ मे प्रोफैसर निरुत्तर हुए थे, यह बात मैंने बालकपन में ही वृत्तपत्रो मे पढ़ी थी।

शास्त्रार्थ की बात

इस कारण जब मेरा परिचय पूर्वोक्त प्रोफैसर महोदय जी से हुआ, मैंने वही शास्त्रार्थ की बात पूछी। तब प्रेम मे आकर प्रोफैसर बोले—कि "विलक्षण युक्ति से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मुझे निरुत्तर किया। और मेरे पास उन के साथ अधिक शास्त्रार्थ करने के लिये कोई युक्ति अवशिष्ट नही रही थी।

यद्यपि इस समय मेरा मत वेद पौरुषेय है, यही स्थिर है, तथापि स्वामी जी की युक्तियां और विद्वत्ता निःसंशय प्रशसनीय थी, और इसी कारण मेरे अन्दर उनके विषय में दृढ़ श्रद्धा है।"

इस कारण बालपन में जिनका परिचय मुझे वृत्तपत्र द्वारा हुआ था, और जिनका ग्रन्थ मैं पढ रहा था, उनका परिचय मुझे हुआ और मेरा मन अधिक आनन्दित हुआ। इस रीति से शनै शनै मेरा परिचय श्री स्वामी जी के ग्रन्थो से हुआ और बम्बई छोडने के पूर्व ही मैने उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ और सम्पूर्ण भाष्य मगवाये तथा मैं उनका प्रतिदिन नियम पूर्वक अध्ययन करता रहा। इतना होने पर भी बम्बई के आर्य्य समाज से मेरा यत्किचित् भी परिचय नही था और न बम्बई के आर्य्य समाज का अस्तित्व भी मै जानता था।

आदर्श ब्रह्मचारी

बहुत सालो के पश्चात् मैं बम्बई छोड के हैदराबाद दक्षिण चला गया और वहा भी वेदमन्त्रो का अध्ययन, मनन और विचार प्रतिदिन करता ही था। उस समय जो जो कठिनाइया वेदमन्त्रो के गूढतत्त्व खोलने मे उत्पन्न होती थी, वह स्वामी जी के भाष्य से तथा उनकी विचारपद्धति से निवृत्त होती थी। इस कारण मेरे मन में स्वामी जी के विषय मे अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न हुई और मैंने अपने मन मे इनको अपना "आदर्श ब्रह्मचारी" निश्चित किया ही था। इसी समय हैदराबाद दक्षिण के आर्यसमाज मे मैने प्रवेश किया।

मेरे आदर्श ऋषि

यहा ही एक दिन मैं "ऋषि" शब्द के अर्थ का मनन कर रहा था, उस समय ऋषि "द्रष्टा" होते हैं और द्रष्टाओ को "ऋषि" कहते है, यह विषय मन मे आ रहा था, इतने मे ऐसा एक विचार मन मे आया, कि यदि द्रष्टा और मार्गदर्शक ही ऋषि होते हैं, तो जिन्होंने बालपन ही मे मुझे मार्ग बताया, वे मेरे लिये "ऋषि" क्यो नही हैं ? यह प्रश्न मन मे खडा हुआ। और निश्चय हुआ कि, जिन्होने मेरे अन्त:करण मे वेद मन्त्रो का मनन करने की प्रेरणा की और वेद मन्त्रो का अर्थ बताने मे मुझे इस समय भी अपने ग्रन्थो द्वारा सहायता दे रहे हैं, वे निःसन्देह "ऋषि" ही है। इस प्रकार विचार करते करते मेरे मन मे अधिकाधिक प्रमाण उपस्थित हुए और उनके "ऋषि" होने मे मुझे कोई शंका ही नही रही।

(१) अपने देश मे जिस समय साठ साठ वर्षो के वृद्ध पुरुष कुमारिकाओं के साथ विवाह करने मे धर्म का अतिक्रमण होने का विचार भी मन में नहीं लाते थे, उस समय जिसने "ब्रह्मचर्य" का विचार जागृत किया, (२) यूरोपियन सभ्यता की भूलभुलैया के कारण अपने धर्म ग्रन्थों के विषय

में जो उदासीनता अपने देश के विद्वानों के अन्तःकरण मे छा रही थी, उस को जिन्होंने दूर किया और अपने दिव्य धर्म ग्रन्थों का प्रकाश दिखलाया (३) जिस समय महामहोपाध्याय गरो शास्त्री जैसे पण्डित भी ईसाई होने मे प्रवृत्त होते थे, उस विकट समय में पादियो के साथ शास्त्रार्थ करने का धैर्य दिखला कर, अपने धर्म की ज्योति जिन्होने प्रकाशित प्रज्वलित रखी (४) और जिन्होंने अपने अनुयायियों मे भी अन्य धर्मियो के साथ शास्त्रार्थ करने की तेजस्वी शक्ति उत्पन्न की (५) देश की परतन्त्रता दूर करने के लिये प्रातिनिधिक सस्था निर्माण करने का मार्ग जिन्होने सब से पूर्व बतला दिया (६) धर्मसभा, विद्यासभा, राजसभा द्वारा देश की पूर्ण स्वाधीनता और स्वायत्तता प्राप्त करने का वैदिक मार्ग जिन्होंने उद्घोषित किया (७) यूरोप के साथ इन देशवासियो का मुकाबला होने के लिये वैज्ञानिक उन्नति की आवश्यकता देख कर जिन्होने यहा के युवक जर्मनी मे भेजकर वैज्ञानिक उन्नति की बुनियाद डालने का यत्न किया (८) गोमाता का रक्षण होने के बिना शारीरिक बलवृद्धि होना असम्भव है, यह देखकर जिसने गोरक्षा के लिये सब से पहिले सुव्यवस्थित प्रारम्भ किया था (९) मतमतान्तरो के झगडो से छिन्न भिन्न होने वाले हिन्दुसमाज मे एकता का बल लाने के लिये जिस ने सब विभिन्न मतों के पूर्व विद्यमान परिशुद्ध जो सनातन वैदिक मत है, इसका सबसे पहिले प्रतिपादन किया (१०) और साथ साथ वेदमंत्र का गूढार्थ बताने के साधन भी सबो के सामने प्रस्तुत किये, उस देशोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को मैंने "ऋषि" कहा और माना, तो उस में अत्युक्ति ही किस प्रकार की है ? जो बात इतनी देर के बाद और इतने विचार के पश्चात् मेरे ध्यान मे आ गई है, वही बात आजकल सहस्रो और लाखो लोग मान रहे हैं। इस लिये वह बात अब कोई अपूर्व नही है।

"ऋषितर्पण" का अवसर।

इस प्रकार जिनका "ऋषित्व" मैंने स्वीकृत किया था, उनका तर्पण करने का विचार मेरे मन में कई वर्षों से था। परन्तु वैसा करने के लिये मैं अपने आप को योग्य नही समझता था। वह योग्यता प्राप्त करने की इच्छा से ही सब दुनयवी कार्य छोड़कर इस औंध ग्राम में गत सात वर्षों मे मैं वेदाध्ययन करने मे अपनी सब शक्ति लगा रहा था और जितना जितना मेरा अध्ययन अधिक हुआ, उतना उतना मेरा अज्ञान ही अधिकाधिक प्रकट होने लगा, तथा वेदसागर का मंथन करना अति दुस्तर है, ऐसा ही दृढ विचार होता गया। मेरे मन का विचार ऐसा हुआ था, इतने में श्री स्वा० सत्यानन्द जी महाराज के आदेश और मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा की प्रेरणा के साथ श्री स्वामी स्वतत्रानन्द जी महाराज का प्रत्यक्ष दर्शन औन्ध मे हुआ।

दयानन्द जन्मशताब्दी

उक्त तीनो का उद्देश्य एक ही था और वह यही था कि "दयानन्द जन्म-शताब्दी" निमित्त मैं वेद विषयक एक बड़ा ग्रंथ लिखूं। श्री स्वा०स्वतन्त्रानंद जी मुझे प्रेरणा कर रहे थे, परन्तु मन अपनी कमजोरी की साक्षी दे रहा था। इस लिये मेरा धैर्य होता ही नहीं था। तथापि अन्त मे उक्त महात्माओं की प्रेरणा से और "ऋषितर्पण" करने की हार्दिक लालसा से मैंने यह कार्य गत कार्तिक सं० १९८० के अन्त मे स्वीकृत किया।

धन्यवाद।

सबसे प्रथम मैं "श्रीमन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा" का हार्दिक धन्यवाद करता हू, इसलिए कि, उन्होने यह अत्यन्त जिम्मेवारी का परन्तु शताब्दी महोत्सव के समय करने के "ऋषितर्पण" के लिये अति आवश्यक कार्य करने का मुझे अवसर दिया और इस के करने के लिये आवश्यक साधन भी बिना प्रतिबन्ध मेरे आधीन किये, इसलिये, मैं श्रीमन्त्री जी (सभा) का अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

अखण्ड अमृत का स्रोत।

अब यहां इतना ही निवेदन करना है कि, जो "वेद का अमृत" इस छोटे पात्र में रख कर पाठकों के सन्मुख रखा है "ऋषियो का ही संगृहीत अमृत" है। "अखण्ड अमृत के परम स्रोत से ऋषियो के द्वारा प्राप्त हुआ वह अमृत-रसायन अधिकाधिक संग्रह करने मे ही मेरी आयु का व्यय होता रहे और इस कार्य द्वारा वैदिक धर्म की सेवा मेरे से होती रहे, इतनी ही प्रार्थना उस सच्चिदानन्दस्वरूप परममंगलमय परमात्मा के पास है। आशा है कि पाठक भी मेरे साथ यही प्रार्थना करने में सम्मिलित होंगे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

१ भाद्रपद स० १९८१
स्वाध्याय मंडल
औंध जि० सितारा

निवेदक—
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

ओ३म्

वेदामृत

प्रार्थना

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा
सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥

ऋ० ५।८२।५॥

हे (सवित) सकल जगत् के उत्पन्न करने वाले (देव) ईश्वर ! (विश्वानि) सब (दुरितानि) पाप हम सब से (परा सुव) दूर करो, और (यत्) जो (भद्रं) कल्याणमय है, (तत्) वह (न) हमें (आसुव) दो।

हे सब जगत् के उत्पादक प्रभो ! हे सकल संसार के परम पिता ! हे सर्व मंगलमय देव ! हे सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर ! मैं यह ज्ञान-यज्ञ कर रहा हूं, इस लिये, हे दयामय प्रभो ! इस ज्ञान यज्ञ में जो जो आन्तरिक और बाह्य विघ्न हो सकते हैं· उन सब विघ्नों और दोषों को दूर करो और इस ज्ञान-यज्ञ के अनुकूल जो विचार हों, उनको ही मेरे अन्तःकरण में प्रेरित करो। इस प्रकार तुम्हारी प्रेरणा से यह ज्ञान-यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो जावे। यही प्रार्थना है, हे कृपानिधे ! इस कामना की पूर्ति करो, इस इच्छा की सफलता करो और इस ज्ञान-यज्ञ की पूर्णता करो। हे देवाधिदेव ! इस ज्ञान-यज्ञ द्वारा तुम्हारी ही पूजा करता हूं । इस को स्वीकार करो ॥

ओ३म् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

● ईश्वर ●

एक

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत वि-
श्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावा-
भूमी जनयन् देव एकः॥ ऋ॰ १०।८१।३॥

(विश्वतः चक्षुः) जिसके आंख सर्वत्र हैं, (उत) और (विश्वतः मुखः) जिसके सर्वत्र मुख हैं, (विश्वत बाहु) जिसके बाहु सर्वत्र कार्य कर रहे हैं, (उत) और (विश्वत पात्) सर्वत्र जिसके पांव हैं। वह (बाहुभ्याम्) पुण्यपापरूप बाहुके द्वारा उत्पन्न (पतत्रै) प्रापणीय फलों से (समधमति) जीवोंको गतिदेता है, वही (एक) (देव) दिव्यगुणयुक्त प्रभु (द्यावाभूमी) द्यौलोक और पृथिवी को (जनयत्) उत्पन्न करता है।

एक ही देव इस सब विश्वको उत्पन्न करता और चला रहा है। उसकी संपूर्ण शक्तियां सर्वत्र एक जैसी हैं। सबको कर्मानुसार फल देती हैं।

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्॥ ऋ॰ १।७।९॥

(यः) जो (एकः) एक ही (इन्द्रः) प्रभु (क्षितीनां) पृथ्वीपर रहनेवाले (पंच चर्षणीनां) पांच प्रकारके मनुष्योंका तथा (वसूनां) सब धनोंका (इरज्यति) स्वामी है। वही उपास्य है।

एक ही प्रभु सब जगत् का स्वामी है।

य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग॥ ऋ॰ १।८४।७॥

(दाशुषे मर्ताय) दाता मनुष्यके लिये (य एकः इत्) जो अकेलाही (वसु विदयते) धन देता है वह (अप्रतिष्कुतः) अद्वितीय शक्तिशाली (ईशान) ईश्वर (इन्द्र.) परमैश्वर्यवान् प्रभुही (अंग) निश्चयसे है।

परमात्माकी अद्वितीय शक्ति है और वही भक्तोंको संपूर्ण ऐश्वर्य देता है।

स रायस्खामुप सृजा गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र

वस्वः । पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य
भुवनस्य राजा ॥ ऋ० ६ । ३६ । ४ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (स त्वम्) वह तू (गृणानः) प्रशंसित होता हुआ (पुरुश्चंद्रस्य) अत्यंत आल्हादकारक (वस्व) निवासक (रायः) धनकी (धारां) धाराएं (उपसृज) हमारे ऊपर छोड दे। तू (जनानाम्) संसार का (असम पति) अनुपम पति (बभूथ) है और (विश्वस्य भुवनस्य) सब भुवनों का (एक राजा) एक ही स्वामी है।

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो
विक्ष्वीड्यः। तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते
अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ अ. २।२।१

(यः) जो (दिव्य गंधर्व) दिव्य गंधर्व अर्थात् अद्भुत भुवनों का धारण करनेवाला है, जो (भुवनस्य एकः एव पति) भुवनों का एक ही स्वामी है वही (विक्षु) प्रजाओं में (नमस्य) नमस्कार करने योग्य और (ईड्य) प्रशंसा करने योग्य है। हे (दिव्य देव) अद्भुत ईश्वर ! (तं त्वा) उस तुझको मैं (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (यौमि) प्राप्त होता हूं। (ते नम अस्तु) तुझे नमस्कार हो। (ते) तेरा (सधस्थ) वास (दिवि) तेरे अपने स्वरूप में है।

संपूर्ण जगत् का अधिष्ठाता एक परमात्मा ही है। वही नमस्कार करने और प्रशंसा करने योग्य है। वेद ज्ञानद्वारा उसको प्राप्त करके मोक्षानन्द भोग करना चाहिए।

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य।
मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः
सुशेवाः ॥ अ. २।२।२

(यः) जो (दिवि स्पृष्ट) प्रकाशस्वरूप (सूर्य-त्वक्) सूर्य जिसकी त्वचा है अर्थात् सूर्यके अन्दर विराजमान, (दैव्यस्य हरस) अग्न्यादि देवताओं के कारण होनेवाले दुःखोंको (अवयाता) दूर करनेवाला (यजतः) पूजनीय देव है। वह (भुवनस्य पति) जगत् का पालक और स्वामी (एक एव) एक ही (नमस्य) नमस्कार करने योग्य और (सुशेवा) सेवा करने योग्य है वह हम सबको (मृडात्) सुख देवे।

वह परमेश्वर द्युलोकमें भी व्याप्त, सूर्यमें वर्तमान, संपूर्ण दुःखोंको दूर

करनेवाला, संपूर्ण जगत् का एक स्वामी, पूजनीय, सेवनीय तथा नमन करने योग्य है। वही सबको यथायोग्य सुख देता है।

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्। स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु॥ अ. ७।२१।१॥

(विश्वे) सब लोक (वचसा) शुद्ध वाणीसे (दिवः पतिं) द्युलोकके स्वामी ईश्वरके पास (सं एत) एक होकर जावें। क्योंकि (विभूः) सर्वत्र व्यापक होनेसे वह (एकः) एक ईश्वर (जनानां अतिथिः) सब लोगोंमें सत्कार करने योग्य है। वह (पूर्व्यः) प्राचीन होता हुआ (नूतनं) इस नवीन जगतको (आ-वि-वासत्) वसाता है। (वर्तनिः) संसार (पुरु) पूर्णरीतिसे (तम्+एकम् इत्) उसी एकके ही (अनुवावृत) अनुसार चल रहा है।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव॥ अ. १३।४।(१)१२॥

(इदं सहः) यह सामर्थ्य (तं निगतं) उस परमात्माको प्राप्त है। (सः एषः एकः) वह एक ही है (एकवृत्) अकेला वर्तमान (एकः एव) एक ही है।

सब सामर्थ्य परमात्मामें है और वह एक अद्वितीय है।

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च॥ य एतं देवमेकवृतं वेद॥ अ. १३।४।(२) १४,१५

(कीर्तिः) कीर्ति, (च) और (यशः) यश (अम्भः) पराक्रम, (च) और (नभः) स्थान, (ब्राह्मणवर्चसं) ज्ञानका तेज, (अन्नम्) अन्न (च) तथा (अन्नाद्यं) खानपानके पदार्थ उसको प्राप्त होते हैं (यः) जो (एतं देवं) इस देवको (एकवृतं वेद) एक व्यापक जानता है।

जो परमात्माकी सर्वव्यापकता अनुभव करता है, उसको सब सुख प्राप्त होते हैं।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते॥
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ अ. १३।४।(२)१६-१८

वह परमात्मा (न) न ही (द्वितीयः) द्वितीय, (न तृतीयः) न ही तृतीय, (न चतुर्थ) न ही चतुर्थ, (न पंचम) न ही पंचम, (न षष्ठः) न ही षष्ठ, (न सप्तमः) न ही सप्तम, (न अष्टमः) न ही अष्टम, (न नवम) न ही नवम, (न दशम) न ही दशम (उच्यते) कहा जाता है (य एतं देवं एकवृतं वेद) जो इस देवको एक मानता है, उसको वह प्राप्त होता है। अर्थात् वह अकेला एकही वर्तमान है।

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न

एतं देवमेकवृतं वेद ॥ अ. १३।४।(२) १९ ॥

(सः) वह (सर्वस्मै) सबके लिये (विपश्यति) विशेष रीतिसे देखता है, (यत्च प्राणति यत् च न) जो प्राण लेता है और जो नहीं (य) जो इसको अकेला एक वर्तमान जानता है। उसको यह प्राप्त होता है।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।

य एतं देवमेकवृतं वेद अ. १३।४।(२)२० ॥

(इदं सह) यह सामर्थ्य (तं निगतं) उसको ही प्राप्त है। वह एक अकेला ही है। जो इसको एकही मानता है उसको सामर्थ्य प्राप्त होता है।

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च

ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥

भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ अ. १३।४।(३) २२-२४ ॥

(ब्रह्म) ज्ञान, (च तप) और तप, कीर्ति यश, सामर्थ्य स्थान, ज्ञानका तेज, अन्न, और खाद्य (भूतं च भव्यं च) भूत भविष्य के सुख,श्रद्धा, रुचि स्वर्ग (स्वधा) अपनी धारणशक्ति उसको प्राप्त होती हैं जो इसको इस प्रकार अकेला सर्वव्यापक जानता है।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ अ० १३। ४। (२) २१ ॥

(अस्मिन्) इसमें सब देव (एक-वृत) एकरूप (भवंति) हो जाते हैं। जो इस प्रकार इस अकेले एक देवको जानता है, वह ज्ञानी होता है।

अविर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा।

इन्द्र चोष्कूयसे वसु ॥ ऋ० ८।६।४१

हे (इन्द्र) प्रभो! (हि) निश्चयसे तूही (पूर्वजा ऋषिः) सबका प्राचीन पूर्वज ऋषि अर्थात् सबको देखनेवाला (असि) है और (ओजसा) अपनी शक्तिसे (एक ईशान) सबका एक स्वामी है। तू सब (वसु ओष्कूयसे) धन अपने आधीन रखता है।

परमात्मा सबका पूर्वज है और वही बड़ा शक्तिशाली होनेके कारण सब जगत्‌का एकही स्वामी है। इसलिये सब धनपर उसका पूर्ण अधिकार है।

त्वम॑ग्न इन्द्रो॑ वृष॒भः स॒ताम॑सि॒ त्वं विष्णु॑रुरुगा॒यो

न॑म॒स्यः॑। त्वं ब्र॒ह्मा र॑यि॒विद् ब्र॑ह्मणस्पते॒ त्वं वि॑धर्तः

सचसे॒ पुर॑न्ध्या ॥ ऋ० २।१।३॥

हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर! (त्वम्) तू (सतां इंद्र वृषभः असि) सज्जनोंका प्रभु और उसकी कामनाओंकी वृष्टि करनेवाला है। (त्वं) तू (उरुगाय नमस्यः विष्णु) अत्यन्त स्तुत्य, नमस्कार करने योग्य, व्यापक देव है। (त्वं) तू (रयिविद् ब्रह्मा) धनवान् ब्रह्मा है। हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानपते! (त्वम्) तू (विधर्ता) धाता है और तू (पुरंध्या) बुद्धिके साथ (सचसे) रहता है। अर्थात् ज्ञानी है।

एक ही ईश्वर रुद्र, अग्नि, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, और धाता है। अर्थात् एक ही ईश्वरके ये नाम होते हैं यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट हुई है, और देखिये।—

त्वम॑ग्ने राजा॒ वरु॑णो धृ॒तव्र॑त॒स्त्वं मि॒त्रो भ॑वसि द॒स्म

ईड्यः॑। त्वम॑र्य॒मा सत्प॑ति॒र्यस्य॑ स॒म्भुजं॒ त्वमंशो॒

वि॒दथे॑ देव भाज॒युः ॥ ऋ० २।१।४॥

(देव) हे देव! (त्वम्) तू ही (राजा वरुण) राजा वरुण है जो (धृतव्रत) नियमोंका धारण करनेवाला है, तू (दस्म) दर्शनीय और (ईड्य मित्र) स्तुत्य मित्र (भवसि) है, (त्वम्) तू ही (सत्पति अर्यमा) सज्जनोंका पालक अर्यमा है (यस्य) जिसका (सम्भुजं) दान सर्वत्र है। तू (अंशः) अंश नामक देव है जो (विदथे) यज्ञमें (भाजयु) सेवनीय होता है।

एक ही देव वरुण मित्र, अर्यमा, अंश, आदि नामोंसे प्रशंसित होता है। अर्थात एक ही ईश्वरके ये नाम होते हैं।

त्वम॑ग्ने रु॒द्रो असु॑रो म॒हो दि॒वस्त्वं शर्धो॒ मारु॑तं पृ॒क्ष

ईशिषे। त्वं वातैररुणैर्यासि शंगयस्त्वं पूषा विधतः
पासि नु त्मना ॥ ऋ० २।१।६॥

(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप! (त्वम्) तू (दिवः) द्युलोकका (महः असुरः रुद्रः) बड़ा प्राणदाता रुद्र है, (त्वम्) तू (मारुतं शर्धः) मरुतोंका बल है, और (पृक्षः ईशिषे) अन्नका स्वामी भी तू ही है। (त्वम्) तू (शंगयः) सुखमय (अरुणैः वातैः) प्रेरक शक्तियोंके साथ (यासि) प्राप्त होता है, (त्वं पूषा) तू पूषा (त्मना) अपनी शक्तिसे (नु) ही (विधतः पासि) उपासकोंका पालन करता है।

एक ही देव रुद्र, असुर, मारुत, पूषा, आदि नामोंसे वर्णित होता है। अर्थात् एक ही ईश्वर के ये नाम होते हैं।

त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा
असि। त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे
यस्तेऽविधत् ॥ ऋ. २।१।७॥

(अग्ने) हे ईश्वर! (त्वम्) तू ही (अरंकृते) पर्याप्त पुरुषार्थ करनेवाले के लिये (द्रविणोदा) धन देने वाला है। (त्वं रत्नधा सविता देवः असि) तू ही रत्नों का धारणकर्ता सविता देव है। हे (नृपते) मनुष्योंके पालक! (त्वं भगः) तू ही भग होकर (वस्वः ईशिषे) धनका स्वामी होता है। (यः दमे) जो घरमें (ते विधत्) तेरी उपासना करता है, उसका तू (पायुः) रक्षक होता है।

एक ही देव द्रविणोदा, अग्नि, नृपति, भग, सविता देव, पायु, आदि नामोंसे वर्णित होता है। यही बात ऋग्वेदमें अन्यत्र वर्णन हुई है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो
गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं
मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ. ।१।१६४।४६॥

(एकम्) एक ही (सत्) सद्वस्तुको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि नाम देते हैं। अर्थात् इन नामोंसे उस एकही वस्तुका वर्णन होता है। पाठक इस मंत्रकी तुलना पूर्वोक्त मन्त्रोंसे करें और अनेक नामों से एक परमात्माका बोध वेदमें होता है यह बात जान लें।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजुः ३२।१

(तत् एव) वही पूर्ण पुरुष (अग्नि) अग्निस्वरूप (तत् आदित्यः) वही अखण्डनीय, (तत् वायुः) वही गति देने वाला (तत् उ चन्द्रमाः) निश्चय करके वही सुखदेने वाला (तत् एव शुक्रम्) वही पवित्र (तद् ब्रह्म) वही सब से बड़ा (ताः आप) वही सर्व व्यापक, और (स प्रजापतिः) वही सब जगत्-का पालने वाला है।

अर्थात् अग्नि आदि यह सब परमात्माके नाम हैं।

य एक इत्तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः।

पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥ ऋ. ६।४५।१६॥

(य एक इत् वृषक्रतुः) जो अकेला ही बलवान् कर्म करनेवाला है, और (कृष्टीनां विचर्षणि पतिः) मनुष्योंका विशेष द्रष्टा, पति, (जज्ञे) है (तं उ) उसीकी (ष्टुहि) स्तुति कर।

सब मनुष्योंका एक स्वामी परमात्मा है, जो सर्वद्रष्टा भी है उसी की उपासना सबको करनी चाहिये।

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च

आभिः। यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा

पुरुमायः सहस्वान्॥ ऋ० ६।२२।१

(य) जो (वृषभः) बलवान् (वृष्ण्यावान्) शक्तिशाली (सत्य) तीनों कालोंमें एक जैसा सत्य (सत्वा) सत्ववान् (पुरुमाय) महाज्ञानी और (सहस्वान्) विजयी शक्तिसे युक्त (पत्यते) सबको आश्रय देता है, वह (एक) अकेला ही (चर्षणीनां हव्य) मनुष्योंका पूजनीय है (तं) उसकी (आभिः गीर्भिः) इन स्तोत्रों से (अभ्यर्च) पूजा कर।

परमेश्वर पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त है इसलिये उक्त गुणोंके मननके साथ उसकी उपासना मनुष्योंको करनी चाहिये।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो

विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही

देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ऋ. ५।८१।१

(बृहत विपश्चितः विप्रस्य) बड़े ज्ञानी प्रभुके साथ (विप्रा) ज्ञानी लोग (मन) अपने मनको (युंजते) जोडते हैं और (धिय युंजते) बुद्धियोंको भी

संयुक्त करते हैं। उस (सवितुः देवस्य) सविता देवताकी (परिष्टुतिः) प्रशंसा बहुत ही (मही) बड़ी है। वह (वयुनावित् एक) कर्मका ज्ञान रखनेवाला अकेला ही (होत्रा विदधे) सब सत्क्रियाओंको धारण करता है।

परमात्मा सर्वज्ञ है इसलिये उसके साथ अपने मन और बुद्धिका योग ज्ञानी करते हैं, क्यों कि उसके बलका महत्व अतर्क्य है। वह सब ज्ञान और कर्मको यथावत् जाननेवाला सब क्रियाओंको चलाता है, इसलिये जो उसके साथ अपने मनका योग करते हैं वे उत्तम कर्मयोगी होते हैं।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद

भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामध एक एव तं सं

प्रश्नं भुवना यंति सर्वा ॥ अ. २।१।३॥

(स) वही ईश्वर (नः पिता) हमारा पालक और (जनिता) उत्पादक तथा (बन्धु) बंधु है, वही (विश्वा भुवनानि) संपूर्ण भुवनोंको तथा (धामानि) स्थानों को (वेद) जानता है। तथा (य) जो ईश्वर (एक एव) अकेलाही (देवानां नाम-ध) देवोंके नाम धारण करनेवाला है। (तं सं-प्रश्नं) उसी पृच्छा करने योग्य ईश्वरके प्रति (अन्या भुवना) सब अन्य भुवन (संयन्ति) मिलकर जाते हैं।

वही परब्रह्म परमात्मा हम सबका पिता, जनक और भाई है। वही सब पदार्थों सब स्थानों तथा सब ज्ञातव्यको यथावत् जानता है उसीकी शक्ति सब देवोंमें रहती है, इसलिये संपूर्ण अन्य देवोंके सब नाम उसके लिये प्रयुक्त किये जाते हैं—वे अन्य नाम उसीके समझे जाते हैं। संपूर्ण पदार्थमात्र उसीमें जाकर एकरूप हो जाते हैं।

व्यापक

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।

अप नः शोशुचदघम्। ऋ. १।९७।६॥

हे प्रकाशमय देव! (त्वं हि) निश्चय, आप सर्वत्र मुखवाले हैं अर्थात् आपका मुख चारों दिशाओं ऊपर, नीचे सर्वत्र है आप सब ओरसे सबको देख रहे हैं अत (विश्वतो मुख) हे विश्वतोमुख देव! आप (विश्वत) सर्वत्र (परिभू असि) व्यापक हैं अत समस्त उपद्रवोंसे हमारी रक्षा भी कीजिये। हम आपकी शरणमें सब प्रकारसे उपस्थित होते हैं। (न अघं अपशोशुचत्) हमारा पाप विनष्ट हो।

प्र यत्ते॑ऽग्नेः सह॒स्वतो॑ वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑ ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् । ऋ. १।९७।५॥

(सहस्वतः) सर्वविघ्नविनाशक (अग्ने) परमात्मा के (भानव) प्रकाश (विश्वत) सर्वत्र (प्र-यन्ति) गमन करते हैं अथवा सर्वत्र विद्यमान ही हैं (यत्) जिस हेतु ऐसा है अत उन प्रकाशोंसे (न अघं अपशोशुचत्) हमारा पाप विनष्ट हो ।

इसका भाव यह है कि ईश्वरका प्रकाश सर्वत्र विद्यमान है अर्थात् वह नित्य सर्वत्र वायुवत् व्याप्त है । वह हमारे सब कर्मोंको देखता है । हम उससे छिपकर कोई कर्म नहीं कर सकते अत यदि हम पाप करेंगे तो वह अवश्यमेव देखलेगा और उसका दण्ड देहीगा अत हम पाप ही न करें यही उत्तम है ।

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम् ।
समू॑ळ्हमस्य पांसु॒रे ॥ १७ ॥ ऋ. १।२२।७॥

(विष्णु) सर्वव्यापक परमात्माने (इदम्) यह (वि-चक्रमे) विशेष क्रमपूर्वक रखा है । (त्रेधा पदं निदधे) तीन प्रकारसे उसने जगत् को रचा । (पांसुरे) धूलिमय स्थानमें अर्थात् प्राकृतिक परमाणुओंमें (अस्य) इस व्यापक परमात्माका सब कार्य (सं+ऊढं) नियमोंसे सुव्यवस्थित हुआ है ।

सर्वव्यापक परमेश्वरका पराक्रम सर्वत्र जगत्में हो रहा है । स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप त्रिविध स्थानमें उसके पद हैं अर्थात् उनके कार्य चल रहे हैं । और प्रकृति परमाणुओंमें जो उसका कार्य हो रहा है वह सब उत्तम सुनियमोंसे चल रहा है । किसी स्थानपर भी उसका नियमहीन नहीं है ।

त्रीणि॑ प॒दा वि च॑क्रमे॒ विष्णु॑र्गो॒पा अदा॑भ्यः ।
अतो॒ धर्मा॑णि धा॒रय॑न् ॥ १८ ॥ ऋ. १।२२।८॥

(गो-पा) इन्द्रियोंके अथवा पृथिवी आदि सृष्टिके पालक और (अदाभ्य) न दबनेवाले (विष्णु) सर्वव्यापक परमात्माने (त्रीणि पदा) तीन प्राप्त होने योग्य पदार्थोंको (विचक्रमे) विशेष क्रमसे रखा है । (अतः) इस लिये वह सब (धर्माणि) धर्मों अर्थात् धारक और पोषक गुणोंको (धारयन्) धारण और पोषण करता है ।

परमेश्वरके बिना धारण पोषण नहीं हो सकता ।

विष्णोः॒ कर्मा॑णि पश्यत॒ यतो॑ व्र॒तानि॑ पस्प॒शे ।
इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ १९ ॥ ऋ. १।२२।१९॥

(विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वरके ये (कर्माणि) सब कर्म (पश्यत) देखिए। (यतः) जिससे (व्रतानि) व्रतों को अर्थात् धर्मनियमोंको (पस्पशे) जाना जाता है। वह (इन्द्रस्य) जीवात्माका (युज्यः) योग्य (सखा) मित्र है॥

इस जगत्में सर्वव्यापक परमात्माके अद्भुत कर्म स्थान स्थानमें हो रहे हैं। उनको देख कर ईश्वर के सामर्थ्य की कल्पना करनी चाहिए। वह ईश्वर जीवात्मा का सखा मित्र होनेसे ही जीवात्माके हितके लिये सब कार्य इस जगत् में कर रहा है। यही उसकी अपार दया है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ २०॥ ऋ. १।२२॥

(विष्णो) सर्वव्यापक परमात्माका (तत्) वह (परमं पदं) परम पद है जिसको (सूरय) ज्ञानी लोग (सदा) सदा (पश्यति) देखते हैं। जिस प्रकार (दिवि इव) द्युलोकमें (चक्षु) जगत्का सूर्यरूपी आंख (आ ततम्) खोलकर रखा है।

उस प्रकार ज्ञानी लोगोंको परमात्माका साक्षात्कार होता है, जैसे साधारण लोगोंको सूर्य दिखाई देता है। विचारकी दृष्टिसे जो लोग इस जगत् को देखते है, उनको परमात्माका साक्षात्कार सर्वत्र होता है।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम्॥ २१॥ ऋ १।२२॥

(विष्णो) विष्णुका (यत) जो (परमं पदम्) परम पद है (तत्) उसे (विपन्यव) कवि, (विप्रास) ज्ञानी, (जागृवांस) जागृत रहनेवाले अर्थात् जो दक्ष होते है, (समिंधते) प्रकाशित करते हैं।

(१) कवि वे हैं जो शब्दका मर्म जाननेवाले होते हैं। (२) ज्ञानी वे हैं, जो आत्मज्ञानसे युक्त होते हैं। (३) और जागृत वे हैं कि जो सुस्त नहीं, परन्तु दक्षताके साथ सदा पुरुषार्थमें तत्पर रहते हैं। ये ही परमात्माके परम पदको प्राप्त करते है। अन्य सिद्धियां भी इन्हींको मिलती हैं। अर्थात् ज्ञान, विज्ञान तथा जागृत रहना इन तीन गुणोंसे सिद्धि प्राप्त होती है।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे
रजांसि। यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाण-
स्त्रेधोरुगायः॥ ऋ. १।१५४।१॥

(विष्णोः नु वीर्याणि) व्यापक देवके ही अद्भुत पराक्रम (कं प्रवोचं) शीघ्र कहता हूं। (यः) जो (पार्थिवानि) पृथिवीसंबधी (रजांसि विममे)

रंजनके साधन उत्पन्न करता रहता है, अथवा जो पार्थिव लोकोंको उत्पन्न करता है। तथा (यः) (उत्तरं सधस्थं) ऊपरके लोक को भी (अस्कभायत्) आधार देता है। इसलिये (उरुगाय) उस बहुत प्रशंसित ने (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन प्रकारसे अथवा तीन स्थानों में विक्रम किया है।

सर्वव्यापक परमेश्वरके पराक्रम और कर्म बडेही अद्भुत हैं, इस पृथ्वीके ऊपर उसने उत्तम पदार्थ निर्माण किये हैं, द्युलोक में संपूर्ण तेजस्वी गोलोंको आधार दिया है और अंतरिक्षमें भी उसीका आधार है। इस प्रकार तीनों लोकोंको उसका आधार है।

यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे
बाधिताय। तस्य ते शर्मन्नुपसद्यमाने राया मदेम
तन्वा३ तना च॥ ऋ. ६।४९।१३॥

(बाधिताय मनवे) बद्ध मनुष्यके लिये अर्थात् उसको पुरुषार्थका अवसर देनेके लिये (य) जिन (विष्णु) व्यापक ईश्वरने (पार्थिवानि) पार्थिव (त्रिः रजांसि) तीन लोक (विममे) उत्पन्न किये। (तस्य ते) तेरा (शर्मन् उपसद्यमाने) आश्रय प्राप्त करनेपर (राया) धनसे, (तन्वा) शरीरसे, तथा (तना) पुत्रसे, (मदेम) हम आनंदित हो जायंगे।

परमात्माने ये तीन लोक इसलिये निर्माण किये हैं, कि इनमें मनुष्य आकर पुरुषार्थ करके उन्नति प्राप्त करें। उस परमेश्वरकी दयासे सुख प्राप्त होनेपर धन, पुत्र, शरीर आदिका अद्भुत आनंद प्राप्त होता है।

प्राग्नये तवसे भरध्वं गिरं दिवो अरतये पृथिव्याः।
यो विश्वेषाममृतानामुपस्थे वैश्वानरो वावृधे जागृ-
वद्भिः। ऋ. ७।५।१॥

(दिवः पृथिव्याः) द्युलोक, अंतरिक्ष लोक और पृथ्वी पर (अरतये) फैलने वाले (तवसे अग्नये) अति प्रभावी तेजस्वी ईश्वरके लिये (गिरं भरध्वं) अपनी वाणी अर्पण करें, (यः) जो (वैश्वानर) सबका नेता (विश्वेषां अमृतानां) सब अमर जीवों के (उपस्थे) पास रहता हुआ (जागृवद्भिः वावृधे) जागृत पुरुषों के साथही बढता है अर्थात् योगिजनोंद्वारा जिसके यशका विस्तार होता है।

परमेश्वर त्रिलोकीमें व्याप्त होकर सबका नेतृत्व कर रहा है। सब सूर्यादि देवोंमें रहकर उनकी प्रेरणा करता है और जीव तथा प्रकृति में व्यापक होता हुआ भी केवल योगियोंकोही साक्षात् होता है।

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध

आविवेश। य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै

रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥ अ. ७।८७।१॥

(यः रुद्रः) जो रुद्र (अग्नौ) अग्निमें (यः) (अप्सु अन्तः) जलमें और (यः) (ओषधीः) औषधियों (वीरुधः) वनस्पतियोंमें (आविवेश) व्यापक है (यः) जो (इमा विश्वा भुवनानि) इन सब भुवनों को (चाक्लृपे) रचता है (तस्मै अग्नये रुद्राय) उस अग्निरूप रुद्रके लिये मेरा (नमः अस्तु) नमन है।

रुद्र नाम परमात्माका है उसकी सर्वव्यापकता इस मंत्रमें बताई है। जल आदि सर्व पदार्थों में वह रहता है। और वहांका सब कार्य करता है।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ

गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्

जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ य. ३२।४॥

(ह) निश्चयसे (एष देवः) यह देव अर्थात् दिव्य परमात्मा (सर्वाः प्रदिशः) सब दिशा उपदिशाओंमें (अनु) साथ साथ रहता है। (सः ह) वह निश्चयसे (पूर्वः) प्राचीन और (जातः) प्रसिद्ध है। (सः उ) वह निश्चयसे (गर्भे अन्तः) सबके बीचमें है। (स एव जातः) वह निकट, पास है, और निश्चयसे (सः) वह ही सदा (जनिष्यमाणः) निकट रहेगा। हे (जनाः) लोगो! वह परमात्मा (सर्वतः मुखः) सर्वत्र मुख आदि अवयवों की शक्तियोंको धारण करनेवाला (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थमें (तिष्ठति) रहता है।

वह दिव्य परमात्मा सब दिशा उपदिशाओंमें पूर्णतया व्यापक है। वह सबसे प्राचीन, सबसे प्रसिद्ध और सर्वत्र विद्यमान है। वह सबके बीच में व्यापक है। वह जैसा इस समय सर्वत्र उपस्थित है, वैसा ही आगे भी रहेगा। वह मुख आदि अवयवोंकी शक्तियोंको, प्रत्येक पदार्थमें व्यापक रहता हुआ, धारण करता है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येक-

नीडम्॥ तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ स ओतः

प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ य. ३२।८॥

(वेनः) ज्ञानी मनुष्य (तत्) उस (गुहा निहितं) गुप्तस्थानमें अथवा

बुद्धिमें रहने वाले, तथा (सत्) त्रिकालाबाधित-नित्य ब्रह्म को (पश्यत्) देखता है। (यत्र) जिस ब्रह्ममें (विश्वं) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रयको (भवति) प्राप्त होता है, (तस्मिन्) उस ब्रह्ममें (इदं सर्वं) यह सब जगत् (सं-एति च) एकत्रित होता है, (च वि एति) और पृथक् भी होता है। (सः) वह परमात्मा (प्रजासु) सब प्रजाओंमें (वि-भू) व्यापक है, और (ओत प्रोत च) ओया और प्रोया हुआ है।

ज्ञानी मनुष्य उस परमात्माको, प्रत्येक पदार्थमें छिपा हुआ, नित्य, सबका एक आश्रय, उत्पत्तिके समय सबका संयोग करनेवाला और प्रलयमें सबका वियोग करनेवाला सब जगत्में व्यापक, और कपड़ेमें ताने और बानेके समान सर्वत्र समाया हुआ जानता और अनुभव करता है।

यत् पर॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः ससृ॒जे वि॒श्व-
रूपम्। किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि-
श॒त् किय॒त् तद् ब॑भूव ॥ अ. १०।७।८॥

(यत् परमम्) जो परम (अवमं) कनिष्ठ (च) और (यत् मध्यमम्) मध्यम (विश्वरूपं) विश्व के रूप को (प्रजापति) प्रजापति (ससृजे) उत्पन्न करता है। (तत्र) उस त्रिविध जगत् में (स्कम्भः) सर्वाधार आत्मा (कियता प्रविवेश) कितने से प्रविष्ट हुआ है और (यत् न प्राविशत्) जहां प्रविष्ट नहीं है (तत् कियद् बभूव) वह कितना है। अर्थात् कोई वस्तु ऐसी नहीं, जिसमें वह प्रभु नहीं और जो प्रभु के आश्रय के बिना हो।

सृष्टि बननेके पश्चात् सृष्टिके कितने अंश में आत्माका "अनु प्रवेश" हुआ है और क्या ऐसा कोई अंश अवशिष्ट है कि जहां वह प्रविष्ट नहीं है?

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"। इस उपनिषद्वचनका आधारभूत यह मंत्र है। इस मंत्रके प्रश्नका उत्तर 'उस आत्मासे रिक्त कोई भी सृष्टि का अंश नहीं है, यही है।

किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश भू॒तं किय॑द् भवि॒ष्यद॒-
न्वाशये॑स्य। एकं॒ यद॒ङ्गमकृ॑णोत् सह॒स्रधा किय॑ता
स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॑ ॥ अ. १०।७।९॥

(कियता भूतं) कहांतक भूतकालीन सृष्टिमें (स्कंभः प्रविवेश) सर्वाधार आत्माने प्रवेश किया था, (कियत् भविष्यत्) कितना भविष्य कालकी सृष्टि (अस्य अनु आशये) इसके साथ रहेगी। (यत् एक अंगं) जिस एक प्रकृति

को वह (सहस्रधा अकृणोत्) सहस्र प्रकारों से विभक्त करता है (तत्र) उसमें वह (स्कम्भ- आधारस्तम्भ (कियता प्रविवेश) कहांतक प्रविष्ट होता है?

भूतकालमें जिस प्रकार आत्माका अनुप्रवेश होता था वैसाही भविष्य कालमें होगा या नहीं? तथा एकही पदार्थ को सहस्रधा विभक्त करने पर उसके प्रत्येक अंशमें यह आत्मा प्रविष्ट होता है वा नहीं? यह प्रश्नका भाव है। वह सर्वत्र एक जैसा व्यापक है! यह इसका उत्तर है।

सविता पश्चात्तात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात्। सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः॥ ऋ. १०।३६।१४॥

(सविता पश्चात्तात्) सर्वोत्पादक परमात्मा पीछे की ओर और वही (सविता पुरस्तात्) परमेश्वर आगे, वही (सविता उत्तरात्तात्) प्रभु ऊपर और वही (सविता अधरात्तात्) सर्वप्रेरक नीचे भी है। (सविता) वह सर्वव्यापक सब का उत्पन्न करने वाला (नः) हमें (सर्वतातिम्) सब इष्ट पदार्थ (सुवतु) देवे और वही (सविता) कर्म फलप्रदाता प्रभु (नः) हम को (दीर्घम् आयुः) दीर्घ जीवन (रासताम्) देवे॥

कोई स्थान, कोई दिशा ऐसी नहीं, जहां परमेश्वर न हो।

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते॥ अ. १०।८।२९

(पूर्णात्) पूर्णसे (पूर्णम्) पूर्णका (उदचति) उदय होता है, (पूर्णम्) पूर्णको (पूर्णेन) पूर्ण ही (सिच्यते) जीवन देता है। (उतउ) अब (अद्य तत्) आज उसको (विद्याम) हम जानें, (यत तत्) जिससे वह (परिषिच्यते) चारों ओर सींचा जाता है।

पूर्ण परमात्मासे पूर्णताका उदय होता है, क्योंकि पूर्णताका जीवन वही दे सकता है कि जो स्वयं पूर्ण होवे। इस लिये आजही इस आत्माको पूर्णता देनेवाले पूर्णताके मूल स्रोत को जाननेका यत्न करें, क्योंकि जिसको उसका ज्ञान होगा, वही पूर्णताके मार्गसे चल सकेगा।

सर्वाधार

यया इदग्ने अप्रयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता माद-

यन्ते ॥ वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ
उपमिद्ययन्थ ॥ ऋ. १।५९।१॥

(अग्ने) हे अग्ने ! (ते अन्ये अग्नय) वे दूसरे अग्नि—जीव (त्वे) तेरे अंदर (वया इव्) शाखाओंके समान ही हैं अर्थात् आश्रित हैं। वे सब (अमृता) मुक्त होकर, तुझसे (मादयन्ते) आनन्द पाते हैं। (वैश्वानर) सर्वनियन्ता ईश्वर ! तू (क्षितीनां नाभिः) सब लोकोंका केन्द्र है। (स्थूणा इव) स्तंभके समान (जनान्) सब जनताका तू (उपमिद्) समीपस्थ होता हुआ (ययन्थ) नियमन करता है।

परमात्मा सर्वाधार है और सर्वव्यापक होनेसे सबका नियन्ता है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ अ. १०।७।२७॥

(यस्य अंगे) जिसमें अर्थात् जिसके सहारेसे (त्रयस्त्रिंशत् देवा) तैंतीस देवता [आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र तथा प्रजापति] (गात्रा विभजिरे) अपने अपने शरीरोंका सेवन करते हैं, अर्थात् अपनी सत्ता लाभ करते हैं। (तान् त्रयस्त्रिंशत् देवान्) उन तैंतीस देवोंको (एके ब्रह्मविद विदु) केवल ब्रह्म-ज्ञानी ही जानते हैं।

इस मन्त्रमें सारी सृष्टिका आधार ब्रह्म बताया गया है।

त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा
जुगुपुरप्स्वन्तः। अस्मिँश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं
तेनायं कृणवद् वीर्याणि ॥ अ. १९।२७।१०॥

(प्रियायमाणा) प्रेममय आचरण करने वाले लोग (अप्सु अन्त) अपने कर्मोंमें (त्रयस्त्रिंशद् देवता) तैंतीस देवों (च) और (त्रीणि वीर्याणि) तीन प्रकारकी शक्तियोंको (जुगुपु.) सुरक्षित रखते हैं। (अस्मिन् चन्द्रे अधि) उस आनन्दमय परमेश्वर में (यत्) जो (हिरण्यम्) तेज है (तेन अयं वीर्याणि कृणवत्) उसके द्वारा यह मनुष्य पुरुषार्थ करता है।

ईश्वरभक्ति से मनुष्य संसारकी समस्त शक्तियोंका स्वामीसा होजाता है। और वह प्रतिदिन यह अनुभव करने लगता है, कि मेरा आधार वही परमात्मा है।

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भ-

अरथाम्। अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न
विश्वो अमृतः स्वाधीः ॥ ऋ. १। ७०।२॥

(यः) जो (अपां गर्भः) जलोंका आधार, (वनानां गर्भः) वनोंका सहारा, (स्थातां चरथां च गर्भ) स्थावर और जंगमों का आश्रय है, (अद्रौ दुरोणे अन्त) पर्वतकी गुहाके अन्दर (अमृतः स्वाधीः) अमर और अपनी शक्तिसे विराजमान (विशां विश्व न) प्रजाओंके निवासक राजाके समान रहता है। (असै चित्) इसीके लिये पूजा अर्पण करना योग्य है।

जल, स्थल, स्थावर जंगम, वन पर्वत आदिकों के अन्दर व्याप्त अमर परमात्मा अपनी शक्तिसे रहता है। जिस प्रकार प्रजाओंका निवासक राजा होता है उसी प्रकार सबका निवासक वह है इसलिये सबको इसीकी पूजा करना योग्य है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक
आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥ ऋ. १०।१२१।१॥

(हिरण्य-गर्भः) जिसके गर्भ में अनेक तेजस्वी पदार्थ हैं वह परमात्मा (अग्रे) सृष्टिके पूर्व (समवर्तत) था। वह (भूतस्य) सब बने हुए संसारका (एक पति) एकही स्वामी (जात आसीत्) प्रसिद्ध है। (सः पृथिवीं दाधार) उसने पृथिवीका धारण किया है। (उत इमां द्या) और इस द्युलोकका भी धारण किया है। (कस्मै) उस आनन्द स्वरूप (देवाय) एक देवकी ही उपासना (हविषा) यज्ञके द्वारा (विधेम) हम करें।

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ अ.१०।८।६॥

(सत) तीनों कालोंमें विद्यमान (जरत् नाम) स्तुतियोग्य (महत् पदं) पूजनीय, प्राप्त करने योग्य परमेश्वर (गुहा) हृदयमें (आविः निहितं) प्रकट होता है (इदं सर्वं) यह सब जो (एजत्) गति कर रहा है, (प्राणत्) प्राणवाला वस्तुमात्र है और (प्रतिष्ठितं) स्थावर है, वह सब (तत्र) उसी प्रभुमें (आ अर्पितम्) पूर्णरूपसे आश्रित है।

हृदय की गुहा में ही आत्मा और परमात्माका परमस्थान है और सब वस्तु उसीके आधारसे रहती है।

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्। तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव। अ. १०।८।११

(यत् एजति) जो चलता है, (पतति) उड़ता है (यत् च तिष्ठति) और जो ठहरता है, (च यत् प्राणत् अप्राणत्) और जो प्राणवाला, प्राणरहित, और (निमिषत्) सत्ताकी आरम्भिक अवस्थामें है इन सबमें जो (भुवत्) वर्तमान है, (तत्) वही (पृथिवीं विश्वरूपं दाधार) पृथिवी और द्युलोक को आधार देता है, प्रलयावस्थामें (तत् संभूय) वह ब्रह्म सबके साथ मिल कर (एकं एव भवति) एक ही होता है, अर्थात् जीव और प्रकृति अन्याकरणीय अवस्थामें होजाते हैं-केवल सत्पदवाच्य होते हैं।

चलने फिरनेवाले संपूर्ण जगत्को एकही सत्य ब्रह्मका आधार है और वह आधारभूत ब्रह्म एकही है।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।

तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन॥ अ. १०।८।१६॥

(यत) जहांसे सूर्यका उदय होता है और (यत्र) जहां वह (अस्तं गच्छति) अस्त होता है, (तत् एव) वही (ज्येष्ठं) श्रेष्ठ ब्रह्म है ऐसा (अहं मन्ये) मैं मानता हूं। (किंचन उ) कोई भी (तत् न अत्येति) उसका उल्लंघन नहीं करता।

जिसकी शक्तिसे सूर्यादि गोलोंका उदय और अस्त होता है, वही सबसे श्रेष्ठ शक्तिशाली ब्रह्म है, यह बात मनमें धारण करनी चाहिये॥

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।

सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद्ब्राह्मणं महत्॥ अ.१०।८।३७

(यस्मिन्) जिसमें (इमा प्रजा ओताः) यह प्रजाएं ओतप्रोत हैं, उस (विततं सूत्रं) फैले हुए सूत्रको (य विद्यात्) जो जान ले, और (सूत्रस्य सूत्रं यः विद्यात्) सूत्रके सूत्रको जो जान ले, (स) वह ज्ञानी (महत् ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानको (विद्यात्) जान सकता है।

जिस सूत्रात्मामें ये सब प्रजा अर्थात् सृष्टि ओतप्रोत है, उस सूत्रात्मा को जानना चाहिये और सर्वाधार परब्रह्म परमात्माको भी जानना चाहिये। यही अंतिम ज्ञातव्य है।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥ अ.१०।८।३८

(यस्मिन इमा प्रजा ओताः विततं सूत्रम्) जिसमें ये सब प्रजाएं ओतप्रोत हैं उस फैले हुए सूत्रको (अहं वेद) मैं जानता हूं और (सूत्रस्य सूत्रम् अहं वेद) सूत्रके सूत्रको भी मैं जानता हूं (अथो यत् महत् ब्राह्मणम्) और जो बड़ा ब्रह्मज्ञान है वह भी मैं जानता हूं।

यस्मिन्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्सर्वा अधारयत्।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अ. १०।७।७॥

(यस्मिन्) जिसमें रह कर (प्रजापतिः) प्रजापति (सर्वान् लोकान्) सब लोकोंको (स्तब्ध्वा) स्तंभन करके (अधारयत्) धारण किया करता है (तं स्कंभं ब्रूहि) वह आधारस्तम्भ है ऐसे तू कह (सः कतमः स्वित्) वह निश्चय करके आनन्दस्वरूप परमात्मा है।

जिसके आधारसे प्रजापति संपूर्ण लोकलोकांतरों का धारण कर रहा है वह सबका (कतम) आनन्दपूर्ण मूल आधार है।

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।

असच्च यत्र सच्चान्त स्कंभं तं ब्रूहि कतमः

स्विदेव सः॥ अ. १०।७।१०॥

(जना) ज्ञानी लोग (यत्र) जिसमें (लोकान् च कोशान् च) सब लोकों और सब कोशोंको तथा (आपः) मूल प्रकृति को और (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते हैं तथा (अ-सत् च सत् च) जगत् और जीव आत्मा भी अथवा अव्यक्त और व्यक्त भी (यत्र अन्तः) जिसके भीतर हैं (तं स्कंभं ब्रूहि) वही सर्वाधार है ऐसा तू कह, (सः) वह (कतम स्वित् एव) अत्यंत आनंदरूप ही है।

जिस आधारसे ही सब लोक, सब कोश, सृष्टि, जगत् आदि सब तथा जीवात्मा भी रहते है वही सबका आधार है।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।

यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः

स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अ. १०।७।१२

(यस्मिन् अधि) जिसमें (भूमि·) भूमि, (अन्तरिक्षम्) अंतरिक्ष और (द्यौ) द्युलोक (अध्याहिता) रहते हैं (यत्र) जिसमें (अग्नि·) अग्नि (चन्द्रमाः) चंद्र, (सूर्य) सूर्य, (वायुः) वायु ये देव (अर्पिता) रहते हैं (तं स्कंभं ब्रूहि स कतम स्विद् एव) वही सबका आधारस्तंभ है, और वही आनंदमय है, ऐसा तू कह।

अध्यात्मपक्षमें स्थूल शरीर, अंतःकरण, मस्तिष्क, वाणी, मन, नेत्र, प्राण ये जिसके आधारसे रहते हैं वही सबका आधार है।

भूमि, अंतरिक्ष, द्युलोक, अग्नि, चन्द्र, सूर्य और वायुके प्रतिनिधि अध्यात्ममें स्थूल शरीर, अंतःकरण, मस्तिष्क वाणी मन, नेत्र, प्राण ये ही क्रमशः हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अ. १०।७।१३

(यस्य अंगे) जिसके शरीरमें (सर्वे त्रय स्त्रिंशत्) सब तैंतीस देव (समाहिता) मिलकर रहते हैं वही सबका (स्कम्भं) आधारस्तंभ है ऐसा तू कह, वही आनंदमय है।

अग्नि आदि तैंतीस देव परमात्माके विश्वपरिमाणरूप=प्रकृतिरूप शरीर में रहते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा के छोटे शरीरमें अग्न्यादि देवताओं के अंश रूप प्रतिनिधि वाक् आदि इंद्रिय स्थानों में रहते हैं। यह समानता देखकर मंत्र का अर्थ जानना चाहिये।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥

अ. १०।७।२९

(स्कम्भे) आधारस्तंभ परमात्मामें (लोका·) सर्व लोक, (स्कंभे तप) परमात्मामें सब तप और (स्कंभे) परमात्मामें ही (ऋतं अधि आहितं) रहता है। हे (स्कम्भ) सर्वाधार ईश्वर! मैं (त्वा प्रत्यक्षं वेद) तुझे प्रत्यक्ष जानता हूं। और अनुभव करता हूं कि (इन्द्रे) तुझ प्रभुके अंदर ही (सर्वम्) सब कुछ (समाहितं) रहता है।

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम्। इन्द्रं
त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ अ. १०।७।३०

(इन्द्रे) इन्द्रमें (लोका) सब लोक, (इन्द्रे तपः) इन्द्रमें तप और

(इन्द्रे ऋतम् अधि आहितम्) इन्द्रमें ही ऋत रहता है। (त्वा इन्द्रं प्रत्यक्षं वेद) तुझ इन्द्र को मैं प्रत्यक्ष जानता हूं और अनुभव करता हूं कि (स्कम्भे) आधारस्तम्भ आत्मामें ही (सर्वं प्रतिष्ठितम्) सब समाया है।

ये दो मंत्र देखनेसे स्पष्ट पता लग सकता है कि "स्कंभ और इन्द्र" ये दो नाम एक ही परमात्माके हैं।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो
दाधारोर्वऽन्तरिक्षम्। स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः
स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥ अ.१०।७।३५

(स्कम्भः) सबके आधारस्तंभ ईश्वरने (उभे इमे द्यावापृथिवी) इन दोनों द्युलोक, और पृथिवीको (दाधार) धारण किया है (उरु अंतरिक्षं) इस बडे अंतरिक्ष को (स्कम्भ दाधार) सर्वाधार धारण करता है। (उर्वीः षट् प्रदिश) विस्तृत छः दिशाएं आदि सबको (स्कम्भ दाधार) स्कंभने धारण किया है। और (इदं विश्वं भुवनं) इस सब भुवनके अंदर वह (आविवेश) व्यापक है।

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य
पृष्ठे। तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य
स्कंधः परित इव शाखाः ॥ अ० १०।७।३८

(महत् यक्षम्) अत्यन्त पूजनीय देव (भुवनस्य मध्ये) त्रिभुवनके मध्यमें और (सलिलस्य पृष्ठे) अंतरिक्षके पृष्ठपर (तपसि) तपनमें अर्थात् प्रकाशमें (क्रान्तं) व्यापक है। (य उ के च देवा) सब कोई देव (तस्मिन्) उसीमें (श्रयन्ते) रहते है। (इव वृक्षस्य स्कन्ध परित शाखा) जिस प्रकार वृक्षके स्कन्धमें सब ओर से शाखाएं।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
अ. १०।८।१॥

(य.) जो (भूतं भव्यं च) भूत और भविष्यकालीन (सर्वं) सबका (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है और (यस्य) जिसका (स्व) आत्मीयताका आनंद ही (केवलं) कैवल्य है। (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम.) उस ज्येष्ठ ब्रह्मको मेरा नमस्कार है।

परमात्मा संपूर्ण जगत्का ईश है और वही कैवल्यधाम है आनन्द से परिपूर्ण वही है।

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत् ॥

अ. १०।८।२॥

(इमे द्यौः च भूमि च) ये द्युलोक और भूलोक (स्कंभेन विष्टभिते) सर्वाधार परमात्मासे धारण किये जानेके कारण ही (तिष्ठत) ठहरे हैं। (इदं सर्वं) यह सब (यत् प्राणत् यत् निमिषत् च) जो प्राणवाला, और जो गतिमान् है, वह सब (स्कंभे) सर्वाधार परमात्माके ही आधार में (आत्मन्वत) सत्तावाला है। अर्थात् इस संपूर्ण स्थावरजंगम सृष्टि का धारण करने वाला वही सर्वाधार परमात्मा ही है, अन्य नहीं।

निराकार

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः ॥
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न
जात इत्येषः ॥

य.३२।३

(यस्य) जिसका (महत्) महान् (नाम) प्रसिद्ध (यशः) यश है, (तस्य) उस परमात्माकी कोई (प्रतिमा) प्रतिमा (न अस्ति) नहीं है। (हिरण्य-गर्भ इति एष) 'हिरण्यगर्भ' आदि मंत्रोंद्वारा तथा, (मा मा हिंसीत् इति एषा) 'मा मा हिंसीत्' इस मन्त्रसे, और (यस्मात् न जात इति एषः) 'यस्मान्नजात' इन मंत्रोंसे उसका वर्णन होता है।

इन उक्त मन्त्रोंद्वारा जिसके महान् प्रसिद्ध यशका गायन हुआ है, उस आत्माकी कोई प्रतिमा नहीं है।

स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य
योनौ ॥ अपादशीर्षा गुहमानो अन्तायोयुवानो
वृषभस्य नीळे ॥

ऋ.४।१।११

(स प्रथमः) वह पहिला (पस्त्यासु जायत) प्रजाओंमें हुआ है। तथा वह (अस्य महः रजसः बुध्ने योनौ) इस महान् अंतरिक्षके मूल स्थानमें होता है। यह (अपाद-शीर्षा) पांव सिर आदि अवयवों से रहित (अंत गुहमानः) अंदर गुप्त है। यह (वृषभस्य नीळे) वीर्ययुक्त पुरुषके स्थानमें (आ योयुवान) संघटनाका कार्य करता है, संमेलनका कार्य करता है।

इस मंत्रका तात्पर्य यह है कि, सब देवोंमें अत्यंत प्राचीन तथा सबसे पहिला यह देव है, इस महान् अवकाशमें इसका स्थान है। न इसके हाथ हैं और न पांव, सिर आदि अवयव हैं, अर्थात् यह अशरीरी, निराकार है, और सबके अंदर गुप्त अथवा व्याप्त है। शरीर रहित होनेके कारण ही यह निरवयव होनेसे सबमें व्याप्त और अव्यक्त है। बलवान् मनुष्यके अंदर यह संमिश्रणका कार्य करता है, अर्थात् निर्बलके अंदर यह भेदनका कार्य करता है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य," (मुंड ३।२।४) यह आत्मा बलहीन-को प्राप्त नहीं होता यह तत्त्वज्ञानका सिद्धांत है। निश्चयपूर्वक दृढ अनुष्ठानसे ही इसकी प्राप्ति होती है। और जिस समय इसकी प्राप्ति होती है, उस समय उस मनुष्यकी शक्ति और योग्यता बढ जाती है।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्॥ य. ३२।२

(वि-द्युत) विशेष तेजस्वी और (पुरुषात्=पुर-उषात्) सृष्टिमें पूर्ण व्यापक परमात्मासे (सर्वे) सब (नि-मेषाः) निमेष आदि कालके अवयव (जज्ञिरे) होते हैं। कोई भी (एनं) इस परमात्माका (न ऊर्ध्वं) न ऊपर, (न तिर्यञ्चं) न तिरछा (न मध्ये) न मध्यभागमें (परि-जग्रभत्) पूर्णतासे ग्रहण कर सकता है॥

कालके सब अवयव और सब गति उसी तेजस्वी सर्वव्यापक परमात्मा से प्रकट हो रही है। उस परमात्माका ऊपर नीचे आदि कोई अवयव नहीं, अर्थात् वह निराकार है।

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया

गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्॥ ऋ. ८।७२।३

जो (मनीषया) बुद्धिसे (परः) परे है, (तं रुद्रं) उस रुद्र प्रभुको, ज्ञानी मुमुक्षु (जने अन्तः) मनुष्यके बीचमें=आत्माके भीतर (इच्छन्ति) चाहते हैं=खोजते हैं। जैसे (ससम्) फलको (जिह्वया) जिह्वासे (गृभ्णन्ति) ग्रहण करते हैं।

जैसे कोई पूछे, अमुक फलका स्वाद कैसा है, तो उसे दूसरा उत्तर दे, 'मीठा है।' 'मीठा कैसा होता है' पूछने पर 'खाके देखलो, जीभसे पता चल जाएगा' कहा जाता है, वैसे ही परमात्माके निराकार होनेसे वाणी आदिसे

उसका वर्णन नहीं हो सकता, योगभ्यास आदि साधनोंसे अपने आत्मामें उसका साक्षात्कार करना चाहिए।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपाप-
विद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो-
ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ यजु. ४०।८

जो ब्रह्म (शुक्र) शीघ्रकारी, तेजस्वी, सर्वशक्तिमान् (अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम्) कारण, सूक्ष्म, एवं स्थूल शरीरोंसे रहित, अर्थात् कभी भी नस नाड़ीके बन्धनमें न आने वाला (शुद्धम्) अविद्यादि दोषोंसे रहित, सदा पवित्र (अपापविद्धम्) पापसंसर्गसे सदा पृथक् (कवि) सर्वज्ञ (मनीषी) अन्तर्यामी (परिभूः) दुष्टों का तिरस्कार करन वाला (स्वयंभूः) स्वसत्तामें परानपेक्ष, अनादिस्वरूप अर्थात् जिसकी संयोगसे उत्पत्ति, वियोगसे नाश, माता पिता, गर्भवास, जन्म, वृद्धि ह्रास, मरण, कभी नहीं होते (परि-अगात्) सर्वत्र व्यापक है। (स) वही परमेश्वर (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) नित्य जीवरूप प्रजाओंको (याथातथ्यत) ठीक ठीक रीतिसे (अर्थान् व्यदधात्) वेदद्वारा सब पदार्थोंको देता है अथवा कर्मफल देता है।

इस मन्त्रमें ईश्वरके अनेक गुणोंका वर्णन है, यहां विशेष उल्लेखके योग्य उसका सब शरीरबन्धनोंसे राहित्य है। किस मनोरम रीतिसे ईश्वरकी निराकारताका प्रतिपादन किया है।

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत। वरुण
इदिह क्षयत्तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव॥
ऋ. ८।६९।११।

(इन्द्र) अखिलैश्वर्य्यसंपन्न प्रभु (अपात्) विन्हरहित=निराकार है, (अग्नि) चेतनजीव (अपात्) निराकार है, और (विश्वे देवा अमत्सत) सब इन्द्रियें या सूर्य्यचन्द्र आदि सुखके साधन हैं। अथवा इस बातको जानकर सब विद्वान् मोक्षानन्द पाते हैं। (वरुण इत् इह क्षयत्) वरुण=सर्वश्रेष्ठ भगवान् ही इस संसारमें सर्वत्र वास करते हैं। (आपः तम् अभ्यनूषत शिश्वरी इव वत्सं सम्) सब स्तुतियां उसको प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार वर्द्धक शक्तिएं बच्चेको प्राप्त होता है।

ईश्वर और जीव दोनों निराकार हैं, किन्तु केवल ईश्वरही सर्वव्यापक है, जीव सर्वव्यापक नहीं। सब स्तुतियां परमेश्वरको प्राप्त होता हैं अर्थात् परमेश्वर सकल शुभ कल्याण गुणोंका आकर है।

सर्वशक्तिमान्।

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय
स्वाहा॥ यजु० १७। ७१

हे (सहस्राक्ष शतमूर्द्धन्) अनन्त नेत्र तथा असंख्य शिर शक्ति-सम्पन्न (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (ते प्राणा शतम्) तेरे पास जिलाने के अनन्त उपाय हैं, तथा ही (ते व्यानाः सहस्रम्) तेरी मारक शक्तियां अपरिमित है। (त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे) तू अनन्त ऐश्वर्य का स्वामी है। (ते तस्मै वाजाय स्वाहा विधेम) तेरी उस शक्ति का मन, वाणी और कर्म से समादर करें।

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे
धृषन्मनः। चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः
परिभूरेष्या दिवम्॥ ऋ. १।५२।१२॥

हे ईश्वर! (अस्य) इस (रजसः व्योमन पारे) इस अन्तरिक्ष और आकाश के परे (स्व-भूति-ओजा) अपनी महिमाके बलसे युक्त तथा (धृषन्-मन) धर्मशाली मनसे युक्त तू (अवसे) हमारी रक्षा के लिये (भूमिं) भूमिकी (चकृषे) रचना करता है। तू (ओजस) शक्तिका (प्रतिमानं) नमूना हुआ है। तू (अप) अन्तरिक्ष तथा (दिवं) द्युलोकमें (परिभू) व्यापक और (स्व) प्रकाशस्वरूप द्यौ में (आ एषि) सर्वत्र प्राप्त है।

ईश्वर इस अन्तरिक्ष और आकाशसे भी परे है और अत्यन्त धैर्यशाली तथा अपने प्रभावसे बलयुक्त है। वही सबकी रक्षा करता है। सबसे अधिक शक्तिशाली है और वही सर्वत्र व्यापक है।

यदीमिन्द्र श्रवाय्यमिषं शविष्ठ दधिषे।
पप्रथे दीर्घश्रुत्तमं हिरण्यवर्ण दुष्टरम्॥ ऋ. ५।३८।२॥

हे (हिरण्यवर्ण इन्द्र) तेजस्वी प्रभो! हे (शविष्ठ) शक्तिमय ईश्वर! (यत्) जो (श्रवाय्यं ईम्) प्रशंसनीय ही (इषं) अन्नादि भोगके पदार्थ तू (दधिषे) देता है और (दुष्टरं) अनुल्लंघनीय (दीर्घश्रुत्तमं) अत्यंत सत्कार के योग्य ज्ञान तू (पप्रथे) फैलाता है। वह तेरी ही महिमा है।

हे ईश्वर! तू सबको प्रशंसनीय अन्न देता है और चोर आदिकोंसे ले जाने के अयोग्य ज्ञानरूप धन देता है। वह तुम्हारी ही महिमा है। इसलिये वैसा अन्न और धन हमें दो।

अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं
विश्वरूपम्। अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा
ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥ ऋ० २।३३।१०॥

हे (अर्हन्) पूजायोग्य! तूही (सायकानि धन्व बिभर्षि) अन्त करने वाले मृत्यु के साधनों को धारण करने वाला है, और हे (अर्हन्) पूजनीय देव! तूही (विश्वरूपं यजतं निष्कम्) सब प्रकार के संगत धनादि को धारण करता है (इदं अभ्वं विश्वम्) इस महान् जगत् पर (दयसे) तूही दया करता है। (वै) सचमुच, हे (रुद्र) परमात्मन्! कोई (त्वत्) तुझसे (ओजीयः) अधिक बलवान् (न अस्ति) नहीं है।

किसी के प्राण लेने में शक्ति चाहिए, किन्तु किसी को जीवनशक्ति सम्पन्न करना उससे भी अधिक शक्ति का कार्य्य है। परमात्मा इस सारे संसार के जीवन मरण की व्यवस्था करता है। अतः निस्सन्देह वह सबसे बढ़ कर शक्तिमान् है।

अर्चा शक्राय शाकिने शचीवते शृण्वन्तमिन्द्रं
महयन्नभि ष्टुहि। यो धृष्णुना शवसा रोदसी उभे
वृषा वृषत्वा वृषभो न्यृञ्जते ॥ ऋ० १।५४।२॥

(वृषा) सुखवर्षण शील (वृषभः) सुखसाधनों का प्रकाश करने वाला (वृषत्वा) सुखों की वृष्टि करता है, और (यः) जो (धृष्णुना) दृढ़तादि गुणयुक्त (शवसा) बलसे उभे रोदसी) दोनों लोकों को (नि-ऋञ्जते) निरन्तर गति देता है, कार्य समर्थ बनाता है (शक्राय) सामर्थ्य प्राप्ति के लिये, तू उसी (शचीवते) परम ज्ञानी (शाकिने) सर्वशक्तिमान् की (अर्च) पूजा कर। (शृण्वन्तम्) सदा सबकी सुनने वाले (इन्द्रम्) अखण्ड ऐश्वर्य्ययुक्त प्रभु के (महयन्) सत्कारपूर्वक (अभि स्तुहि) गुणों की पूर्णरूप से स्तुति कर।

प्रभु ही सुखदाता है। सर्वलोक कर्त्ता वही एक है। वही सर्वशक्तिमान् है। शक्ति प्राप्त करने के लिए उसी की पूजा करनी चाहिए।

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्नि-
विष्टम्। तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद्देवो
रोचते एष एतत् ॥ अ. १०।८।२४॥

(शतं सहस्रम्) सौ, सहस्र, (अयुतं) दशसहस्र, (न्यर्बुदं) दस करोड़

और (असंख्येयम्) असंख्यात (सं) शक्ति-आत्मिक बल (अस्मिन् निविष्टं) इस ब्रह्म में है। (तत्) उस परमेश्वर को (अभिपश्यत) भली प्रकार साक्षात् करने वाले (अस्य) महात्मा को (अस्ति) यह प्राप्त होती हैं। (तस्मात्) उस अनन्त सामर्थ्य से (एष देव) यह दिव्य गुण सम्पन्न प्रभु (एतत्) इस संसार को (रोचते) प्रकाशित करता है।

परब्रह्म के अन्दर असंख्यात शक्तियां हैं, उनकी गिनती नहीं हो सकती। इसीलिये उसका प्रकाश सबसे अधिक है और उसकी प्राप्ति महात्माओंको ही होती है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ऋ. १०।१२१।१०॥

(प्रजा-पते) प्रजाके स्वामिन् परमेश्वर! (एतानि ता विश्वा जातानि) इन सब जगत्के पदार्थोंपर (त्वत् अन्य) तुझसे भिन्न कोई भी दूसरा (न परि बभूव) स्वामित्व नहीं करता। (यत् कामा) जिन इच्छाओंको धारण करते हुए हम सब (ते जुहुम) तेरा यज्ञ करते हैं, (तत् न अस्तु) वह हम सबको प्राप्त होवे। और (वयं) हम सब (रयीणां पतय) धनोंके स्वामी (स्याम) बनें।

न हि त्वा शूरो न तुरो न धृष्णुर्न त्वा योधो मन्यमानो युयोध। इन्द्र नकिष्ट्वा प्रत्यस्त्येषां विश्वा जातान्यभ्यसि तानि ॥ ऋ. ६।२५।५॥

हे (इन्द्र) प्रभो! (न) ना ही (त्वा) तेरे साथ कोई (शूर) शूर और (न तुर) न ही शत्रुनाशक और (न) न ही (धृष्णु) कोई शत्रुका धर्षण करने वाला और (न) न ही (मन्यमान योध) माननीय योद्धा भी (युयोध) युद्ध कर सकता है, (त्वा) तेरे साथ (न कि प्रत्यस्ति) कोई भी विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि तू (तानि विश्वा जातानि) सब बने हुए वीरादिकोंका (अभ्यसि) पराभव कर सकता है।

परमेश्वरका कोई भी विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी शक्ति सबसे अधिक होनेके कारण वह सबका पूर्ण पराभव कर सकता है।

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः। स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥ ऋ. १।१००।१५॥

(न) न तो (देवाः देवताः) देव देवता और (न) न ही (मर्ताः) मनुष्य (च) और न ही (आप) जल भी (यस्य शवस-अंतं) जिस ईश्वरके बलका अंत (आपुः) प्राप्त कर सकते हैं। (सः मरुत्वान् इन्द्र) वह प्राण-शक्तिसे युक्त प्रभु (दिवः क्ष्म च) द्युलोक और पृथिवीलोकको (त्वक्षसा प्ररिक्वा) बलसे रिक्त करनेवाला (न ऊती भवतु) हमारा रक्षण करनेवाला होवे।

परमेश्वरके बलका अंत कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। वह अपने बलसे द्युलोक और पृथ्वीको वशमें रखता है, अर्थात् स्वयं उनसे बहुत बड़ा है। उसकी रक्षा में रहने से कभी नाश नहीं होता।

प्र तुविद्युम्नस्य स्थविरस्य घृष्वेर्दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः। नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः॥ ऋ. ६।१८।१२॥

(तुवि-द्यु-म्नस्य) अत्यन्त तेजस्वी (स्थविरस्य) स्थिर और (घृष्वेः) दुष्टताको पीसनेवाले ईश्वरकी (महिमा) महत्ता (दिव पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवीकी मर्यादाओंसे भी (ररप्शे) परे फैली है। (न अस्य शत्रु) इस ईश्वरका कोई शत्रु नहीं (न अस्य प्रतिमानं) न इसकी कोई प्रतिमा है, न इसके समान कोई है। (पुरुमायस्य) अनन्त ज्ञानवाले अनन्त शक्तिवाले (सह्योः) तथा सहन शक्तिवाले बलवान् ईश्वरका और कोई (प्रतिष्ठि) आश्रय (न) नहीं है। अर्थात् वह सर्वाधार होता हुआ अपने लिए दूसरे आश्रय की अपेक्षा नहीं करता।

इन्द्रे विश्वानि वीर्या कृतानि कर्त्वानि च। यमर्का अध्वरं विदुः॥ ऋ. ८।६३।६॥

(यम्) जिस प्रभु को (अर्का) स्तुति करने वाले ज्ञानी भक्त (अध्वरम्) अहिंसनीय, अहिंसक (विदु) जानते हैं, उस (इन्द्रे) सकलैश्वर्यसम्पन्न प्रभु में ही (कृतानि कर्त्वानि च विश्वानि वीर्या) कृत=प्रकाशित, और करिष्यमाण=अप्रकाशित सब शक्तियां हैं।

परमात्मा में नाना शक्तियां हैं, कुछ का ज्ञान मनुष्यों को है, कुछ का आगे होगा, इस समय नहीं है।

न ते अन्तः शवसो धाय्यस्य वि तु बाबधे रोदसी महित्वा। आ ता सूरिः पृणाति तूतुजानो यूथेवाप्सु समीजमान ऊती॥ ऋ. ६।२९।५॥

हे जगदीश्वर! (ते अस्य शवस अन्तः न आपि) तेरी इस शक्तिका अन्त किसी से नहीं पाया जाता। (तु) और (रोदसी) द्यावापृथिवी को (वि बाबधे) विशेष रीति से बांधता है, अर्थात् बिना किसी सहारे के आकर्षण शक्ति द्वारा उनको स्थिर रखता है, गिरने नहीं देता है। तेरी (ताः ऊतीः) उन रक्षाओं को (समीजमान) भली प्रकार प्राप्त करता हुआ और (तुतुजानः) शीघ्र तदनुसार अनुष्ठान करता हुआ (सूरिः) विद्वान् (अप्सु) प्राणों में (आ पृणाति) प्रसन्न होता है (इव यूथा अप्सु) जिस प्रकार पशुओं के समूह जलों में तृप्त होते हैं।

परमेश्वर की शक्ति अनन्त है। देखिए, किस अद्भुत शक्ति से सूर्य्य चन्द्र पृथिवी आदि ग्रह उपग्रहों को आकाश में बिना आधार स्तम्भ के धारण करता है।

सर्वेश्वर।

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्। त्वं राजा

जनानाम्॥ ऋ. ८।६४।३॥

हे (इन्द्र) ऐश्वर्य्यसम्पन्न जगदीश्वर! (त्वं) तू (सुतानाम्) उत्पन्न पदार्थों का (ईशिषे) ईश्वर है, और (त्वम् असुतानाम्) अनुत्पन्न=नित्य जीव तथा प्रकृति का, अथवा आगे उत्पन्न होने वालों का भी ईश्वर है। (त्वं जनानां राजा) तू ही लोकों का राजा है।

परमात्मा ही सर्वेश्वर है।

यद्द्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य।

सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥ ऋ. ८।९३।४॥

हे (वृत्रहन्) अज्ञाननाशक! (सूर्य्य) चराचर के आत्मन्, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! (अभि) सब ओर (अद्य) इस समय (यत् कच्च) जो कुछ (उत् अगाः) प्रकट है और ओझल है। हे (इन्द्र) प्रभो! (तत् सर्वं ते वशे) वह सब तेरे वश=अधिकार में है।

दृश्य और अदृश्य सब ईश्वर के अधीन है, वही सबका ईश्वर है।

पिबा सोमं मदाय कमिन्द्र श्येनाभृतं सुतम्।

त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि॥ ऋ. ८।९५।३॥

हे (इन्द्र) सकलैश्वर्य्यसम्पन्न प्रभो! (श्येनाभृतम्) ज्ञानियों से प्राप्त (सुतं) सुनिष्पन्न (सोमम्) सोमरस=ज्ञानामृत (मदाय) मोक्षानन्दके लिए

(कम्) शीघ्र (पिब) पिला । (हि) निश्चय करके तूही (शश्वतीनां प्रजानाम्) अविनाशी प्रजाओं-जीवों तथा प्रकृति का (पति राजा असि) पालक और राजा है ।

ईश्वर सबका पालक तथा रक्षक है, वही सबको मोक्षानन्द प्रदान करता है ।

इन्द्रो॑ दि॒वः इन्द्र॑ ईशे पृथि॒व्याः इन्द्रो॑ अ॒पामिन्द्र॒

इत्पर्व॑तानाम् । इन्द्रो॑ वृ॒धामिन्द्र॒ इन्मेधि॑राणा॒मिन्द्रः॑

क्षेमे॒ योगे॒ हव्य॒ इन्द्रः॑ ॥ ऋ. १०।८९।१०॥

(इन्द्रः इत् दिव ईशे) परमेश्वर ही द्युलोकका स्वामी है (इन्द्र पृथिव्याः) परमेश्वर ही पृथिवी का (इन्द्र अपाम्) परमेश्वर ही जलों का (इन्द्र पर्वतानाम्) परमेश्वर ही पर्वतों तथा मेघों का (इन्द्र वृधां) परमेश्वर ही वृद्धिशीलों का (इन्द्रः इत् मेधिराणाम्) इन्द्र ही मेधावियों या इकट्ठे कार्य करने वालों का स्वामी है । (क्षेमे इन्द्र हव्य. योगे इन्द्र) योग और क्षेम में ईश्वर ही स्मरण करने योग्य है ।

प्रत्येक वस्तु का स्वामी परमेश्वर ही है । 'पंचों में परमेश्वर' इस लोकोक्ति का मूल 'इन्द्रः इत् मेधिराणां' प्रतीत है ।

अनन्त

अन॑न्तं॒ वित॑तं पुरु॒त्रान॑न्त॒मन्त॑वच्चा॒ सम॑न्ते ।

ते ना॑कपा॒लश्च॑रति वि॒चिन्व॒न् वि॒द्वान् भू॒तमु॒त

भव्य॑मस्य ॥ अ. १०।८।१२॥

(अनन्तं) अन्तरहित ब्रह्म (पुरु-त्रा) सर्वत्र (विततं) फैला हुआ है । (समन्ते) मिले हुए (अनन्तं) अनन्त और (अन्तवत् च) अन्तवाला (ते) इन दोनों को (विचिन्वन्) अलग अलग करता हुआ (उत अस्य भूतं भव्यम्) और इसके भूत और भविष्य को (विद्वान्) जाननेवाला (नाकपाल) सुख का पालन कर्ता होकर (चरति) विचरता है ।

अन्तवाले अर्थात् मर्यादासे युक्त जगत्के अन्दर अनंत अर्थात् मर्यादा रहित परमात्मा फैला हुआ है । अनन्त और सान्त एक दूसरे के साथ मिले जुले हैं । इसके विवेकको जाननेवाला जो ज्ञानी होता है, वही आगे उन्नति करता है ।

न यस्य॑ दे॒वा दे॒वता॒ न मर्ता॒ आप॑श्च॒न शव॑सो

अन्तमापुः। स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वांनो भवत्विन्द्र ऊती॥ ऋ. १।१००।१५॥

(देवा देवता:) विद्वान् और सूर्य्यचन्द्रादि (मर्ता:) मनुष्य अथवा (आप) जल भी (यस्य शवस अंतं) जिस ईश्वरके बलका अंत (न आपु) नहीं प्राप्त कर सकते। (स: मरुत्वान् इन्द्र:) वह जीवनाधार प्रभु (दिवः क्ष्मः च) द्युलोक और पृथिवीलोकको (त्वक्षसा परिक्वा) बलसे रिक्त करनेवाला (न ऊती भवतु) हमारा रक्षण करनेवाला होवे।

परमेश्वरके बल का अंत कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। वह द्युलोक और पृथ्वी से बहुत बड़ा है। उसकी रक्षामें रहनेसे कभी नाश नहीं होगा।

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः। नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥ ऋ. १।५२।१४॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (यस्य व्यच) जिसकी व्यापकता (न अनु) नहीं पाते और (रजस सिन्धव) अंतरिक्ष लोक भी जिसका अंत (न आनशु) नहीं पा सकते। (अस्य युध्यत:) इसके युद्ध करनेके समय (मदे) हर्षमें (स्ववृष्टिं न) शस्त्रादिकोंकी अपनी वृष्टि जो होती है उसको भी कोई नहीं जानता। ऐसा (एक:) तू अकेलाही (अन्यत् विश्वं) अपनेसे भिन्न विश्वको (आनुषक् चकृषे) संपूर्ण रूपमें करता है।

परमात्माकी व्यापकता त्रिलोकीसे अधिक है, इसलिए कोई भी ठीक प्रकार उसे नहीं जानता, तथा उसके शस्त्रास्त्र कैसे शत्रुका नाश करते हैं यह भी कोई नहीं जान सकता। ऐसा विलक्षण शक्तिशाली ईश्वर अकेला ही किसीकी सहायताकी अपेक्षा न करता हुआ उससे भिन्न जितना कुछ विश्व है उस संपूर्ण विश्वको बनाता है।

नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन्मघवत्त्वस्य विद्म। न राधसो राधसो नूतनस्येन्द्र नकिर्ददृश इन्द्रियं ते॥ ऋ. ६।२७।३॥

हे (मघवन् इंद्र) ऐश्वर्य्यसंपन्न इन्द्र! (ते समस्य महिमन:) तेरे संपूर्ण महिमा का (नहि विद्म) ज्ञान हमें नहीं है। तेरे (मघवत्त्वस्य न विद्म) ऐश्वर्यका भी पूर्ण ज्ञान हम नहीं कर सकते (नूतनस्य राधसो राधसः)

तेरी नूतन २ सिद्धियोंका भी हमें ज्ञान नहीं है (इन्द्र) हे भगवन्! (ते इन्द्रियं) तेरी शक्तियोंका भी (नकि ददृशे) हमें दर्शन नहीं हुआ है।

परमात्माकी शक्ति, उसकी महिमा, उसका ऐश्वर्य आदि इतना अपार है कि किसी को भी उसका अंत ज्ञात नहीं हो सकता।

अनुपम

प्रतुविद्युम्नस्य स्थविरस्य घृष्वेर्दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः। नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः॥ ऋ. ६। १८। १२॥

(तुवि-द्यु-म्नस्य) अत्यंत तेजस्वी (स्थविरस्य) स्थिर और (घृष्वे) दुष्टताको पीसनेवाले ईश्वरकी (महिमा) महत्ता द्युलोक और पृथिवीकी मर्यादाओंसे भी बाहर (ररप्शे) फैली है। (न अस्य शत्रु) इस ईश्वर का कोई शत्रु नहीं (न अस्य प्रतिमानं) न इसकी कोई प्रतिमा है। (पुरु मायस्य) अनंत ज्ञानवाले (सह्यो) और अनन्त शक्तिवाले बलवान् ईश्वरको छोड़कर और कोई (प्रतिष्ठि) आश्रय (न) नहीं है। अर्थात् वही एक सबका आश्रय है।

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः। विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्॥ ऋ. १।५२।१३॥

हे जगदीश्वर (त्वम्) तू (भुव पृथिव्या प्रतिमानम्) आकाश और भूमि के परिमाण का कर्ता, तथा (बृहत) महाबली (ऋष्ववीरस्य) महागुण युक्त जगत् तथा महावीर मनुष्य का (पतिर्भू) पालक है और (अन्तरिक्षम्) सम्पूर्ण अवकाशको एवं (सत्यम्) अविनाशी जीव तथा प्रकृति को (महित्वा) अपनी महती व्याप्ति से (अद्धा आप्रा) साक्षात् पूर्ण कर रहा है। सचमुच (त्वावान्) तुझ जैसा (अन्य) दूसरा (न कि) नहीं है।

परमेश्वर के समान अन्य कोई नहीं है।

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥ ऋ. ७। ३२। २३॥

हे (मघवन् इंद्र) धनवान् प्रभो! (दिव्य) द्युलोकमें उत्पन्न और

(पार्थिव) पृथ्वीपर उत्पन्न (त्वावान् अन्य) तेरे सदृश कोई दूसरा (न जात) नहीं हुआ और (न जनिष्यते) न होगा। (अश्वायन्त) घोड़ों की (वाजिन) बल और अन्नकी (गव्यन्त) गौओंकी इच्छा करनेवाले हम (त्वा हवामहे) तेरी ही उपासना करते हैं।

परमेश्वर के समान बलवान् कोई भी नहीं है इसीलिये उसकी सब प्रार्थना और उपासना करते हैं।

न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्।
नक्येवं यथा त्वम्॥ सा. पू. ३।१।१०॥

हे (वृत्रहन इन्द्र) अज्ञाननाशक विज्ञानैश्वर्यसंपन्न प्रभो ! (न कि) न तो कोई (त्वत् उत्तरं) तुझसे श्रेष्ठ है, और (न) ना ही कोई (ज्यायान्) ज्येष्ठ है। (न कि) ना ही कोई (एवं) ऐसा है (यथा त्वम्) जैसा तू।

कितने सुन्दर और सरल शब्दों में प्रभु की श्रेष्ठता तथा अनुपमता का वर्णन है॥

अजर

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ। बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः॥ ऋ. ६। ४९। १०॥

(आभि गीर्भि) इन वचनोंसे (दिवा) दिनमें (भुवनस्य पितरं रुद्रं वर्धय) संसारके पिता रुद्र भगवानकी बड़ाई करो (अक्तौ रुद्रम्) रात्रिमें भी उसी भगवान् रुद्र की बड़ाई करो। (कविना इषिता) ज्ञान से प्रेरित हुए हम उसी (बृहन्तं) महान (ऋष्वं) श्रेष्ठ ज्ञानी (सुषुम्नं) अत्यन्त उत्तम विचारशाली (अजरं) अजर परमात्माकी (ऋधक्) विशेष रूप से (हुवेम) उपासना करें।

देवेभिर्न्विषितो यज्ञियेभिरग्निं स्तोषाण्यजरं बृहन्तम्। यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्॥ ऋ. १०। ८८। ३॥

(यज्ञियेभि देवेभि इषित) यज्ञ करनेवाले पूजनीय दिव्यगुण संपन्न विद्वानोंसे शिक्षा प्राप्तकर मैं (बृहन्तम् अजरं अग्निम् स्तोषाणि) उस महान् अजर परमात्मा की स्तुति करूं। (यः) जो (भानुना) अपनी तेजोमयी

शक्तिसे (पृथिवीं) विस्तार्ण पृथिवीको (उत) और (इमां द्यां) इस प्रसिद्ध द्युलोकको और (रोदसी) रातदिनको और (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको (आ ततान) भलीप्रकार रखता है।

इन दोनों मन्त्रोंमें परमात्माके अन्य गुणों के साथ अजर विशेषण भी स्पष्ट पड़ा है ।

> इन्द्रमेव धिषणा सातये धाद् बृहन्तमृष्वमजरं युवानम् । अषाळ्हेन शवसा शूशुवांसं सद्यश्चिद्यो वावृधे असामि ॥ ऋ. ६ । १९ । २ ॥

(य) जो (धिषणा) बुद्धि या कर्ममें (सातये) सत्कारके लिए, पूजाके लिए (बृहन्तं) सर्वमहान (युवानम्) सदा जवान (ऋष्वम्) पूर्णज्ञानी (अषाढेन शवसा शूशुवांसम्) असह्य बलसे युक्त होकर सर्वत्र व्याप्त (अजरं) जरारहित (इन्द्रं) सर्वैश्वर्य्यसंपन्न भगवान् को (धात्) धारण करता है वह (सद्य) शीघ्र (असामि) अद्वितीय रूपसे अत्यन्त (वावृधे) वृद्धिको प्राप्त होता है।

परमेश्वर कभी भी वृद्ध नहीं होता, वह सदा युवा अर्थात् स्वकार्य्यकरण-समर्थ रहता है । बुद्धिद्वारा, तथा कर्मद्वारा उसकी भक्तिपूजा करके विपुल वृद्धि प्राप्त करनी चाहिए।

> अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम् । अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते ॥ ऋ. ६ । ५ । ७ ॥

हे (अजर अग्ने) क्षीण और जीर्ण न होनेवाले तेजस्वी देव ! (तव ऊती) तेरे रक्षणोंके द्वारा (कामं अश्याम) मनकी कामना प्राप्त करें, हे (रयिवः) धनयुक्त ! (सुवीरं रयिं) उत्तम वीरोंसे युक्त धनको (अश्याम) प्राप्त करें। (अभि वाजयन्तः) सब प्रकारसे भोग्य अन्नकी इच्छा करनेवाले हम (वाजं अश्याम) अन्नादि प्राप्त करें । तथा (ते अजरं द्युम्नं) तेरे क्षीण न होनेवाले प्रकाशमान यशको (अश्याम) प्राप्त करें।

अमर

> त्वां ह्यग्ने सदमित् समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे ।। अमर्त्यं यजत

मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसं विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम् ।। ऋ. ४।१।१।।

हे (अग्ने) परमेश्वर ! (समन्यव देवास) मननशील दिव्यविद्याप्रकाशयुक्त महात्मा (हि) निश्चय करके (सदमित्) सदैव (अरतिम्) प्राप्तकरने योग्य (त्वा देवम्) तुझ सुखदाताकी (न्येरिरे) प्राप्तिका यत्न करते हैं। (इति) अतएव (क्रत्वा) अपने कर्मबलसे (न्येरिरे) तुझको पा लेते हैं। (मर्त्येषु) मरणधर्मा पदार्थोंमें (देवम्) प्रकाश करनेवाले (अमर्त्यम्) तुझ अमर प्रभुको (आ यजत) सब प्रकारसे पूजते हैं (आदेवं प्रचेतसं जनत) तुझ विद्याप्रकाशदाता परमज्ञानी परमेश्वरकी प्रसिद्धि करते हैं और इसीसे वे (विश्वम्) संसारको (आदेवं प्रचेतसं जनत) सब प्रकारसे सुखयुक्त ज्ञानी बनाते हैं।

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदाचन । सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन । ऋ. १०।४८।५।।

(अहम् इन्द्र न परा जिग्ये) मैं ऐश्वर्य्यसंपन्न, सर्व प्रकाशक कभी किसीसे पराजयको प्राप्त नहीं होता। (न कदाचन मृत्यवे अवतस्थे) और ना हीं कभी मृत्युको प्राप्त होता हूं, अर्थात् अमर हूं। (धनम् इत्) धनादि ऐश्वर्य्यका दाता मैं ही हूं। (सुन्वन्त) धनादि ऐश्वर्य्यप्राप्तिके लिए यत्न करते हुए तुम (वसु) विज्ञादि धनको (मा सोमम् इत्) मुझ ईश्वरहीसे (याचत) मांगो। (पूरव) हे विज्ञानी भक्तो ! (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मैत्री में तुम्हें कष्ट न होगा।

इस मंत्रमें परमेश्वर का अमरपन तथा विज्ञानादिधनदातृत्व स्पष्ट उपदिष्ट है।

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि। होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ।। ऋ. ४।२।१।।

(य) जो (अग्नि) परमेश्वर (मर्त्येषु अमृत) मरणधर्मवालो में अमर (ऋतावा) सत्यस्वरूप (देवेषु देवः) देवोंका भी देव (अरतिः) सर्वत्र प्राप्त (होता) दाता (मह्ना) महत्वयुक्त (यजिष्ठ) अतिशय पूजनीय है, उसे (हव्यै) अपने दानोंके कारण अथवा सुख प्राप्ति के हेतु (मनुष) मनुष्यों

को (ईरयध्यै) प्रेरणा करनेके लिए तथा (शुचध्यै) पवित्रता, ज्ञानप्रकाश तथा कान्ति प्राप्ति के लिए (निधायि) हृदयमें धारण करना चाहिए।

स नो विभावा चक्षणिर्न वस्तोरग्निर्वंदारु वेद्य-
श्चनो धात्। विश्वायुर्यो अमृतो मर्त्येषूषर्भुद्
भूदतिथिर्जातवेदाः॥ ऋ. ६।४।२॥

(य) जो (वस्तो) दिन और (चक्षणि) प्रकाशक सूर्य्य तथा (अग्नि न) अग्निकी भांति (विभावा) विशेष प्रकाशवाला (विश्वायु) संपूर्ण संसारको ज्ञान तथा आयु देनेवाला (उषर्भुत) उषाकालमें बोध्य=उपास्य अतिथि सतत ज्ञानवान् (जातवेदा) प्रत्येक पदार्थमें विद्यमान (मर्त्येषु अमृतः) विनाशी पदार्थोंमें अमर=अविनाशी (न) हमको (वन्दारु) प्रशंसनीय (चन) अन्नादि पदार्थ (धात्) देता है, (स वेद्य भूत्) वही जानने विचारने प्राप्त करने योग्य है।

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो नि
धायि। स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे
सुमनसः स्याम॥ ऋ. ७।४।४॥

(अयं प्रचेता अग्नि) यह ज्ञानी अग्नि (अ-कविषु कवि) शब्द न करनेवालोंमें शब्दका प्रवर्तक, अज्ञानियोंमें ज्ञानी (मर्तेषु अमृतः) मरनेवालोंमें अमर (निधायि) हृदयमें धारण करने योग्य है! हे (सहस् व) बलवन्! (त्वां) तेरे विषयमें (सदा) सदा हम (सु-मनस स्याम) मनका उत्तम भाव धारण करेंगे इसलिए (स) वह तू (न) हमारी (मा जुहुर) हिंसा न कर।

इस मन्त्रका पूर्वार्द्ध जीवात्माके विषयमें भी लगता है। आत्मा भी चेतन और अमर है। आत्मपक्षमें उत्तरार्द्धका अर्थ होगा—हे (सहस्व) महाबली परमात्मन! (नः सः अत्र मा जुहुर) वह हमारा आत्मा इस संसारमें कुटिलतायुक्त न हो और हम (सदा त्वे सुमनसः स्याम) सदा तेरे प्रति भक्तियुक्त मन वाले होवें।

यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे।
उतो तत्सत्यमित्तव॥ ऋ. ८।९३।५॥

हे (प्रवृद्ध) सर्वश्रेष्ठ (सत्पते) सज्जन-पालक प्रभो (न मरे) 'मैं अमर हूं,'

(इति यत् मन्यसे) ऐसा जो आप मानते है, (उत उ तव तत् सत्यम् इत्) निश्चय से आपका वह उपदेश सर्वथा सत्य ही है।

जीव पक्षमे भी यह संगत है। जीव कहता है: परमात्मन्! आपने जो उपदेश दिया है, कि मैं जीव अमर हूं, सो ठीक ही है।

नमध्वरेष्वीळते देवं मर्ता अमर्त्यम्।

यजिष्ठं मानुषे जने॥ ऋ. ५।१४।२॥

(मर्ता) मनुष्य हरएक (मानुषे जने) मनुष्य के अन्दर वर्त्तमान (तं यजिष्ठं) उस पूजनीय (अमर्त्य देव) अमर देवकी (ई) सत्कर्मों के समय (ईलते) स्तुति करते है।

प्रभु जगत्पति सब मनुष्यों के अंतःकरण मे विराजमान हैं, वही पूज्य, उपास्य, अमर और स्तुत्य देव हैं। संपूर्ण सत्कर्म करने के समय श्रेष्ठ मनुष्य उसीकी प्रशंसा करते हैं।

न्यायकारी

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।

शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥ य. ३६।९॥

(मित्र) सबकी मित्र ईश्वर (न शं) हम सबका कल्याणकारी होवे (वरुण) सबसे श्रेष्ठ ईश्वर (शं) कल्याणकारी होवे। (अर्यमा) न्यायकारी ईश्वर (न शं) हम सब का कल्याणकारी (भवतु) होवे। (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर (न शं) हम सबका कल्याणकारी होवे। (बृहस्पति) बड़ी वाणी-का=वेद वाणीका स्वामी, (विष्णुः) व्यापक और (उरु-क्रम) जिसका महान् क्रम-रचनादि सामर्थ्य है वह ईश्वर (न शं) हम सब का कल्याणकारी होवे।

सबके साथ प्रेम करने वाला, सब से श्रेष्ठ, सर्वव्यापक, न्यायकारी, परम ऐश्वर्यवान् विश्वका अधिपति, और विशेष क्रमसे कार्य करने वाला ईश्वर हम सबका कल्याण करे।

विशां राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम्।

अग्निमीळे स उ श्रवत्॥ ऋ. ८।४३।२४॥

(विशां) प्रजाओं के (अद्भुतं राजानं) अद्भुत राजा (धर्म्मणां अध्यक्षं) धर्मकार्यों के योग्य अध्यक्ष अर्थात् कर्मफलप्रदाता (इमं अग्निं) इस तेजस्वी देव की (ईळे) मैं स्तुति करता हूं (स उ) वही (श्रवत्) हमारी स्तुति सुनता है।

परमेश्वरही सबका एक राजा और सब धर्मकर्मोंका श्रेष्ठ अध्यक्ष है। अर्थात् यथाकर्म सब को फल देता है। और वह सब की प्रार्थनाएं सुनता है। इसीलिये उसकी उपासना करनी चाहिये।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥ ऋ. १।१।६॥

हे (अंगिरः) प्राणों के प्राण (अंग) परम प्यारे (अग्ने) सर्वज्ञ प्रभो! (यत्) जो (त्वं) तू (दाशुषे) दानशील के प्रति फलस्वरूप (भद्रं) भलाई, कल्याण (करिष्यसि) करता है, (तत्) वह (तव) तेरा (सत्य इत्) अटल नियम ही है।

परमेश्वर का यह त्रिकालाबाधित नियम है कि जो जैसा कर्म करेगा उसे वैसा फल मिलेगा। इसी वास्ते शास्त्रकारों ने कहा है "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया
शासदव्रतान्। शाकी भव यजमानस्य चोदिता
विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥ ऋ. १।५१।८॥

हे प्रभो! (आर्यान् विजानीहि) (च ये दस्यवः) तू आर्यों=श्रेष्ठकर्मा मनुष्योंको जानता है और जो दस्यु=दुष्टकर्मा या अकर्मा हैं उनको भी जानता है। अत एव तू (बर्हिष्मते) यज्ञादि सत्य कर्म करने वाले को (रन्धय) सिद्धि युक्त करता है और (अव्रतान् शासत्) अव्रतों=पापियों को दण्ड के द्वारा शिक्षा देता है (शाकी भव) तू ही शक्तिशाली है। और (यजमानस्य चोदिता) यज्ञादि करने वाले को सत्कर्म में प्रेरित करता है। (ते सधमादेषु ता विश्वा इत् चाकन) तेरे सदृश आनन्द भोग के निमित्त मैं उन सभी सुकर्मों को चाहता हूं।

परमात्मा सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है अतः वह सब के साथ ठीक ठीक न्याय करके भले बुरे कर्मों का फल देता है।

वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा
के चिदत्रिणः। अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने
सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ऋ. १।९४।९॥

हे (अग्ने) तेजस्वी प्रभो! (वधैः) वधके साधनभूत शस्त्रों से

(दुःशंसान्) दुष्ट (दूढ्य) दुर्बुद्धिवालों को (अप जहि) ताड़नाओं के द्वारा मार अर्थात् उनको सन्मार्ग दिखा। (दूरे) जो दूर हैं (वा ये) वा जो (अंति वा) पास है तथा (केचित्) जो कोई (अत्रिणः) सर्व भक्षण करने वाले अर्थात् स्वार्थी हैं। उन सबका हनन कर। (अधा) और (यज्ञाय गृणते) यज्ञ करने वाले स्तोताको (सुगं कृधि) सुखी कर। हे प्रभो (तव) तेरी (सख्ये) मित्रता में (वयं मा रिषाम) हम नष्ट न हों।

परमेश्वर दुष्टों को उनके अपराधानुरूप दण्ड देता है. सत्कर्मी पुरुषों को सुख देता है। दुष्टों को दण्ड देने का प्रयोजन उन्हें कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाना होता है।

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।
सुशक्तिरिन्मघवन्तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि॥

ऋ. ७।३२।२१॥

(मर्त्यः) मनुष्य (दुष्टुती) दुष्ट और मन्द स्तुतियों से (वसु न विन्दते) अभीष्ट धन नहीं लाभ करता, [केवल भोग विलास के लिये एवं मारण, मोहन और उच्चाटन आदि अभिचार क्रिया के लिये अथवा अन्यान्य जनों को दबा कर अभिमानी इत्यादि होने के लिये जो स्तुति की जाती है उसको दुःस्तुति कहते हैं]। (स्रेधन्तम्) हिंसक पुरुष को भी (रयि) अभीष्ट धन (न नशत्) प्राप्त नहीं होता (मघवन्) हे सर्व धनस्वामिन्! (पार्ये) इस जगत् में और (दिवि) और द्युलोकमें (मावते) मेरे समान जनको (देष्णम्) देने के लिये जो धन है उस उत्तम धनको (तुभ्यम्) आप से (सुशक्ति इत्) सुकर्मा उद्योगी पुरुष ही पाता है। कुकर्मी आलसी जन सदा दुःखमेंही रहता है।

मनुष्य दुष्ट और मन्दस्तुतियों से धन नहीं पाता और हिंसक जनके निकट भी लक्ष्मी नहीं आती। जो धन इस जगत् में और द्युलोक में मेरे सदृश जनको देने के लिये है। हे मघवन्! इसको सुकर्मा ही आप से प्राप्त करता है।

दयालु।

यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः। अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूयं पात स्व-स्तिभिः सदा नः।

ऋ. ७।८७।७॥

(यः) जो प्रभु (आगः) अपराध (चक्रुषे चित्) करनेवालेके प्रतिभी (मृळयाति) दया बनाए रखता है। (वरुणे) उस सर्वपूज्य परमात्माके

निकट (वयं अनागाः स्याम) हम मनुष्य अनपराधी होवें=सदैव उसके समीप अपराध विहीन होकर रहें। (अदिते) उस अखण्ड सर्वव्यापी देवके (व्रतानि अनु) विविध सत्यादि व्रतों के अनुकूल (ऋधन्त) आचरण करें। हे विद्वानादि समस्त सत्यदेवो ! (यूयम्) आप सब (न) हम उपासकों को (स्वस्तिभिः) कल्याणोंसे अर्थात् विविध मङ्गल और आशीर्वाद देकर (पात) रक्षा करें।

जो परमात्मा अपराधी पुरुषोंको भी सुखी करता है उसके निकट हम सदैव निरपराधी होवें। उस अखण्ड ईश्वरके व्रतोंका आनुपूर्वी निर्वाह करें। हे विद्वानो ! आप सब हमको सदैव कल्याणों से युक्त करें।

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा ।

अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ऋ. ५।६४।३॥

(यत्) यदि (गतिम् अश्याम्) सद्गति प्राप्त करना चाहूं, तो (मित्रस्य) स्नेहमय=दयालु प्रभुके (पथा) बताए मार्गसे (यायां) जाऊं, क्योंकि (अस्य अहिंसानस्य प्रियस्य) इस हिंसा न करने वाले अर्थात् दयाभावयुक्त परमप्रिय परमेश्वरके (शर्मणि) कल्याणमय मार्गमें, विद्वान् (सश्चिरे) आश्रय पाते हैं।

परमेश्वर दण्ड देता है, किन्तु हिंसाके भावसे नहीं, अपितु कल्याणकी भावना से। कल्याण चाहने वालोंको दयालु प्रभुके बताए मार्ग=वेदका अनुसरण करना चाहिए।

अन्तर्यामी।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ऋ. १०।८२।७॥

(तं न विदाथ) तुम उसको नहीं जानते, (य इमाः जजान) जो इन सबको प्रकट=उत्पन्न करता है ! (युष्माकं अन्तरं अन्यत् बभूव) तुम्हारा अन्तर्यामी तुमसे भिन्न है। किन्तु मनुष्य (नीहारेण प्रावृता जल्प्या) अज्ञानसे ढके हुए होनेके कारण वृथा जल्प करते हैं, (च) और (उक्थशास असुतृप चरन्ति) बातूनी=बकवादी [अपने आपको ब्रह्म माननेवाले] प्राणमात्र की तृप्तिमें लगे रहते हैं।

मनुष्य अपने अज्ञानके कारण अपने अन्दर विराजमान अन्तर्यामी भगवान् को नहीं जान पाते, उस अज्ञानके कारण कई इन्द्रियभोगलोलुप अपने आपको

ब्रह्म मान बैठते हैं। 'अहंब्रह्म' माननेवालोंके लिए मन्त्रमें पढ़ा "अन्यत्" पद सर्वथा विचारणीय है। वेद स्पष्टशब्दोंमें अन्तर्यामी परमात्माको जीवात्मासे भिन्न बतारहा है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ य. ३१।१९॥

(प्रजापति अजायमान गर्भे अन्त चरति) संपूर्ण संसारका स्वामी, अजायमान=उत्पन्न न होने वाला=अजन्मा है, और जड़, चेतन सबके भीतर रहता है। (बहुधा विजायते) नाना प्रकारका जगत् उसीके सामर्थ्यसे उत्पन्न होता है। (धीरा तस्य योनिं परिपश्यन्ति) ध्यानी जन उसकी प्राप्तिके साधनों का भलीप्रकार विचार करते हैं, अथवा बुद्धिमान् लोग इस जगत्का कारण उसी ब्रह्मको जानते हैं। (तस्मिन् ह विश्वा भुवनानि तस्थु) उसीही में सारे लोक-लोकान्तर रहते हैं।

इस मन्त्रमें परमात्माको सब पदार्थोंका अन्तर्यामी कहा है कोई यह न समझ ले, कि उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें वह उत्पन्न होता होगा, इसके वास्ते 'अजायमान' पद कहा। अर्थात् वह नित्य है। और सबके अन्दर रहता हुआ इतना महान् है, कि यह सारे लोक लोकान्तर उसीमें समाए हैं।

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्य१न्या अर्कमभितो विविश्रे। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश॥ ऋ. ८।१०१।१४॥

(ह तिस्रः प्रजा अत्यायं ईयु, सचमुच तीन उत्पादक=एक कर्त्ता परमात्मा, एक जीव, तीसरा प्रकृतिरूपी उपदान अजेयताको प्राप्त हैं, (अन्या अर्क अभित नि विविश्रे) दूसरी [जीव, प्रकृति तथा विकृति] पूजनीय परमेश्वरहीमें निविष्ट हैं। (बृहत् ह भुवनेषु अन्त तस्थौ) इन सबमें गुणोंसे बड़ा प्रभु सारे लोकोंके भीतर अन्तर्यामिरूपसे स्थित है, और (पवमान हरित आविवेश) सकल संसारका पवित्रकर्त्ता भगवान् सब दिशाओं उपदिशाओंमें व्याप्त है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते। अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः। अ. १०।८।१३॥

(प्रजापतिः) प्रजापति (गर्भे अन्तः) गर्भके अन्दर=सारे संसारके बीचमें अन्तर्यामिरूपसे (चरति) विचरता है, वह (अदृश्यमान) न दीखता हुआ (बहुधा विजायते) बहुत प्रकारसे प्रसिद्ध होता है। (अर्धेन) प्रकृतिरूपी—आधे भागसे (विश्वं भुवनं) सब भुवनको (जजान) उत्पन्न करता और (यत् अस्य अर्धं) जो इसका आधा है, (स कतम केतु) वह उसका आनन्दमय स्वरूप है।

प्रजापति परमात्मा सब पदार्थमात्रके अन्दर है, वह दीखता नहीं, तथापि विविध प्रकारोंसे प्रकट होरहा है। उसका प्रकृतिरूप जो आधा भाग है, उससे सब जगत् उत्पन्न होता है, परन्तु जो उसका दूसरा आधा भाग अर्थात् आत्मिक अंश है, उसका दर्शन स्पष्ट रीतिसे नहीं होता, उसको प्रत्यक्ष करनेके जो जो उपाय हैं, उनका ही विचार करना चाहिये।

नित्य (सनातन)

भागर्यो भवदथो अन्नमदद्बहु।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्॥ अ. १०।८।२२॥

(य उत्तरावन्तं सनातनं देव उपासातै) जो अनेक उत्तमगुणयुक्त सनातन ब्रह्मकी उपासना करता है, वह (भाग्य भवत्) भाग्यशील होता है, और परमात्माकी दयासे (बहु अन्नं अदत्) अनेक भोग्य प्राप्त करता है।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥
अ. १०।८।२३॥

विद्वान् लोग (एनं सनातन आहु) इस परमात्माको सनातन कहते हैं, (पुन अद्य नव उत स्यात्) किन्तु वर्तमानमें वह नयासी रहता है, अर्थात् सनातन होता हुआ भी सदा युवा है। (अहोरात्रे अन्योअन्यस्य रूपयो प्रजायेते) दिन और रात=सृष्टि और प्रलय, एक दूसरे की अपेक्षासे होते रहते हैं।

शाकमना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः
सनादनीळः। यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु
स्पार्हमुत जेतोत दाता॥ अ. १०।५५।६

हे प्रभो! (य) जो तू (शाकमना शाक) शक्ति सम्पन्न होने से सर्व समर्थ (अरुण) सब को गति देने वाला (सुपर्ण) शोभनज्ञानवान् (शूर) दुष्टों का दलन कर्ता (मह) पूजनीय (सनात्) सनातन=नित्य (अनीळ) किसी

विशेष स्थान में न रहने वाला होता हुआ भी (आ) सर्वत्र व्यापक है। ऐसा तू (यत् चिकेत) जो कुछ जानता है, अथवा करना चाहता है, वह (सत्यम् इत्) सत्य ही होता है (तत् न मोघं) वह विफल अथवा झूठ कभी नहीं होता (उत) और तेरा (वसु स्पार्हं) धन चाहने योग्य होता है, तू (जेता उत दाता) सब को वश में रखने वाला और यथायोग्य देने वाला है।

अस्मा इदु प्रयं इव प्र यंसि भरांम्याङ्गूषं बाधे

सुवृक्ति। इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये

धियो मर्जयन्त ॥ ऋ. १।६१।२॥

(अस्मै इत् उ) इसी (इन्द्राय) प्रभु के लिये (बाधे) शत्रु को हटाने के लिये (सुवृक्ति आंगुषं) उत्तम भाषण युक्त स्तवन (प्रयंसि) करता हूं और (प्रय इव) अन्न के समान (प्रभरामि) उसको हृदय में धारण करता हूं। सब उपासक (धिय मर्जयन्त) अपनी बुद्धियों को शुद्ध करते हुए (हृदा) हृदय (मनसा) मन और (मनीषा) बुद्धि से (प्रत्नाय पत्ये) पुरातन=सनातन स्वामी प्रभु के लिये अपने शब्द अर्पण करते हैं।

प्रार्थना तब सुनी जाती है जब वह शुद्ध भाव और पवित्र मनोवृत्ति के साथ उच्चारी जाती है। सब उपासक अपनी प्रार्थनायें इसी प्रकार उसको अर्पण करें। उपासक अपने अन्दर परमात्मा के प्रति ऐसी उत्सुकता उत्पन्न करे, जैसे एक भूखेकी अन्नके प्रति होती है।

पवित्र

एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।

शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान्ममत्तु ॥

ऋ. ८।९५।७॥

(एतो) सब लोग आओ। हम सब (शुद्धेन साम्ना) पवित्र साम से (शुद्धं इन्द्रं नु स्तावम) पवित्र इन्द्र=परमात्मा की ही स्तुति करें, और (शुद्धैः उक्थैः) शुद्ध वचनों से अथवा ऋचाओं के द्वारा (वावृध्वांसं) दोष रहित भगवान् की स्तुति करें। (शुद्धः आशीर्वान् ममत्तु) वह पवित्र तथा आश्रयदाता (सबको) सुख देता है।

परमेश्वर सर्वथा दोषरहित, और पवित्र है, पवित्र वेद मन्त्रों, तथा पुनीत वाक्यों द्वारा उसकी स्तुति करनी चाहिये।

इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः ॥
ऋ. ८ । ६५ । ८ ॥

हे (इन्द्र) ! अखण्डैश्वर्य्यसम्पन्न विभो ! (शुद्धाभिः ऊतिभिः शुद्धः) पवित्र रक्षाओं के द्वारा शोधक और (शुद्धः) स्वयं पवित्र तू (न आ गहि) हमें सर्वथा प्राप्त हो । (शुद्धः रयिं निधारय) तू शुद्ध धन देता है । और (शुद्धः) पवित्र तथा (सोम्य) सौम्य तू (ममद्धि) हम सब को आनन्दित करता है ।

एष सूर्य्यमरोचयत्पवमानो विचर्षणिः ।
विश्वा धामानि विश्ववित् ॥ ऋ. ९।२८।५॥

(एष विचर्षणि पवमानः सूर्य्यम अरोचयत्) यह सर्वज्ञ पवित्र प्रभु सूर्य्य को प्रकाशित करता है, और वही (विश्ववित्) सर्वव्यापक, सब से विचार करने योग्य सब से जानने योग्य प्रभु (विश्वा धामानि) सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों को प्रकाश युक्त करता है ।

विश्वो यस्य व्रते जनो दाधार धर्मणस्पतेः ।
पुनानस्य प्रभूवसोः ॥ ऋ. ९।३५।६॥

(यस्य) जिस (प्रभूवसोः) प्रभूत ऐश्वर्य्यसम्पन्न (पुनानस्य) पवित्र (धर्म्मणः पते) नियम पालक प्रभु के (व्रते) व्रत=नियम में (विश्व जन) सारा संसार (दाधार) अपनी सत्ता धारण कर रहा है, उस पवित्र परमात्मा की भक्ति से अपने मन, वाक, काय को पवित्र करना चाहिये ।

सृष्टिकर्त्ता

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि
विश्वा । परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना
सम्बभूव ॥ ऋ. १०।१२५।८॥

परमेश्वर उपदेश करता है—(विश्वा भुवनानि आरभमाणा) सब भुवनों को बनाता हुआ (अहं एव) मैं ही (वात इव) वायु की भांति (प्रवामि) इन सब को गति देता हूं । अथवा नाश करता हूं । मैं (दिव परः) द्युलोक से परे हूं, (एना पृथिव्या परः) इस पृथिवी से भी परे हूं । (एतावती) यह दृश्यमान सृष्टि मेरी (महिना संबभव) महिमा है, अथवा मेरी महती

शक्ति से उत्पन्न हुई है ।

परमेश्वर सारी सृष्टि की रचना करता है

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि

विश्वा । तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टार-

मिह यक्षि विद्वान् ॥ ऋ. १०।११०।९॥

(य इमे द्यावापृथिवी जनित्री) जो इस द्युलोक और पृथिवी लोक को उत्पन्न करता है. और (विश्वा भुवनानि रूपै अपिंशत्) सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों को तत्तद्रूप से युक्त करता है, हे (होत) होता ! (अद्य) तू आज (विद्वान्) इस रहस्य को जानता हुआ (इषित) विज्ञान युक्तहोकर, सदिच्छा से प्रेरित होकर (यजीयान्) अत्यन्त यजनशील होता हुआ (तं देवं त्वष्टारं) उस कमनीय सृष्टि कर्ता की (इह) इस स्थान में (आ यक्षि) भली प्रकार पूजा कर ।

मनुष्य को चाहिये कि इन लोक लोकान्तरों की रचना का विवेचन कर इनके रचयिता की खोज करे । उसका ज्ञान प्राप्त कर अत्यन्त उत्सुकता तथा भक्ति से निरन्तर उसकी पूजा कर अपना कल्याण साधे ।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं

सत्यधर्मा जजान । यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ. १०।१२१।९॥

(य सत्यधर्मा) जो अटल नियमों का धारण करने वाला है और (य वा दिवं जजान) जो द्युलोक का बनाने वाला है और (य पृथिव्या जनिता) जो पृथिवी का उत्पन्न करता है वह (मा नो हिंसीत्) हम सब को कष्ट न दे। (य चन्द्राः) जो आनन्दकारक (बृहतीः अपः) बड़ा प्राकृतिक सृष्टी को (जजान) उत्पन्न करता है, उस (कस्मै देवाय हविषा विधेम) आनन्दकारक परमात्मा की उपासना यज्ञद्वारा हम सब को करनी चाहिये ।

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।

जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ऋ. १।४।१॥

(गोदुहे सुदुघां इव) गौ का दूध निकालने के समय उत्तम दूध देने वाली गौ की जैसी इच्छा की जाती है, उसी प्रकार (ऊतये) अपनी रक्षा करने के लिये, ज्ञान प्राप्ति के निमित्त (द्यवि द्यवि) प्रतिदिन (सु-रूप-कृत्नुं)

उत्तम रूप बनाने वाले=सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की (जुहमसि) प्रार्थना करते हैं।

परमेश्वर इस जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंको सुन्दर रूप देता है, और वह सबका उत्तम रक्षक है। अतएव अपनी रक्षा करनेके लिये तथा अपनी अवस्था उत्तम बनानेके लिये हर एकको प्रति दिन उसकी प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये।

अस्माकमस्तु केवलः॥ ऋ. १।१३।१०॥

(इह) इसी जन्म में (अग्रियं) अग्रपूज्य, प्रथम (विश्वरूपं) सब को रूप देने वाले (त्वष्टारं) त्वष्टा अर्थात् कारीगर=सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की (उपह्वये) प्रार्थना करता हूं। वह (केवल) केवल=सुखस्वरूप (अस्माकं अस्तु) हमारे पास रहने वाला होवे। अथवा वही हमारा केवल=उपास्य हो।

परमेश्वर सब से पहिला कारीगर है, जिसने सब जगत् के पदार्थों को रूप दिया है। वह हमारा सहायक होवे। इसी प्रकार जो कारीगर सुन्दर आकार वाले पदार्थ बनाते हैं, वे भी हमारे संघ में होवें, जिस से हमारा संघ सदा उन्नत हो, क्योंकि कारीगरी से ही उन्नति होता है।

त्वमग्ने पुरुरूपो विशेविशे वयो दधासि प्रत्नथा

पुरुष्टुत। पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि त्विषिः सा

ते तित्विषाणस्य नाधृषे॥ ऋ. ५।८।५॥

हे (पुरुष्टुत अग्ने) अति प्रशंसित तेजस्वी देव! (त्वं पुरुरूप) तू सब को रूप देने वाला (विशे विशे) प्रत्येक पदार्थ के अन्दर (प्रत्नथा) प्राचीन काल से (वय दधासि) आयु बल आदि धारण करता है। (सहसा) अपने बल से (पुरूणि अन्ना) अनेक अन्नों से (वि राजसि) शोभता है। (तित्विषाणस्य ते) तेज से युक्त तेरा (त्विषिः) प्रकाश (न आधृषे) दूसरों के कारण कम नहीं होता।

हे ईश्वर! सब जगत्को तूने रूप दिया है। प्रत्येक प्राणिमात्रको बल, आयु और आरोग्य तू ही देता है। सब भोग्य पदार्थ देने के कारण तेरी ही शोभा बढ़ रही है। और तेरा तेज ऐसा है कि, जो किसी प्रकार भी अन्योंके द्वारा न्यून नहीं हो सकता।

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्

कथासीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्या-
मौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ यजु. १७।१८॥

इस जगत् का (अधिष्ठानं) आधार (किंस्वित् आसीत्) क्या है, अथवा कैसा आश्चर्यमय है । और इसका (आरम्भणं) उपादानकारण (कतमत्स्वित्) कौन सा तथा (कथा आसीत्) किस प्रकार का है । (यत) जिस से (विश्व-चक्षा) सर्वज्ञ (विश्व कर्मा) विश्वका कर्त्ता प्रभु (भूमिं द्यां जनयन्) प्रकाश और अप्रकाश लोकों की रचना करके (महिना) अपने महत्व से (वि-और्णोत्) विविध प्रकार से आच्छादित करता है ।

इस मन्त्रमें जगत्के उपादानकारणकी अन्वेषणा की सूचना है । प्रभुको सर्वज्ञ तथा विश्व-रचयिता कहा है विश्वकर्माके साथ विश्वचक्षा=सर्वज्ञ विशेषण अत्यन्त उपयुक्त तथा महत्वयुक्त है । सृष्टिकर्ताका सर्वज्ञ होना आवश्यक है यह इस मन्त्रमें दर्शाया गया है ।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत
विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै र्द्यावा-
भूमी जनयन् देव एकः ॥ यजु. १७।१९

(विश्वतः-चक्षु) सर्वत्र जिसकी दर्शन शक्ति है और (विश्वतः-मुखः) सर्वत्र जिसका उपदेश हो रहा है, (विश्वतः-बाहु) सर्वत्र जिसकी वाहक शक्तियां है, (उत) और (विश्वत-पात्) सर्वत्र जिसकी व्याप्ति है (एक) अद्वितीय, अकेला (देव) दिव्य गुणयुक्त प्रभु (पतत्रैः) परमाणु आदि से (द्यावाभूमी) प्रकाशाप्रकाश सृष्टि को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (बाहुभ्याम्) अपनी धारण-आकर्षण शक्तियों से (सं धमति) गति=जीवन दे रहा है ।

बड़े स्पष्ट शब्दों में परमात्माको सृष्टिकर्त्ता बतलाते हुए सर्वव्यापक भी कहा गया है जो सर्वव्यापक नहीं, वह सृष्टि रचनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? साथ ही यह भी बतला दिया, कि वह अकेला ही सृष्टि रचता है ।

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता
पृथिव्याः । जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य
जनितोत विष्णोः ॥ सा. पू. ६।४।३॥

(मतीनां जनिता) वेद ज्ञान का उत्पन्न करने वाला, (दिवं जनिता) द्युलोक का पैदा करने वाला (पृथिव्याः जनिता) पृथिवी का सर्जनहार (अग्नेः जनिता) अग्नि का उत्पादक (सूर्यस्य जनिता) सूर्य्य का उत्पादयिता (इन्द्रस्य जनिता) इन्द्र=विद्युत्, वायुः, ऐश्वर्य्य का स्रष्टा (उत) और विष्णोः जनिता) विष्णु=यज्ञ, जल का स्रष्टा (सोम) सारे संसार का स्रष्टा पवित्र कर्त्ता, ऐश्वर्य प्रदाता, महाज्ञानी, सब का वशी प्रभु (पवते) सब को गति देता है, पवित्र करता है।

अजन्मा।

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः
सत्यैः। प्रिया पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने
गुहा गुहं गाः॥ ऋ. १।६७।३॥

(न) जैसे (अज) न जन्मने वाला=अजन्मा परमेश्वर (सत्यै मन्त्रै) न टूटने वाले विचारोंसे (क्षा दाधार) पृथिवीको धारण करता है, (पृथिवीं द्यां तस्तम्भ) विस्तृत अन्तरिक्ष तथा द्युलोक अथवा सूर्य्यादि तेजस्वी पदार्थोंको (स्तभ्नाति) गिरनेसे रोकता है। (प्रिया पदानि) प्रीतिकारक प्रासव्य पदार्थोंको देता है, (विश्वायु) सम्पूर्ण आयु देने वाला, (पश्व) बन्धनसे (निपाहि) सर्वथा छुड़ाता है। (गुहा) बुद्धि में स्थित हुआ वह (गुहं) गुह्य पदार्थको (गा) जानता है, वैसे ही तू भी, हे (अग्ने) विद्वन् जीव ! हमें अज्ञानादिसे छुड़ा कर प्राप्तव्यकी प्राप्ति करा।

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात् पृथिवी
समुद्रः। विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः
कविशस्ता अवन्तु॥ ऋ. ६।५०।१४।

हे मनुष्यो ! (एकपात्) संसारमें जिसका एक पाद है, अर्थात् संसार जिसकी अपेक्षासे अत्यन्त छोटा है। ऐसा (अज) अजन्मा परमात्मा (नः) हमारी प्रार्थनाको (शृणोतु) सुने, जिससे (बुध्न्य) अन्तरिक्षमें होने वाला (अहि) मेघ (उत) और (पृथिवी) भूमि (समुद्रः) अन्तरिक्ष और (ऋतावृधः) सत्यकी वृद्धि करने वाले (हुवान) आह्वान करने वाले (विश्वे देवाः) सम्पूर्ण विद्वान् और (कविशस्ता) परमात्मासे

उपदिष्ट, (स्तुता) ऋषियों, विद्वानों द्वारा प्रशंसित अथवा अध्यापित (मन्त्राः) वेद अथवा विचार (अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

शन्नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं
समुद्रः। शन्नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्नि-
र्भवतु देवगोपाः ॥ ऋ. ७।३५।१३॥

(एकपात्) एकपात् (अजः) अजन्मा परमेश्वर (नः) हमारे लिये (शं) कल्याणकारी (अस्तु) होवे (बुध्न्य अहि न शं) अन्तरिक्षमें होने वाले मेघ हमारे लिए कल्याणकारी हों। (समुद्र शं) समुद्र सुखदायी हो। (नपात् अपां पेरु) पाद रहित होकर जलोंको पार करने वाली अर्थात् नौका आदि (न शं) हमारे सुखकारक हों। (देवगोपाः पृश्नि न शं भवतु) सूर्य्यादिकी रक्षा करने वाला अन्तरिक्ष हमारे लिये सुखकारी हो।

ऊपर के दोनों मन्त्रोंमें प्रयुक्त "एकपात्" शब्द एक विशेष निर्देश कर रहा है। 'पादो अस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' यजु ३१।३॥

यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड मानों प्रभुके एक पादमें समाया है। परमात्मा इससे कहीं बड़ा है। उसका शेष भाग स्वप्रकाशमें स्थित है।

अनादि।

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥ सा. पू. ५।२।१॥

हे (इन्द्र) अखण्डैश्वर्य्यसम्पन्न परमेश्वर! (त्वं) तू (अभ्रातृव्य) शत्रु रहित है, अथवा किसीका शत्रु नहीं है (अनापिः) बन्धु रहित है, अथवा किसीका बन्धु नहीं है (अना) तेरा कोई नेता नहीं है अथवा तेरा कोई नर=सेवक=नौकर नहीं है, अर्थात् तू स्वकार्य्यमें दूसरेकी सहायता की अपेक्षा नहीं करता, (जनुषा सनात् असि) तू जन्मसे सनातन है, अर्थात् तू जन्म=आदि से रहित अनादि है, (युधा इत्) उद्योगसे ही तू बन्धुताको स्वीकार करता है।

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः।
वज्रिं चित्रं हवामहे ॥ सा. उ. १।१।२२॥

हे (अपूर्व्य) अनादि परमात्मन्! (वज्रिन्) पाप वारक प्रभो! (अवस्यवः वय) रक्षाके अभिलाषी हम लोग (त्वाम् उ) तुझ ही (चित्रं) अद्भुत (स्थूरं) अविनाशीकी (हवामहे) कामना करते हैं (न) जिस

प्रकार अन्य रक्षाभिलाषी लोग (कश्चित् स्थूरं भरन्त) किसी महापुरुष का आश्रय करते है।

निर्विकार

अदितिर्न उरुष्यत्वदितिः शर्म यच्छतु। माता मित्रस्य रेवतोऽर्यम्णो वरुणस्य चानेहसो व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः॥ ऋ. ८।४७।९॥

(अदिति) अखण्डनीय=निर्विकार परमात्मा (न उरुष्यतु) हमें उन्नत करे। (अदिति शर्मयच्छतु) निर्विकार जगदीश्वर, हमें, कल्याण=ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख प्रदान करे, वह निर्विकार परमेश्वर (मित्रस्य रेवत) सबसे स्नेह करने वाले धनीका और (अर्यम्ण वरुणस्य) न्यायकारी धार्मिक राजा का (माता) मान करने वाला है। हे विद्वानों। (व) तुम्हारे लिए उसकी (अनेहस) निर्दोष, पाप रहित (ऊतय) रक्षाएं होवें, तथा उसकी (ऊतय) प्रीतिएं (व) तुम्हारे लिए (सु उतय) अच्छे प्रकारसे अर्थसाधिका हों॥

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम्। अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां हविष्मान्॥ ऋ. १।१६२।२२॥

(वाजी) धनधान्यका स्वामी, शक्तिसंपन्न प्रभु (न) हमें (सुगव्यं) अच्छा गौ-आदि धन, (सु-अश्व्यम्) सुन्दर अश्वादि संपत्ति (उत) और (पुंस पुत्रान्) बलवीर्य्यसंपन्न पुरुषार्थी सन्तान तथा (विश्वापुषम्) सब प्रकारकी पुष्टि देने वाला (रयिम्) धन देवे। (हविष्मान्) हवि-नाना दानयुक्त (अश्व) व्यापक विज्ञानी प्रभु (न क्षत्रं वनताम्) हमें राज्य दे, (अदिति) अखण्डित=निर्विकार परमात्मा (न) हमारा (अनागास्त्वं) पापराहित्य=निर्दोषता (कृणोतु) करे॥

परमेश्वर ही सब संपत्तियोंका दाता है, वही हमारे कुकर्मोंका दण्ड देकर हमें निर्दोष कर सकता है॥

इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य वेद स हि जिष्णुः पथिकृत्सूर्याय। आन्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद्गोः पतिर्दिवः सनजा अप्रतीतः॥ ऋ. १०।१११।३॥

(इन्द्र किल) परमेश्वर ही (अस्य श्रुत्यै) इसके सुननेको (वेद)

जानता है, अर्थात् परमात्मा ही भक्तकी प्रार्थना सुन सकता है। (स हि जिष्णु सूर्य्याय पथिकृत्) वही जयशील=सर्वोत्कृष्ट प्रभु सूर्य्यके लिए मार्ग बनाता है। (अच्युत) वह निर्विकार (मेनाम्) मनन साधन वेद विद्याको (आत्) सुन्दर रीति से (कृण्वन्) रचना हुआ (गो दिव पति) पृथिवी और द्युलोकका स्वामी (भुवत्) होता है। (सनजा) सेवनीय पदार्थोंको उत्पन्न करता हुआ भी वह (अप्रतीत) अलक्ष्य है=इन्द्रियागोचर है, अथवा (अप्रति-इतः) जिसका कोई प्रतिनिधि या तुल्य नहीं है अर्थात् अनुपम है॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ऋ. १।१६४।३९॥

(ऋचः) ऋग्वेदादिसे प्रतिपादित (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) सर्वव्यापक (अक्षरे) विकाररहित परमेश्वरमें (विश्वे) सब (देवा) सूर्य्य चन्द्र भूमि आदि (अधि निषेदुः) आधेय रूपसे स्थित हैं, (तं य न वेद) उस परब्रह्म परमेश्वर को जो नहीं जानता है, वह (ऋचा) वेदसे (किं करिष्यति) क्या करेगा, अर्थात् उसका वेदाध्ययन निष्फल है। (य तद् विदु) जो मनुष्य उस प्रभु को जान लेते हैं, (ते इमे इत् समासते) वे ही इस ब्रह्ममें भली प्रकार स्थित होते हैं।

वेद पढ़नेका लाभ तभी है, कि वेद पढ़नेसे ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा जगत्का जो शाब्दिक ज्ञान प्राप्त हुआ है, उस ज्ञानको चरितार्थ करनेके लिए योग साधन द्वारा उनका साक्षात् करनेका प्रयत्न करें॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ अ. १०।८।४४॥

(अकाम) निष्काम, (धीर) धैर्यवान्=निर्भय (अमृत) अमर, (स्वयंभू) स्वयं होनेवाला=स्वसत्तामें परानपेक्ष=अनादि (रसेन तृप्तः) रससे तृप्त=आनन्दमय (कुतश्चन न ऊन.) कहीं से भी न्यून नहीं है। अर्थात् उसमें कोई विकार नहीं आता (तं एव धीरं) उसी ज्ञानी अथवा निर्भय (अजरं) अजर (युवानं) सदा जवान (आत्मानं) सर्वव्यापक परमात्माको (विद्वान्) जानने वाला (मृत्योः) मृत्यु=जन्म मरणसे (न बिभाय) नहीं डरता है।

परमात्मज्ञान से मुक्ति हो जाती है, फिर जन्ममरणसे क्या भय ? यजुर्वेदमें भी "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था " उसी (परमात्मा) ही को जान कर मृत्यु=जन्ममरणको उल्लंघन कर जाता है, इसके लिए अन्य उपाय नहीं है ॥

अभय

अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः । उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः ॥ ऋ० २।२७।१४॥

हे (अदिते) निर्विकार अतएव (वरुण) सर्व श्रेष्ठ (मित्र) प्रीति करने योग्य परमात्मन् ! (वयं यत् कच्चित् व आगः चकृम) हमने जो कोई आप का पाप [आज्ञोल्लंघन रूप] किया हो, उसकी (मृळ) शुद्धि कर दे । हे (इन्द्र) अविद्यान्धकार विनाशक विभो ! (अभयं उरु ज्योतिः अश्याम्) तुझ अभय महान प्रकाशस्वरूप को हम प्राप्त करें, जिससे (दीर्घा) दीर्घ (तमिस्रा) अन्धकार, अथवा व्याकुलतामयी रात्रियें (नः) हमें (मा) न (अभि नशन्) प्राप्त हों ।

उताभये पुरुहूत श्रवोभिरेको दृळ्हमवदो वृत्रहा सन् । इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते ॥ ऋ० ३।३०।५॥

हे (पुरुहूत) अनेकों से स्तूयमान प्रभो ! तुझ (एक) अद्वितीय (सन) तीनों लोकों में वर्तमान (वृत्र-हा) अज्ञाननिवारक प्रभु ने (श्रवोभिः) यश पूर्ण वेदवचनों द्वारा अपने (अभये) अभयस्वरूप के विषय में (दृळ्हम् अवदः उत) दृढ़ उपदेश किया ही है । (इन्द्र) हे लोक-धारक प्रभो ! (यत्) जो तू (इमे अपारे रोदसी चित्) इन अपार लोक-लोकान्तरों को (सं गृभ्णा) ग्रहण=धारण करता है=वशमें रखता है । हे (मघवन्) अनेक महिमसम्पन्न ! वह (ते) तेरे (काशिः इत्) स्वरूप का प्रकाश ही है ।

परमेश्वर इन लोक लोकान्तरों का धारण पोषण करता हुआ अपने अभय स्वरूप [जिस से किसी को भय न हो, और जिसे किसी का भय न हो] का परिचय दे रहा है ।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ अ० १।२१।१॥

(स्वस्तिदा) कल्याण देने वाला (विशां पतिः) प्रजापति (वृत्रहा) अज्ञान निवारक, पाप नाशक (विमृध वशी) दुष्टों=हिंसकोंको वशमें रखने वाला (वृषा) सुखकी वृष्टि करने वाला, शक्तिशाली (सोमपाः) संसार रक्षक, जगत्पाता (अभयंकर) निर्भय करने वाला किसी से भय न करने वाला=निर्भय=अभय (इन्द्र) सकल-सामर्थ्य-संपन्न प्रभु (नः पुर एतु) हमारे समक्ष रहे। अर्थात उसे हम कभी भी न भुलाएं, सदा स्मरण रखें।

सत्-चित्- आनन्द

सारे आस्तिक परमेश्वर को सत्=सदा रहने वाला, चित्=चेतन तथा आनन्दस्वरूप मानते हैं। इस में आस्तिकोंका कोई विवाद नहीं। जब परमेश्वरके नाना गुणों का कीर्तन किया गया, तो उसकी सत्तामें सन्देह ही कैसा? उसकी सत्ता उसीसे=गुण वर्णनसे ही सिद्ध होगई। सर्वज्ञ कहनेसे उसका चेतन होना भी स्पष्ट सिद्ध है। तो भी स्पष्ट प्रतिपत्तिके लिये कुछ एक मन्त्र यहां ऐसे देते हैं जिनमें परमेश्वरके इस सर्वमान्य लक्षणके घटक शब्द अथवा इनके पर्य्यायवाची शब्द पढ़े हैं—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सञ्च वि चैति सर्वᳬ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ यजु. ३२।८॥

(वेन) मेधावी पुरुष (तत्) उस (सत्) सत् स्वरूप=सदा रहने वाले (निहितम्) नितरां हितकारी भगवान् को (गुहा) हृदय गुहा में (पश्यत्) साक्षात् करता है (यत्र विश्वं एकनीडं भवति) जिस प्रभु में सारा संसार समानाश्रयवाला होकर रहता है (इदं सर्व तस्मिन् स एति च वि च) यह सारा जगत् उस में लीन होता है और उत्पन्न होकर उसी में रहता है (स विभू प्रजासु ओत च प्रोत) वह विभू=व्यापक, नाना-विभूति-सम्पन्न परमात्मा सारे संसार में ओत और प्रोत है।

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥ यजु. ३२।९॥

(गन्धर्वः) वेद वाणी का धारण करने वाले (विद्वान्) ज्ञानी (तु) ही (तत्) उस परम प्रसिद्ध सत्) सत् स्वरूप (अमृतं) अविनाशी (धाम) तेजस्वी (गुहा वि भृतं) हृदय गुहा में विशेष रूप से धारित प्रभु का (प्र) उत्तम रीति से (वोचत्) उपदेश कर सकता है। (अस्य पितुः) इस जगत्पिता की (गुहा हिता) अत्यन्त गुप्त (त्रीणि पदानि) तीन अवस्थायें गतियें=उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व—को (यः वेद) जो पुरुष जानता है (स पिता असत्) वह पिता=ज्ञानी होता है।

शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जार पप्रा समीची दिवो
न ज्योतिः। परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ भुवो
देवानां पिता पुत्रः सन् ॥ ऋ. १।६९।१॥

परमेश्वर (उष जार) ऊषाको समाप्त करने वाले=सूर्य के (न) समान (शुक्रः) शुद्ध, तेजस्वी तथा (शुशुक्वान्) सर्व प्रकाशक है। (दिव. ज्योतिः) सूर्य्य के प्रकाशकी (न) भांति (समीची) दोनों लोकों को ज्योति से (पप्रा) परिपूर्ण करता है। वह अपने (क्रत्वा) सृष्टि रचना आदि कार्यों से (परि) सर्वत्र (प्रजातः) अत्यन्त प्रसिद्ध (बभूथ) है। वह (सन्) सत् स्वरूप (देवानां) विद्वानों का, सूर्यादि का (पिता) उत्पादक पालक तथा (पुत्रः) पवित्र कर्त्ता (भुव) है।

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या
पुरूणि। अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो
अमृतानि विश्वा ॥ ऋ. १।७२।१॥

जो (अग्नि) ज्ञानी मनुष्य (शश्वत) अनादि नित्य सत्स्वरूप (वेधस) सकलविद्याविधाता=ज्ञानी=चित्स्वरूप परमेश्वरसे प्रकाशित (पुरूणि) बड़े=महत्व युक्त (सत्रा) सत्यार्थ के प्रकाशक (अमृतानि) नाश न होने वाले अथवा मोक्ष पर्य्यन्त पदार्थों के प्रकाश करने वाले (नर्या) मनुष्यों के लिये हितकारी (विश्वा) सम्पूर्ण (काव्या) ज्ञानमय वेदों को (दधान) धारण करता हुआ, प्रचारार्थ (हस्ते चक्राणः) हाथ में लेकर (नि: कः) नियमपूर्वक निश्चयसे आचरण करता है (स रयीणां रयिपति भुवत्) वह सब ऐश्वर्य्यों का स्वामी हो जाता है।

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पति-

ष्यन । तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान् स्वर्गः
पन्थाः सुकृते देवयानः ॥ अ. १८।४।१४॥

जो ईजान यज्ञ करने वाला, परमात्मपूजा करने वाला, विद्वानों का आदर करने वाला सत्सङ्गति करने वाला मनुष्य (नाकस्य पृष्ठात्) सुख की स्थिति से (दिव उत्पतिष्यन) मोक्ष के लिये उद्योग करता हुआ (चित अग्नि) चेतन परमात्माको (आरुक्षत्) प्राप्त होता है। (तस्मै) उसीको (देवयान) विद्वानोंसे प्राप्त अथवा विद्वान जिससे जाते हैं ऐसा (नभस ज्योतिषीमान) सदा प्रकाशमय द्युलोकसे भी अधिक प्रकाशमान (सुकृते सुकर्म फल-स्वरूप स्वर्ग पन्था प्रभाति) मोक्ष तक पहुंचाने वाला मार्ग भली प्रकार सूझता है।

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदारुजे वसु ॥ य० ३६।५॥

(मदानां महिष्ठ) आनन्दवालों से अत्यन्त पूजनीय (सत्य) सज्जन हितैषी त्रिकालाबाधित सत्स्वरूप (कः) आनन्द स्वरूप परमेश्वर (त्वा) तुझको (मत्सत्) आनन्दयुक्त करता है। वह (चित्) चित्स्वरूप ज्ञानी परमेश्वर (आरुजे) दुःख पाने वाले जीव को (दृढा) दृढ़ अर्थात् शीघ्र लुप्त न होने वाला (वसु) मोक्ष रूप धन देता है।

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता ॥ ऋ. ४।३१।१॥

(सदा वृध) सदासे महान् और (चित्र) आश्चर्यकारक ईश्वर (कया ऊती) आनन्दमय रक्षणके द्वारा, (कया शचिष्ठया) आनन्दमय महाशक्ति द्वारा, और (वृता) आवर्तन अर्थात् वारंवार सृष्टिरचनादि कर्म करने द्वारा (नः) हम सब का (सखा) मित्र (आ भुवत) होता है।

सब कालोंमें सबसे श्रेष्ठ, सबसे विलक्षण ईश्वर कल्याणकारक रक्षणके द्वारा और अपनी आनन्ददायक महाशक्ति के तथा वारंवार कर्म करने के सामर्थ्यके साथ हम सबका मित्र होता है। अर्थात् मित्रके समान हम सबका भला करता है। वह इतना हितकारी कार्य करता है कि उसकी कोई उपमा ही नहीं है।

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदारुजे वसु ॥ ऋ. ४।३१।२॥

हे ईश्वर! तू (अन्धसः) अन्नादि भोगोंके (मदानां) आनंदोंसे भी (मंहिष्ठः) अधिक आनंदकारक और (सत्यः) तीनों कालोंमें एक जैसा है, इसलिये (कः) कौन (त्वा) तुझे (मत्सद्) आनंदित कर सकता है? तू (चित्) ज्ञानी (दृढा=दृढानि) बलवान् (वसु) पृथिवी आदि पदार्थों को भी (आ रुजे) छिन्न-भिन्न करता है।

अन्न आदि भोगों से जो आनंद होता है, उससे अधिक आनंद तेरी प्राप्ति से होता है। और तू सदा एक जैसा रहता है तुझमें न्यूनता, अधिकता कभी भी नहीं होती। तुझे आनन्द देनेवाला कोई नहीं, परंतु तू ही सब को आनंदित करता है। तू इतना बलवान् है कि पृथिवी आदि सब दृढ पदार्थों को प्रलयकाल में छिन्न-भिन्न करता है।

इसी मंत्रका दूसरा अर्थ दायेंये—

हे मनुष्य! वह (चित्) ज्ञानी-चित्स्वरूप (कः) आनंदस्वरूप (सत्य) आनंदोंके कारण महान् श्रेष्ठ ईश्वर (त्वा) तुझे (अन्धसः) अन्नादिक भोगों से (मत्सत्) आनंदित करता है। और (दृढा वसु) बलकारक धनोंको (आरुजे) दु:खविनाशके लिये देता है।

वह आनन्दमय, सत्य और महान ईश्वर अन्न आदि भोग और बलयुक्त धन, मनुष्योंको आपत्तियोंका विनाश करने के लिये, देकर उनको आनंदित करता है।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे
कम्। यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योना-
वध्यैरयन्त॥ अ. २।१।५॥

(विश्वा भुवनानि) सब भुवनोंमें (परीत्य) घूमकर (ऋतस्य) सत्यके (विततं) फैले हुए (कं तंतु) आनंददायक सूत्रको (दृशे) देखनेके लिये (आयं) मैं आया हूं। (यत्र) जिसमें (देवा) विद्वान् (अमृत आनशाना) अमरत्वको प्राप्त करते हुए=मोक्ष का उपभोग करते हुए (समाने योनौ) समान स्थानमें (अध्यैरयन्त) पहुंचते हैं।

संपूर्ण जगत्के तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करके सत्य के फैले हुए तंतु अर्थात् सूत्रात्माको देखने की मैं अब इच्छा करता हूं। क्योंकि वह सब आनंदका केंद्र है। इसीमें सब ज्ञानी तथा श्रेष्ठ आत्मा अमरत्वको अनुभव करते हैं और समान स्थानमें विराजते हैं॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक

आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥ ऋ. १०।१२१।१॥

(हिरण्य-गर्भ) जिसके गर्भमें अनेक तेजस्वी पदार्थ हैं वह परमात्मा (अग्रे) सृष्टिके पूर्व (समवर्तत) था। वह (भूतस्य) सब बने हुए संसारका (एक पति) एकही स्वामी (जात आसीत्) प्रसिद्ध है। (स पृथिवीं दाधार) उसने पृथ्वीको धारण किया है (उत इमां द्यां) और इस द्युलोकको भी धारण किया है। (कस्मै) उस आनंदस्वरूप (देवाय) एक देवकी ही (हविषा) यज्ञके द्वारा (विधेम) हम सब उपासना करें।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं
यस्य देवाः। यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै
देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ. १०।१२१।२॥

(य आत्म दा) जो आत्मिक तेज देता है, और (बलदा) जो बल देता है (विश्वे देवा यस्य प्रशिषं) सब ज्ञानी जिसकी आज्ञा (उपासते) मानते हैं (यस्य छाया) जिसका आश्रय (अमृतं) अमरपन है, और (यस्य) जिससे दूर होना ही (मृत्यु) मरण है, उस (कस्मै देवाय हविषा विधेम) सुखात्मक एक देवकी ही उपासना यज्ञके द्वारा हम सबको करनी चाहिए।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो
बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥ ऋ. १।१२१।३॥

(प्राणत निमिषत) प्राण धारण करनेवाले और हलचल करनेवाले (जगतः) जगत्का (महित्वा) महत्ता के कारण (य एक इत्) जो एकही (राजा बभूव) राजा है, (अस्य द्विपद चतुष्पद) इस जगत्के दो पांव वाले और चार पांव वाले प्राणियोंपर (य. ईशे) जो अकेला प्रभुत्व करता है, उस (कस्मै०) आनन्दस्वरूप परमात्माकी यज्ञद्वारा उपासना हम सबको करनी चाहिए।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया
सहाहुः। यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥ ऋ. १०।१२१।४॥

(इमे हिमवन्तः) ये हिममय पर्वत और (रसया सह) पृथ्वी के साथ (समुद्रं) समुद्र (यस्य महित्वा) जिस की महत्ता की प्रशंसा (आहुः) कर रहे हैं। और (यस्य बाहू) जिसके बाहू (इमाः प्रदिशः) इन दिशा उपदिशाओंमें रक्षण का कार्य कर रहे हैं, उस (कस्मै०) आनंदस्वरूप परमात्माकी ही उपासना यज्ञद्वारा हम सबको करनी चाहिए।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ. १०।१२१।५॥

(येन) जिसने (उग्रा द्यौः) तेजोमय द्युलोक (च) तथा (दृढा पृथिवी) दृढ पृथिवी को धारण किया है (येन स्वः स्वभितं) जो प्रकाशको वशमें रखता है और (येन नाकः) जो आनन्द देता है (यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः) जो अन्तरिक्ष=आकाशमें लोकोंकी रचना करता है उस (कस्मै देवाय हविषा विधेम) आनन्दस्वरूप परमात्माकी श्रद्धासे हम भक्ति करें।

यं क्रंदसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने। यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ. १०।१२१।६॥

जिसके (अवसा तस्तभाने) बलसे स्थिर रखे हुए परन्तु वास्तव में (रेजमाने) गतिमान् (क्रंदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक में रहने वाले ज्ञानी (मनसा) मन से (यं) जिस को (अभ्यैक्षेता) देखते है। और (यत्र) जिस में (उदित सूर) उदय हुआ सूर्य (अधि विभाति) विशेष प्रकाशित होता है, उस (कस्मै०) आनंदस्वरूप परमेश्वर की हम सब को उपासना यज्ञद्वारा करनी चाहिए।

जिसकी शक्तिसे स्थिर रहे हुए, परन्तु जिसके डरसे कांपने वाले अथवा चलने वाले द्युलोक और पृथिवीलोक, अर्थात् इन में रहनेवाले ज्ञानी मनुष्य मनन शक्तिद्वारा जिसको सर्वत्र देखते है, और जिस में सूर्यके समान तेजस्वी गोलोंका उदय होकर प्रकाश होता है, उस मंगलस्वरूप परमात्मा की पूजा हम सब को करनी चाहिए। उस के स्थान पर किसी अन्य की उपासना करनी उचित नहीं ॥ ७ ॥

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयं-

न्तीरग्निम्। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय

हविषा विधेम॥ ऋ. १०।१२१।७॥

(अग्निं गर्भं दधाना) अग्नि=सूर्यादि तेजोंको गर्भमें धारण करनेवाली (विश्वं जनयन्तीः) सब जगत् को उत्पन्न करनेवाली (ह यत् बृहती आपः) निश्चयसे जो बड़ी प्रवाह रूप मूल प्रकृति (आयन्) चली जा रही है। (ततः) उससे भिन्न (देवानां एकः असुः) सब देवताओंका एकही प्राणरूप परमात्मा (सं अवतर्त) उत्तमतासे वर्तमान है। उस (कस्मै०) आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपासना यज्ञद्वारा हम सबको करनी चाहिए।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयंती-

र्यज्ञम्। यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय

हविषा विधेम॥ ऋ. १०।१२१।८॥

(यज्ञं जनयन्तीः) जगद्रूपी यज्ञको उत्पन्न करनेवाली और (दक्षं दधाना) बलको धारण करनेवाली (आप) मूल प्रकृतिको (य चित् महिना) निश्चयसे जो चित्स्वरूप ज्ञानी अपनी महत्ताके कारण (परि-अपश्यत्) निरीक्षण करता है अर्थात् उससे पूर्णतया कार्य करना जानता है। (देवेषु) सब सूर्यादि देवोंमें (यः एक) जो अकेला (अधि देवः) अधिदेव=अधिराजा (आसीत्) है उस (कस्मै०) आनंदस्वरूप परमात्माकी ही हम सबको यज्ञद्वारा उपासना करनी चाहिए।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा

दिवं सत्यधर्म्मा जजान। यश्चापश्चन्द्रा बृहती-

र्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ०१०।१२१।६॥

(य सत्यधर्मा) जो अटल नियमोंका धारण करनेवाला है। और (य पृथिव्या जनिता) जो पृथिवी का उत्पादक है (वा यः दिवं जजान) और जो द्युलोकको उत्पन्न करता है) वह (नः मा हिंसीत्) हमें कष्ट न दे। (यः) जो (चन्द्राः) आह्लाददायिनी=आनन्द देने वाली (बृहती आपः) इस महती प्राकृत सृष्टिको अथवा अन्तरिक्षको (जजान) उत्पन्न करता है। उस (कस्मै देवाय०) आनन्दमय कमनीय गुणयुक्त भगवान्की यज्ञद्वारा उपासना करे।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता

बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम
पतयो रयीणाम् ॥ ऋ. १०।१२१।१०॥

हे (प्रजापते) प्रजाके स्वामिन् परमेश्वर! (एतानि ता विश्वा जातानि) इन सब जगत्के पदार्थोंपर (त्वत् अन्य) तुझसे भिन्न कोई भी दूसरा (न परि बभूव) स्वामित्व नहीं करता। (यत् कामाः) जिन इच्छाओं को धारण करते हुए हम सब (ते जुहुम) तेरा यज्ञ करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हम सबको प्राप्त होवे (और) (वयं) हम सब (रयीणां पतयः) धनोंके स्वामी (स्याम) बनें।

इस सूक्तमें परमात्माके लिए 'कः' पदका प्रयोग हुआ है 'क' शब्द के अनेक अर्थ हैं उनमें एक सुखस्वरूप=आनन्दस्वरूप है। 'क' के साथ 'देव' शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रयोजनको सुझा रहा है। देव शब्द का एक अर्थ है 'कमनीय-चाहने योग्य। अर्थात् आनन्दमय परमात्मा सदा चाहने योग्य है। इसकी उपासना हवि=यज्ञ=आत्मसमर्पणके द्वारा करना चाहिए।

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्वन्तरि-
क्षम् । यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥ अ. ४।२।

(यस्य) जिसके वशमें (उर्वी द्यौः) बड़ा द्युलोक है (च मही पृथिवी) और बड़ी पृथिवी है और (यस्य) जिसमें यह (उरु अन्तरिक्ष) विस्तृत अन्तरिक्ष हुआ है। (यस्य) जिसका (विततः) फैला हुआ (असौ सूरः) विशेष प्रकार से रचा हुआ यह सूर्य (महित्वा) महत्वके साथ चमकता है, उस (कस्मै) आनन्दस्वरूप (देवाय) देवताके लिये (हविषा) आह्वान अर्थात् स्तुतिप्रार्थनारूप मन्त्रोंद्वारा पूजा (विधेम) करें।

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता ।
सखा सख्या समिध्यसे ॥ ऋ. ८।४३।१४॥

हे अग्ने प्रकाशयुक्त जीव! (हि) सचमुच (त्वं) तू (अग्निना) प्रकाशस्वरूप (विप्रेण) मेधावी=चित्स्वरूप (सता) सत्स्वरूप (सख्या) समान ख्यानवाले आनन्दमय तथा आनन्दयुक्त सही परमेश्वरसे युक्त होकर (अग्नि विप्र सन् सखा) अग्रणी मेधावी=ज्ञानी सद्गुणविशिष्ट तथा परमात्माके समान गुणोंवाला अर्थात् आनन्दमय होकर (समिध्यसे) शोभित होता है।

जिसप्रकार अग्निसे अग्नि प्रदीप्त की जाती है जिसप्रकार विद्वान

की सत्संगति से दूसरा मनुष्य भी विद्वान् होजाता है, जैसा सज्जनोंके मेलसे दूसरे भी सज्जन बन जाते हैं। उसी प्रकार परमात्माकी सत्संगतिसे जीवात्मामें ज्ञान, आनन्द आदि अनेक उत्तम गुणों का संचार होता है। अतः सर्वदा परमात्माकी भक्ति रूप सत्संगति करनी चाहिए।

उपास्य (पूज्य=नमस्य)

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।
सखा सखिभ्यः ईड्यः। ऋ. १।७५।४॥

हे (अग्ने) तेजस्विरूप ईश्वर! (त्वं) तू (जनानां जामिः) लोगोंका बन्धु (प्रियः मित्रः) प्रिय मित्र तथा (ईड्यः) प्रशंसनीय (सखिभ्यः सखा) प्रीतिकारियों के लिये हितकारी (असि) है।

ईश्वरही सबका संबंधी, मित्र सखा और उपास्य है।

यो अध्वरेषु शंतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा
कृणुध्वम्। अग्निर्यद्वेर्मर्ताय देवान्त्स चा बोधाति
मनसा यजाति॥ ऋ. १।७७।२॥

(यः) जो (अध्वरेषु शंतमः) सत्कर्मोंमें अति शांतिदेनेवाला, (ऋतावा) सत्य नियमोंका पालक, (होता) दाता है, (तं उ) उसी ईश्वरको (नमोभिः आकृणुध्वं) नमन कीजिये (यत्) जिस समय यह (अग्निः) तेजस्वी ईश्वर (मर्ताय) मर्त्य-मनुष्यको (देवान् वेः) देवोंकी=दिव्य गुणोंकी प्राप्ति कराता है उस समय (सः) वह (बोधाति) बोध करता है (च) और (मनसा यजाति) मनसे सत्कारकरण करता है।

यह तेजस्वी ईश्वर प्रत्येक कार्य्यमें शांति सुख देने वाला तथा सत्य नियमोंका पालन करता है इसलिये हरएकका पूज्य है। मनुष्यके अन्दर जिस समय वह दैवीभाव जाग्रत करता है, उस समय मनुष्य उस प्रभु को जान पाता है और मनसे पूजा करता है।

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य
रथीः। तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उप ब्रुवते
दस्ममारीः॥ ऋ. १।७७।३॥

(स क्रतुः) वह कर्ता है (स मर्यः) वह मारक अर्थात् संहारक है (स साधुः) वह साधक अर्थात् धारक है, वह (मित्रः न) मित्रके समान (अद्भुतस्य रथीः) अद्भुत सृष्टिको रथ करके उसपर आरूढ होनेवाला है

(मेधेषु प्रथमं तं) यज्ञोंमें मेधा बुद्धिके कर्मोंमें पहिला देव वही है, (दस्मं) उस दर्शनीयको (देवयन्तः आरीः विश) देवता बननेकी इच्छा करनेवाले प्रगतिशील प्रजाजन (उप ब्रुवते) उपासना करते हैं ।

परमेश्वर कर्ता, धर्ता, हर्ता और सबका मित्र है । जगद्रूपी रथपर वही सवार होता है । जो मनुष्य दैवी संपत्तिको प्राप्त करना चाहते हैं उनको उसीकी उपासना करनी चाहिये ।

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो
नमस्यः । त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः
सचसे पुरन्ध्या ॥ ऋ. २।१।३॥

हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर ! (त्वम्) तू (सतां इंद्र वृषभ) सज्जनोंका प्रभु और उनकी कामनाओंकी वृष्टि करनेवाला है (त्वं) तू (उरुगाय नमस्य विष्णु) स्तुत्य नमस्कार करने योग्य व्यापक देव है । (त्वं) तू (रयीविद् ब्रह्मा) धनवान् ब्रह्मा है । हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानपते ! तू (विधर्ता) धाता है और (पुरंध्या) बुद्धिसे तू (सचसे) युक्त रहता है । अर्थात् सदा ज्ञानी है ।

ईश्वरही रुद्र, अग्नि विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति और धाता है । अतएव सदा सर्वदा उसकी उपासना करनी चाहिए ।

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म
ईड्यः । त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो
विदथे देव भाजयुः ॥ ऋ. २।१।४॥

हे (देव) देव ! (अग्ने) ज्ञानस्वरूप (त्वं) तू ही (राजा वरुण) राजा वरुण है तू ही (धृतव्रत) नियमोंका धारण करनेवाला है (त्वं) तू (दस्म) दर्शनीय और (ईड्यः) स्तुत्य (मित्र भवसि) मित्र है (त्वं तू ही (सत्पति अर्यमा) सज्जनोंका पालक अर्यमा-न्यायकारी है । (यस्य) जिसका (सम्भुजं) दान सर्वत्र है । (त्वं) तू (अंश) अंश नामक देव है जो (विदथे) यज्ञमें (भाजयु) पूजनीय होता है ।

परमात्मा देव वरुण मित्र अर्यमा अंश आदि नामोंसे प्रशंसित होता है । वही यज्ञादि सत्कार्योंमें पूज्य है ।

मा नो मर्ता अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः ।
ईशानो यवया वधम् ॥ ऋ. १।५।१०॥

हे (गिर्वणः इन्द्र) वाणी से स्तवन करने योग्य प्रभो ! मर्ता शत्रुके

मनुष्य (नः तनूनां) हमारे शरीरोंका (मा अभिद्रुहन्) घातपात न करें। (ईशान) समर्थ स्वामी तू (वधं यवय) वधको हमसे दूर कर

एक ईश्वर ही मनुष्यका स्तुत्य है। भक्तोंका पूर्णतासे संरक्षण वही करता है और वह समर्थ होनेसे सब प्रकारके घातक शत्रुओंको दूर रखता है।

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।

रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ ऋ. १।११।१॥

(समुद्र व्यचसं) समुद्रके समान विस्तृत, (रथीनां रथीतमं) वीरोंमें श्रेष्ठ वीर, (वाजानां पतिं) बलोंके स्वामी, सत्पतिं) सबके सच्चे पालक (इन्द्रं) प्रभुको (विश्वा गिर) सब स्तुतियां (अवीवृधन्) बढ़ाती हैं=उसकी प्रशंसा करती हैं।

परमेश्वर सबसे अधिक व्यापक, सब वीरोंसे अधिक प्रभावशाली, बलिष्ठों से अति बलिष्ठ, सबका एक सच्चा पालक है, वही स्तुतिके योग्य है।

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।

सखाय इन्द्रमूतये ॥ ऋ. १।३०।७॥

(योगे योगे) प्रत्येक योगमें अर्थात् प्रत्येक उद्योगमें और (वाजे वाजे) प्रत्येक युद्धमें, प्रत्येक स्पर्धामें (तवस्तर इन्द्रं) अत्यंत बलशाली प्रभुसे (ऊतये) अपनी रक्षाके लिये (सखाय)हम सब मित्रभावसे रहनेवाले लोग (हवामहे) प्रार्थना करते हैं।

हरएक कर्म करनेके समय सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सहायता मांगना उचित है क्योंकि वही सबसे अधिक शक्तिमान् और सर्वज्ञ है।

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतो

विभावा। शातवनेये शतिनीभिरग्निः पुरुणीथे

जरते सूनृतावान् ॥ ऋ. १।५९।७॥

(वैश्वानर) विश्वका नेता (अग्नि) अग्रपूज्य परमेश्वर (महिम्ना) अपने महत्वसे (विश्वकृष्टि सब मनुष्योंके अन्दरगामी है। (भरत्-वाजेषु) पोषक अन्नोंके यज्ञोंमें (यजत) पूजनीय और (विभावा) विशेष प्रभावयुक्त है। (सूनृतावान् सत्य वाणीसे युक्त होनेके कारण यह (अग्नि तेजस्वी देव (शातवनेये सैकड़ों द्वारा जहां सेवन होता है ऐसे (पुरु नीथे) बहुतोंके नेतृत्वमें चलनेवाले कार्योंमें शतिनीभि सैकड़ोंकी संख्याओंसे जरते) प्रशंसित होता है।

विश्वका चालक ईश्वर है, वही मनुष्योंके हृदयोंमें विद्यमान है और मनुष्य ही उसको अपने हृदयों में अनुभव कर सकते हैं। इस लिये सब मनुष्योंको उचित है, कि वे ईश्वरको अपने अन्दर अनुभव करके उसकी भक्ति अपने अन्तःकरणमें स्थिर रखते हुए सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म करें।

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।

स धीनां योगमिन्वति ॥ ऋ. १।१८।७॥

(यस्मात् ऋते) जिस के विना (विपश्चितः चन) विद्वानोंका भी (यज्ञ) सत्कर्म (न सिध्यति) सफल नहीं होता (स) वही (धीनां योगं) बुद्धियोंके योग को (इन्वति) प्राप्त होता है।

बड़े बड़े विद्वानों का भी सत्कर्म परमेश्वर के अधिष्ठान के विना सिद्ध नहीं होता, इस लिये सम्पूर्ण ज्ञानी अपनी बुद्धिद्वारा योग साधन करते हैं, और उस के साथ युक्त होते हैं। बुद्धि को परमात्मा में पूर्णता से लगाना ही बुद्धियोग है। इस बुद्धियोगका महत्व योगशास्त्र में अत्यन्त उत्तमरीति से वर्णित है।

सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्म

दद्रुः । पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा

शवसावन्मनीषाः ॥ ऋ. १।६२।११॥

हे (दस्म) दर्शनीय प्रभो ! (सनायुव) सनातन अमरत्व की इच्छा करने वाले तथा (वसूयव) धन की इच्छा करने वाले (मतय) बुद्धियां अर्थात् बुद्धिमान् लोग (नमसा) नमन के साथ (अर्कै) पूजाओं और स्तोत्रों के द्वारा आपके पास (दद्रु) पहुंचते हैं। अर्थात् आपकी उपासना करते हैं। जिस प्रकार (उशन्त पतिं) इच्छा करने वाले पति के पास (नव्य) नूतन (उशती) इच्छा करने वाली पत्नी जाती है, हे (शवसावन) शक्तिमन प्रभो ! उसी प्रकार (मनीषाः) हमारी बुद्धियां (त्वा स्पृशंति) तुझे ही स्पर्श करती है=तेरी उपासना करती हैं।

ऐहिक सुख के लिये धन तथा आध्यात्मिक सुख के लिये अमरत्व प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य को होती है। इन दोनों सिद्धियों के लिये नमन पूर्वक ईश्वर स्तुति और उपासना करनी चाहिये। जिस प्रकार युवती स्त्री युवा पतिकी इच्छा करती है उस प्रकार उपासककी बुद्धियां परमात्मा को ही चाहती हैं और वहां जाकर ही विश्राम पाती हैं।

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्। सजोषा धीराः पदैरनु ग्मन्नुप त्वा सीदन विश्वे यजत्राः ॥ ऋ. १।६५।१॥

(न) जिस प्रकार (तायुं) चोर (पश्वा) पशु के साथ गुहा में रहता है, उस प्रकार (पश्वा) इन्द्रियादि शक्तियों को लेकर (गुहा चतन्तं) जो हृदयकी गुफा में रहता है, और वहां (नम वहन्त) नमस्कारों को स्वीकार करता है और (नम. युजान) नमनका योग करता है उस को देखने के लिये (स—जोषा धीरा) समान ज्ञानवाले बुद्धिमान् लोग (पदै) मंत्रों के पदों के साथ अथवा आत्माके जो पद इन्द्रियादि स्थानों में दिखाई देते हैं, उनको देख देख कर (अनु-ग्मन्) पीछे से जाते हैं और वे (विश्वे यजत्राः) सब याजक (त्वा) तेरे पास (उपसीदन्) बैठते हैं अर्थात् उपासना करते हैं।

इस रीतिसे परमेश्वरका अन्वेषण होता है। वह हमारे हृदयमें ही है। परन्तु उसका अन्वेषण अन्तर्मुख वृत्तिसे करना चाहिये।

त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्। तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥ ऋ. १।९१।१॥

हे (इन्दो सोम) शान्त गुणमय प्रभो! (त्वं) तू (मनीषा) बुद्धिसे (प्रचिकित.) जाना जाता है। (त्वम्) तू (रजिष्ठं पन्थां) सीधे मार्गपर (अनुनेषि) अनुकूलतापूर्वक चलाता है। (तव प्रणीती) तेरे मार्ग में चलने वाले (धीरा न पितर) हमारे बुद्धिमान् ज्ञानी पितर लोग (देवेषु) देवोंमें, पृथिवी आदि से (रत्नं अभजन्त) रत्नोंको=श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करते हैं।

प्रभु बुद्धिसे ही जानने योग्य है, वह सबको सीधे मार्गसे उन्नतिके पथमें चलाता है। उसकी सहायतासे जो सीधे मार्गपर चलते हैं, वे ही सब प्रकारका श्रेष्ठ धन ऐश्वर्य आदि प्राप्त करते हैं।

मंद्रं होतारं शुचिमद्वयाविनं दमूनसमुक्थ्यं विश्वचर्षणिम्। रथं न चित्रं वपुषाय दर्शतं मनुर्हितं सदमिद् राय ईमहे ॥ ऋ. ३।२।१५॥

(मन्द्रं) आनन्दकारक (होतारं) दाता (शुचिं) पवित्र (अद्वयाविनं) अद्वितीय (दमूनसं) संयमी, (उक्थ्यं) प्रशंसनीय (मनु हितं) मनुष्यमात्र-

का हित करनेमें तत्पर (विश्व-चर्षणि , सर्व मनुष्य-सघमें व्याप्त ईश्वर-को (सदं इत्) सदा ही (राये) श्रेष्ठ ऐश्वर्य के लिये (ईमहे) हम प्राप्त करना चाहते हैं, (न चित्रं रथं दर्शतं वपुषाय) जिस प्रकार सुन्दर दर्शनीय आकृति से युक्त रथ की प्राप्ति की जाती है।

आनन्ददायी, दाता, शुचि, पवित्र, अद्वितीय, संयमी, प्रशंसनीय, मनुष्यमात्रके हितकर्ता, और सर्व मनुष्योंके अन्तःकरणोंमें विराजमान ईश्वरकी हम सब प्राप्ति करते हैं, उसकी उपासना और प्रशंसा करते हैं, इस लिये कि उसके उत्कृगुण हमें प्राप्त हों और हम सब आनन्दके भागी बनें।

भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि॥
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ य. ३६।३॥

(भू) सत् (भुव) चित् (स्वः) आनन्दस्वरूप (सवितु) जगदुत्पादक (देवस्य) ईश्वर के (तत्) उस (वरेण्यं) श्रेष्ठ (भर्ग) तेज को हम सब (धीमहि) ध्यान करते हैं। (य) जो (न धियः) हमारी बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे अथवा करता है।

तीनों कालोंमें एकरूप रहने वाले, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशानन्दमय, जगदुत्पादक और प्रेरक ईश्वर के श्रेष्ठ तेज का हम सब ध्यान करते हैं, क्योंकि वही ईश्वर हम सब की बुद्धियों को विशेष प्रकार से प्रेरणा करने वाला है।

अग्ने कदा त आनुषग्भुवद्देवस्य चेतनम्।
अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम्॥
ऋ. ४।७।२॥

हे (अग्ने) तेजस्वी ! ईश्वर मनुष्य (कदा) कब (ते देवस्य) तुझ दिव्य गुण वालेकी (आनुषग् भुवत्) अनुकूलता प्राप्त करेगा, (अधा) और कब (मर्तासः) सब मनुष्य (विक्षु ईड्य) सब प्रजाओंमें पूजनीय (चेतनं) तुझ चेतन को (जगृभ्रिरे) जानेंगे।

तेजस्वी सर्व प्रकाशक ईश्वर सब को चेतना देता है और वही सब का धारक है, और सब प्रजाओं के अन्दर दिखाई देता है।

त्वामग्ने धर्णसिं विश्वधा वयं गीर्भिर्गृणन्तो नम-
सोप सेदिम। स नो जुषस्व समिधानो अङ्गिरो
देवो मर्तस्य यशसा सुदीतिभिः॥ ऋ. ५।८।४॥

हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर ! (धर्णसिं त्वां) सब के धारक तुझे (वयं)

हम उपासक (विश्वधा) अनेक प्रकार से (गीर्भिः गृणन्तः) वाणी से प्रशंसा करते हुए (नमसा) नमस्कार से (उपसेदिम) उपासना करते हैं । हे (अंगिर) प्राणों के प्राण ! वह तू (समिधानः) प्रकाशमय (देवः) देव (मर्तस्य यशसा) मनुष्य के यश से युक्त करके (सुदीतिभिः) उत्तम तेजों के साथ (नः जुषस्व) हम पर प्रीति कर ।

हे ईश्वर ! तू सब जगत का धारक है, इस लिये हम तेरी विविध प्रकार से प्रशंसा करते हुए नमनपूर्वक उपासना करते हैं, तू अपने तेजों से हमें तेजस्वी कर और मनुष्य के लिये जो यश मिल सकता है, वह हमें प्राप्त करा दे ।

ये अग्ने चन्द्र ते गिरः शुम्भन्त्यश्वराधसः । शुष्मेभिः शुष्मिणो नरो दिवश्चिद्येषां बृहत्सुकीर्तिर्बोधति त्मना ॥ ऋ. ५।१०।४॥

हे (चन्द्र अग्ने) आल्हाददायक तेजस्वी ईश्वर ! (ये) जो (नरः) मनुष्य (ते गिरः) तेरी स्तुतियों से (शुंभंति) शोभते हैं, वे (अश्वराधसः) अश्व आदि धनों से सिद्ध होते हैं । ये मनुष्य (शुष्मिणः) बलवान् होकर अपने (शुष्मेभिः) बलोंसे ऐसे शुभ कार्य करते हैं, (येषां) जिनकी (सुकीर्तिः) यश (दिवः चित बृहत्) द्युलोक से भी बड़ा होता है, तथा इस प्रकार का यशस्वी मनुष्य (त्मना बोधति) स्वयं सब कुछ जानता है ।

जो मनुष्य परमेश्वर के गुणों का वर्णन करने से अपनी वाणी की शोभा बढ़ाते हैं, वे सब धनों से युक्त होते हैं । विशेष बलों को प्राप्त करके ऐसे महान् कार्य करते हैं, कि उनकी कीर्ति दिगन्त में पहुंचती है, और वे लोग स्वयं ही अपनी आत्मिक ज्ञानशक्ति से सब बातें यथावत् जान लेते हैं ।

त्वामग्ने वाजसातमं विप्रा वर्धन्ति सुष्टुतम् । स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ऋ. ५।१३।५॥

हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! (सुष्टुतं) उत्तम स्तुति करने योग्य (वाजसातमं त्वा) बल देने वाले तुझे (विप्राः वर्धन्ति) ज्ञानी लोग बढ़ाते हैं । अर्थात् तेरी महिमा गाते हैं (सः) वह तू (सुवीर्यं) उत्तम वीर्य (नः रास्व) हमें दे ।

हे प्रभो ! सब ज्ञानी लोग तेरे गुणोंका ही कीर्तन करते हैं और तू उनको उत्तम बल देता है । ज्ञानी सत्पुरुषोंके द्वारा ही तेरी महिमा सर्वत्र फैली है । इस प्रकार सबसे प्रशंसित होने वाला तू हम उपासकोंको उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति दे ।

तमध्वरेष्वीळते देवं मर्ता अमर्त्यम्।
यजिष्ठं मानुषे जने॥ ऋ. ५।१४।२॥

विद्वान् (मर्ता) मनुष्य हर एक (मानुषे जने) मनुष्य के अन्दर (यजिष्ठ) पूजनीय (अमर्त्य देवं) अमर देवकी अध्वरेषु) सत्कर्मों के समय (ईलते) स्तुति करते हैं।

प्रभु जगत्पति सब मनुष्योंके अन्तःकरणमें विराजमान है, वही पूज्य उपास्य, अमर और स्तुत्य देव है। सम्पूर्ण सत्कर्म करनेके समय श्रेष्ठ मनुष्य उसीकी प्रशंसा करते हैं।

अग्निं घृतेन वावृधुः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणिम्।
स्वाधीभिर्वचस्युभिः॥ ऋ. ५।१४।६॥

(विश्व-चर्षणिं अग्निं) सब मनुष्योंके अन्तःकरणमें वर्तमान ईश्वर को (घृतेन) तेजस्विता से (स्तोमेभि) स्तुतियों से (स्वाधीभि) आत्म बुद्धि से तथा (वचस्युभि) वाणी के योग से, (वावृधु) बढ़ाते हैं।

"घृत" शब्द के दो अर्थ हैं, घी और तेजस्विता। "स्तोम" शब्द के दो अर्थ हैं, स्तुतियज्ञ और संघभाव। "स्वाधी" शब्द के दो अर्थ हैं अध्ययन और आत्मबुद्धि। "वचस्+यु" के दो अर्थ हैं, प्रशंसा की इच्छा और मंत्रणा, सुविचार इत्यादि।

इन अर्थों का विचार करके उक्त मन्त्र का भाव परमात्मविषय में जानने योग्य है। तेजस्वी आचरण, संघोपासना, आत्मबुद्धि की शुद्धता, वाक्शुद्धि इत्यादि के द्वारा ईश्वरकी प्राप्ति की जाती है। इसलिये जो ईश्वरको अपने अंदर अनुभव करना चाहते हैं, वे उक्त रीतिसे उसको अपने अंदर अनुभव करें।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो
विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही
देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ ऋ. ५।८१।१।

(बृहत विपश्चित विप्रस्य) बड़े ज्ञानी मेधावी प्रभुके साथ (विप्रा ज्ञानी लोग (मन) अपने मनको (युंजते) जोड़ते हैं और (धियः युंजते) बुद्धियोंको भी संयुक्त करते हैं। उस (सवितुः देवस्य) सविता देवताकी यह (परिष्टुतिः) प्रशंसा बहुत ही (मही) बड़ी है। कि वह (वयुनावित् एक) कर्मका ज्ञान रखनेवाला अकेला ही (होत्राः विदधे) सब सत्क्रियाओंका धारण करता है।

परमात्मा सर्वज्ञ है इसलिये ज्ञानी उसीके साथ अपने मन और बुद्धिका योग करते हैं, क्योंकि उसके बलका महत्त्व अतर्क्य है। वह सब ज्ञान और कर्मको यथावत् जाननेवाला है, और सब क्रियाओंको चलाता है, इसलिये जो उसके साथ अपने मनका योग करते हैं वे ही उत्तम कर्मयोगी होते हैं।

स चित्र चित्रं चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्र चित्रतमं वयोधाम्। चन्द्रं रयिं पुरुवीरं बृहन्तं चन्द्र चन्द्राभिर्गृणते युवस्व। ऋ. ६।६।७।

हे (चित्र चित्रक्षत्र) अद्भुत तथा अद्भुत शौर्यसे युक्त (चन्द्र) आल्हाद देनेवाले प्रभो! (स) वह तू (चन्द्राभि अभिगृणते) आनंददायक स्तुतियोंके द्वारा प्रशंसित होता है। इस प्रकार प्रशंसित होकर (अस्मे) हमको (चित्रं) अद्भुत, (चितयन्त) ज्ञान देनेवाला, (चित्रतमं) अत्यंत प्रशसनीय, (वयोधां) आयु बढ़ानेवाला, (चन्द्रं) आल्हाददायक (पुरुवीर) बहुत वीरोंसे युक्त, (बृहन्तं) बड़ा (रयिं युवस्व) धन दो।

हे प्रभो! हम आपकी उपासना करते हैं, आप स्वयं अद्भुत बलशाली हैं, इसलिये हमें भी ऐसा धन दो, कि जिससे हमारा ज्ञान, शौर्य, वीर्य, पराक्रम आदि बढ़े।

तमु द्युमः पुर्वणीक होतरग्ने अग्निभिर्मनुष इधानः। स्तोमं यमस्मै ममतेव शूषं घृतं न शुचि मतयः पवन्ते॥ ऋ. ६।१०।२।

हे (द्युम) तेजस्वी (पुरु+अनीक) अनन्त बलयुक्त (होत) धारण करनेवाले (अग्ने) तेजस्वी प्रभो! (अग्निभि) जीवोंसे (इधान) पूजित हुआ तू (मनुष) मनुष्यके (त) उस स्तुतिका श्रवण कर। (यं स्तोमं) जिस स्तोत्रको, (शुचि शूषं घृतं न) शुद्ध सुखकर घी के समान, (ममता इव) ममताके तुल्य (मतयः पवन्त) बुद्धियां पुनीत करती हैं।

परमेश्वर जगत् में सर्वत्र संचार कर रहा है। उससे कोई कभी बच नहीं सकता। वह हर एक पदार्थमें है, अग्निमें रहकर तेजके साथ प्रकट होता है, इसी प्रकार अन्य पदार्थोंमें अन्य रूपमें प्रकट होता है। इस ईश्वरकी उपासना करनेके समय अपनी शुद्ध बुद्धिद्वारा पवित्र की हुई वाणीका ही उपयोग करना चाहिये।

त्वामग्ने स्वाध्यो३ मर्तासो देववीतये।

यज्ञेषु देवमीळते॥ ऋ. ३।१६।७॥

हे (अग्ने) तेजस्वी देव! (स्वाध्य मर्तास) उत्तम आत्मिक बुद्धिवाले मनुष्य (देव-वीतये) दिव्य गुणोंकी प्राप्तिके लिये यज्ञोंमें (त्वां देवं) तुझ देवताकी ही (ईळते) स्तुति करते हैं।

आत्मिक बुद्धि धारण करनेवाले आत्मज्ञानी संपूर्ण सत्कर्मोंमें एक ईश्वर की ही उपासना करते हैं।

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च

आभिः। यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा

पुरुमायः सहस्वान्॥ ऋ. ६।२२।१॥

(य) जो (वृषभ) बलवान् (वृष्ण्यावान्) शक्तिशाली (सत्य) तीनों कालोंमें एक जैसा सत्य (सत्वा, सत्ववान्) (पुरुमाय) अनेक शक्तियोंसे युक्त, अनन्तज्ञान सम्पन्न और (सहस्वान्) विजयी शक्तिसे युक्त (पत्यते) सबको आश्रय देता है, वह (एक इत्) अकेला ही (चर्षणीनां हव्य) मनुष्योंका पूजनीय है (तं) उसकी (आभि गीर्भि) इन वैदिक स्तोत्रोंसे (अभ्यर्च) पूजा कर।

परमेश्वर पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त है इसलिये उक्त गुणोंके मननके साथ उस की उपासना मनुष्योंको करनी चाहिये।

सखायो ब्रह्मवाहसेऽर्चत प्र च गायत॥

स हि नः प्रमतिर्मही॥ ऋ. ६।४५।४॥

हे (सखायः) मित्रो! (ब्रह्मवाहसे) ज्ञानका धारण करनेवाले परमत्मा की (अर्चत) पूजा करो (च प्र गायत) और इसका गायन करो (हि) क्योंकि (स) वह (न) हमारी (मही प्रमतिः) बड़ी ही बुद्धि है। अर्थात् बोध दाता है, अथवा ज्ञेय है।

परमात्मा ज्ञानका मूल स्रोत है और वही हम सबकी बुद्धियोंका प्रेरक है। इसीलिये उसकी पूजा करनी चाहिये।

ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भिः सखायमृग्मियम्।

गां न दोहसे हुवे॥ ऋ. ६।४५।७॥

(ब्रह्मवाहसं) ज्ञानके वाहक (सखायं) सबके मित्र (ऋग्मियं) ऋचाओंसे वर्णित (ब्रह्माणं) परमात्माको (गीर्भि) अपनी वाणीसे

(हुवे) पुकारता हूं (न) जिस प्रकार दूध दोहने वाले (दोहसे गां) दूध दोहनेके लिये गौ को पुकारते हैं।

परमात्मा गौ है, जो आनंदरूपी दूध देती है इसलिये सब लोग उसकी प्रार्थना करते हैं--और आनंद पाते हैं।

य एक इत्तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥ ऋ. ६।४५।१६॥

(यः वृषक्रतुः) जो बलवान् कर्म करनेवाला है, और (कृष्टीनां विचर्षणि पति) मनुष्योंका विशेष द्रष्टा, पति, (जज्ञे) प्रसिद्ध है (तं उ) उसीकी (ष्टुहि) स्तुति कर।

सब मनुष्योंका स्वामी अकेला परमात्मा है, जो सर्वद्रष्टा भी है, उसी की उपासना सबको करनी चाहिये।

यो गृणतामिदासिथापिरूती शिवः सखा।
स त्वं न इन्द्र मृळय॥ ऋ. ६।४५।१७॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (य) जो (गृणतां) उपासकोंका (ऊती) रक्षक (आपि) मित्र (शिवः सखा) कल्याणमय सखा है (स त्वं) वह तू (न) हमें (मृळय) सुखी कर।

परमात्मा सब उपासकोंका रक्षक, और कल्याण करनेवाला मित्र है वही सबको सुखी करता है।

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥ ऋ. ८।११।६॥

हम (विप्रासः मर्तासः) ज्ञानी मनुष्य (अवसे ऊतये) अपनी रक्षा और कल्याण प्राप्तिके लिये (विप्र अग्निं देवं) ज्ञानी तेजस्वी प्रभुदेव की (गीर्भिः हवम्हे) अपनी वाणीसे प्रशंसा करते हैं।

सब ज्ञानी मनुष्य प्रभुकी स्तुति करते हुए ही अपनी रक्षाके लिये बल की प्रार्थना करते हैं।

हुवे त्वा सूर उदिते हुवे मध्यंदिने दिवः।
जुषाण इन्द्र सप्तभिर्न आ गहि॥ ऋ. ८।१३।१३॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वा) तेरी (सूर उदिते) सूर्योदयके समय (हुवे) प्रार्थना करता हूं। तथा (दिव मध्यं दिने) दिनके मध्यमें (हुवे) प्रार्थना करता हूं। हमारे (सप्तभि) सातों इंद्रियों द्वारा (जुषाण) सेवन किया हुआ तू (नः) हमें (आगहि) भली प्रकार प्राप्त हो।

यदद्य सूर्य उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध । यन्निम्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यंदिने दिवः ॥ ऋ. ८।२७।१९॥

हे (प्रियक्षत्रा) क्षत्रियो ! (सूर्ये उद्यति) सूर्यके उदयके समय और (प्रबुधि) जागनेके समय (यत्) यदि आप (विश्व-वेदस) सर्व ज्ञानोंके अर्थात् ईश्वरके (ऋतं) मंत्रको (दध) धारण करेंगे, (यत् निम्रुचि) यदि सूर्यके अस्तके समय भी ईश्वरके मन्त्रका धारण करेंगे, (यत् वा) और (दिवः मध्यं दिने) दिनके मध्य में भी ईश्वरके मन्त्रका धारण करेंगे, तो आप (अद्य) आजसेही ऋतका धारण करनेवाले बन जायेंगे ।

प्रतिक्षण मनुष्यको ब्रह्म-चिन्तन करते रहना चाहिए । परमात्माको भुलाना कभी भी न चाहिये ।

यदद्य सूर उदिते यन्मध्यंदिन आतुचि । वामं धत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाय प्रचेतसे ॥ ऋ.८।२७।२१॥

(यत् सूर उदिते, यत् मध्यन्दिने) यदि आप सूर्यके उदयके समय, मध्य दिनके समय, तथा (आतुचि) सायंकालके समय (विश्ववेदस) सर्वज्ञ ईश्वरका (वामं) वंदनीय स्तोत्र (मनवे) मननके लिये, (प्रचेतसे) चिंतनके लिये और (जुह्वानाय) स्वीकारके लिये (धत्थ) धारण करेंगे तो आप (अद्य) आजही श्रेष्ठ बनेंगे ।

कया त्वं न ऊत्याऽभि प्र मन्दसे वृषन् । कया स्तोतृभ्य आ भर ॥ ऋ. ८।९३।१९॥

हे (वृषन्) आनंदकी वृष्टि करनेवाले ईश्वर ! (त्वं) तू (कया) आनन्दकारक (ऊत्या) रक्षणके साथ (नः) हम सबको (अभि प्र मन्दसे) सब ओरसे आनंदित करता है । और (कया) उसी निज आनन्दसे (स्तोतृभ्यः) तेरे गुणकीर्तन करने वालोंकी (आभर) पुष्टि करता है ।

आनन्दकी वृष्टि करनेवाला ईश्वर, हम सबका सब प्रकारसे रक्षण करता हुआ सबको आनन्दयुक्त करता है । और उसीके गुणोंका वर्णन करने वालोंका उत्तम रीतिसे भरण पोषण करता है ।

इमा अग्ने मतयस्तुभ्यं जाता गोभिरश्वैरभि गृणन्ति राधः । यदा ते मर्तो अनु भोगमानड्वसो दधानो मतिभिः सुजात ॥ ऋ. १०।७।२॥

हे (अग्ने) अग्रणि ! (इमा जाता मतयः) ये सुप्रसिद्ध बुद्धियां (तुभ्य) तुम्हारे लिये ही हैं। (गोभि अश्वै) गौवों और घोड़ोंके साथ जो अन्य (राध) धन साधन हैं वे भी तुम्हारा (गृणन्ति) वर्णन करते हैं। हे (सुजात वसो) सुप्रसिद्ध सर्वनिवासक ! (यदा मर्तः) जब मनुष्य (ते) तेरे (अनु) अनुकूल चलता हुआ (भोगं आनट्) भोग प्राप्त करता है, तभी (मतिभि दधानः) मननशक्तियोंको धारण करनेवाला होता है।

जगत्के सब पदार्थ परमात्माकी बुद्धियोंका वर्णन अथवा प्रदर्शन कर रहे हैं। परमेश्वरके अटल नियमोंके अनुसार चलकर मनुष्य उत्तम बुद्धिके साथ भोगोंको भी प्राप्त कर सकता है।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्। ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥ ऋ. ६।४७।११॥

(त्रातारं) रक्षक (अवितारं) कल्याण साधक (शूरं) दुःख विदारक (सुहवं) प्रार्थना करने योग्य, (शक्रं) समर्थ, (पुरुहूतं) अत्यंत प्रशंसित (इन्द्रं) प्रभुकी (हवे हवे) प्रत्येक स्पर्धनीय कर्ममें (ह्वयामि) प्रार्थना करता हूं, वह (मघवा इन्द्र) धनवान् प्रभु (न स्वस्ति धातु) हमारा कल्याण करे।

परमात्मा सबका रक्षक है वही सब सामर्थ्य अपनेमें धारण करता है, इसलिये सब लोग उसीकी प्रार्थना करते हैं। वह सबके द्वारा प्रार्थित होकर सबका कल्याण करता है।

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत। ऋ. ८।१।१॥

(सखाय.) हे सुहृद् जनो ! (अन्यत्) ईश्वरीय स्तोत्रको छोड़ अन्य-स्तोत्र (मा चित् विशंसत) न उच्चारण करो। अथवा ईश्वरसे अतिरिक्त की उपासना मत करो (मा रिषण्यत) अन्यान्य स्तोत्रोंके उच्चारणसे हिंसक न बनो अथवा अपना हानि मत करो। अत (सुते) प्रत्येक यज्ञमें (वृषणम्) अभीष्ट वर्षिता (इन्द्रं इत्) परमात्माकी ही (सचा स्तोत) साथ मिलकर स्तुति करो। ऐ सखायो ! (मुहु) वारंवार (उक्थ्या च शंसत) उक्थ अर्थात् उत्तम प्रशंसा वाक्य कहो।

हे सुहृद् जनो ! अन्य स्तोत्र उच्चारण न करो, हिंसक न बनो, यज्ञमें सब मिलकर अभीष्ट प्रद परमात्माकी ही स्तुति और गान करो।

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।

देवममीवचातनम् । ऋ. १।१२।७।

हे मनुष्य समूह ! हे जीवगण ! तू (अध्वरे) अखिल शुभकर्ममें (कविम्) सर्वज्ञ (सत्य-धर्माणम्) सत्य धर्मको देनेवाले और जिसके सब ही नियम सत्य हैं, उस (देवम्) सकल दिव्यगुणोंसे युक्त (अमीव चातनम्) निखिल विघ्नों और रोगोंके विनाशक (अग्निं) सर्वव्यापक परमात्माकी ही (उप स्तुहि) स्तुति प्रार्थना कर।

जिस हेतु वह परमात्मा कवि अर्थात् हम लोगोंके आन्तरिक और बाह्य निखिल आशयोंको जानता है। जिसके सब ही धर्म=नियम सत्य हैं और जो हम जीवोंको अनंत प्रकारसे कल्याण पहुंचा रहा है, अतः हे मनुष्य ! उसीकी स्तुति, प्रार्थना कर।

वेदप्रवक्ता

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व। विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ य. ३४।५८॥

हे (ब्रह्मण पते) ब्रह्माण्डाधिपते ! अथवा वेदपालक प्रभो ! (देवा) विद्वान् (यत्) जिसकी (विदथे) अध्ययनाध्यापन आदि व्यवहारमें (अवन्ति) रक्षा करते हैं। और (यत्) जिस (बृहत्) श्रेष्ठका (वयं सुवीरा.) हम शोभन वीर (वदेम) उपदेश करते हैं। (अस्य) इस (सूक्तस्य) उत्तम रीति से कथित=उपदिष्ट वेदका (त्वं) तू (मन्ता) नियामक है, नियम पूर्वक देने वाला है। (च) और (तनयं) पुत्र तुल्य मनुष्योंको इसका (बोधि) तू बोध करता है। (तत्) उस (भद्रं) कल्याणमयवेद से (विश्वं) संपूर्ण ससार को (जिन्व) तृप्त कर।

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा
ओकांसि चक्रिरे ॥ यजु. ३४।५७॥

(यस्मिन्) जिस परमात्मामें (इन्द्र) विद्युत्, वायु (वरुण) जल, चन्द्रमा (मित्र) प्राण, सूर्य यह सब (देवाः) उत्तम गुण वाले (ओकांसि चक्रिरे) निवास करते हैं। वह (ब्रह्मण पति) वेद रक्षक जगदीश्वर (नूनं)

ही (उक्थ्यं) प्रशंसनीय (मन्त्रं) वेद को (प्र वदति) उत्तम रीतिसे उपदेश करता है।

परमात्माही वेदज्ञान देता है, वही इसकी रक्षा भी करता है।

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्। अहं भुवं यजमानस्य चोदितायज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥ ऋ. १०।४९।१॥

(अहं) मैं (गृणते) उपासक के लिये (पूर्व्यं वसु दा) मुख्य या पूर्वकर्मसंचित धन देता हूं। (ब्रह्म कृणवं) मैं वेद रचता हूं, इस लिये (मह्यं वर्धनं) मेरे लिये सब ज्ञानी बधाई देते हैं और मैं ही (यजमानस्य) सत्कर्म करने वाले को (चोदिता) प्रेरणा करने वाला (भुवं) होता हूं। और (अयज्वनः) सत्कर्म न करने वाले को (विश्वस्मिन भरे) सब युद्धों में, उद्योगों मे (साक्षि) पराजय देता हूं।

इस मन्त्र द्वारा ईश्वर स्पष्ट उपदेश करते हैं, कि मैं ही वेदों का रचता हूं तथा मै ही पूर्वकर्मानुसार धनादि फल का प्रदाता हू।'

बन्धु

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ऋ. १।१।९॥

हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर ! (सूनवे पिता इव) पुत्रको जैसे पिता प्राप्त होता है उस प्रकार (सः) वह तू (नः) हमको (सु उप आयन) उत्तम प्रकार प्राप्त (भव) हो। और (नः) हमारे (सु-अस्तये=स्वस्तये) उत्तम कल्याणमय अस्तित्व के लिये (सचस्व) हमारे साथ रह।

परमात्मा हमारा पिता है और हम उस परम पिता के "अमृत पुत्र" है। पुत्र का अधिकार है कि वह पिता की गोद में बैठे और निर्भय हो। इसी लिये परम पिता की प्रार्थना की जाती है कि वह हमें पिता के समान प्राप्त होकर सदा हमारे साथ रहकर हमें उन्नति के पथ पर चलावे।

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः ॥ ऋ. १।२६।३॥

(हि) जिस प्रकार (पिता सूनवे) पिता पुत्र को (आ यजति) सहायता देता है (आपिः आपये) बन्धु बन्धु की सहायता करता है और (वरेण्यः सखा) श्रेष्ठ मित्र अपने (सख्ये) मित्र को सहायता देता है उसी प्रकार हे ईश्वर ! तू मेरी (आ स्म) सब प्रकार से सहायता कर।

परमेश्वर हमारा पिता, माता, बन्धु, मित्र आदि है इस लिये उस की सहायता हर एक बात में मांगी जाती है।

त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥ ऋ. ४।१७।१७॥

वह (न) हम सब का (त्राता) संरक्षक है तथा (ददृशान) भली प्रकार से देख भाल करने वाला, स्पष्ट रूप से (आपि) साथी है। (अभिख्याता) उपदेश देने वाला और (सोम्यानां) शान्त स्वभाव वालों को (मर्डिता) सुख देने वाला वह ही है। वही हम सब का (सखा) सखा अर्थात् मित्र है और (पिता) पिता भी वही है। (पितॄणां पितृतम) पितरों का प्राचीन पूर्वज पिता भी वही है, वह (इम् लोकं कर्ता) सारे संसार का कर्ता है (उशते) सच्ची अभिलाषा करने वाले को वह (वयो-धा) जीवन तथा कमनीय पदार्थों का देने वाला है। हे विद्वन्! (बोधि) इस रहस्य को तू समझ।

इस प्रकार साथी और सखा, तथा पिता और पितामह सब कुछ परमेश्वर है ऐसा यहां स्पष्ट कहा है।

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ। बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः॥ ऋ. ६।४६।१०॥

(दिवा अक्तौ) दिन में और रात्रि में (आभि गीर्भिः) इन वचनों के साथ (भुवनस्य पितरं) सब सृष्टि के पिता (रुद्रं) बलवान् रुद्र देवकी (वर्धय) बधाई करो-उनके महत्व की प्रशंसा करो। उस (बृहन्तं) महान् (ऋष्व) श्रेष्ठ ज्ञानी तथा (अ-जरं) जीर्ण अथवा क्षीण न होने वाले और (सु-सु-म्नं) अत्यन्त उत्तम विचारशील, (रुद्रं) रुद्र देवता की, (कविना इषितासः) बुद्धिमानों के साथ उन्नति की इच्छा करने वाले हम सब (ऋधक् हुवेम) विशेष प्रकार से उपासना करें।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥ ऋ. ८।९८।११॥

हे (वसो शतक्रतो) सब का निवास करने तथा सैंकड़ों सत्कृत्य करने वाले ईश्वर! (त्वं हि न पिता) तू हम सब का सच्चा पिता है, (त्वं) तू ही

(माता) माता है। (अधा) इस लिये हम सब (ते) तेरा (सुम्नं) उत्तम मनन अर्थात् विचार (ईमहे) करते हैं।

सारे मत मतान्तर परमेश्वर को पिता तो मानते हैं, किन्तु परमात्मा में माता की भावना वेद ही सिखलाता है।

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्। अग्नेरनीकं बृहतः सपर्य दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य॥ ऋ. १०।७।३॥

मैं (अग्निं) तेजस्वी ईश्वर को (पितरं) पिता, (मन्ये) मानता हूं और उसी (अग्निं) तेजोमय प्रभु को (आपिं) बन्धु (भ्रातरं) भाई, (सदं इत् सखायं) सदा के लिये मित्र (मन्ये) मानता हूं। इस (बृहतः अग्नेः) इस बड़े तेजस्वी देवके (अनीकं) बल की (सपर्य) मैं पूजा करता हूं। इस के प्रभाव से (दिवि) द्युलोक में (सूर्यस्य) सूर्य का (यजतं शुक्रं) पूजनीय पवित्र करने वाला तेज चमक रहा है।

ईश्वर ही सब मनुष्यों का सच्चा पिता, माता, भाई, मित्र आदि है।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥ ऋ. १०।८१।१॥

(यः नः पिता) जो हमारा पिता-पालक (होता) हवन-दान करने वाला और (ऋषिः) ज्ञानी परमात्मा (इमानि विश्वा भुवनानि) इन सब भुवनों का (जुह्वत्) हवन-जीवोंके अर्पण करता (निषीदत्) रहता है। (आशिषा) सुफलता से (द्रविणं इच्छमानः) जीवोंके लिए सुख सिद्धिकी इच्छा करने वाला (प्रथमच्छद्) पहिला अर्थात् श्रेष्ठ (सः) वह परमात्मा (अ-वरान्) कनिष्ठों पीछे होने वालों में भी (आ-विवेश) प्रविष्ट है=व्यापक है।

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्। सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य॥ ऋ. १।३१।१०॥

हे (अग्ने) तेजस्वी प्रभो! त्वं (त्वम्) प्र (प्र-मतिः) विशेष बुद्धिवाला है, तू (नः) हमारा (पिता असि) पिता है, (वयः-कृत) जीवन देनेवाला है, (वयं) हम (तव जामयः) तेरे बांधव हैं। हे (अदाभ्य) न दबनेवाले

ईश्वर ! (सुवीरं) उत्तम वीरों से युक्त और (व्रत-पां) नियमके पालक (त्वा) तेरे प्रति (शतिनः सहस्रिणः) सैकड़ों हज़ारों (राय) धन (संयंति) प्राप्त होते हैं ।

ईश्वरही सबको सुबुद्धि प्रदान करता है, सबको जीवन देनेवाला वही है, इसीलिये सबका वही पिता है, और सब उसके संबंधी हैं । वह उत्तमवीर, किसीसे न दबनेवाला, शक्तिशाली, और अपने नियमोंका पालन करनेवाला है इसलिये उसके पास सहस्रों प्रकारका धन है ।

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
नहि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥ ऋ. ७।३२।१९॥

हे भगवन् ! हे प्रतिपालक पिता ! आपकी कृपासे मैं सदैव (कुहचिद्विदे) कोई कभी भी विद्यमान हो किन्तु (महयते) यदि वह आपकी स्तुति और पूजामें निरत और आसक्त हो तो ऐसे पवित्र जनको मैं (दिवे दिवे) प्रतिदिन (राय) विविध धन (शिक्षेयं इत्) अवश्यमेव दूं (आ) मैं अच्छी तरहसे उन भक्तोंको पालता हूं । (मघवन्) हे निखिलधनस्वामिन् ! (त्वत् अन्यत्) आपसे अन्य हमें (आप्यं नहि) प्राप्तव्य नहीं है । और आपसे भिन्न कोई और हमारा (वस्यः) प्रशस्य पूज्य (पिताचन) पिता भी नहीं है अर्थात् आपसे भिन्न पालक भी नहीं है ।

कोई कहीं भी विद्यमान हो भक्तजनको मैं धन देता ही हूं । हे धनस्वामिन् ! आपके अतिरिक्त किसी और के प्राप्त करनेकी इच्छा हमें नहीं है । और आपसे अन्य हमारा पालक पिता भी कोई नहीं है ।

त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम् । त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥ ऋ. ६।१।५॥

(क्षितय) मनुष्य (पृथिव्या) पृथिवीमें (त्वां वर्धन्ति) तुझे बढ़ाते हैं=तेरी महिमा फैलाते हैं । (जनानां) मनुष्योंके (उभयास राय) दोनों प्रकारके धन भी (त्वा) तेरी महिमा प्रकाशित करते हैं (त्वं) तूही (त्राता) तारक है । और (तरणे) दुःखसे तैर जानेके लिये (चेत्य) स्मरण करने योग्य तूही (भूः) है तथा (मानुषाणां) मनुष्योंका (पिता माता) पिता माता भी (सदं इत्) सदा तूही है ।

हे ईश्वर ! सब ज्ञानी जन तेरी महिमा फैला रहे हैं, सब लोगोंको स्थूल सूक्ष्म=ऐहिक, पारलौकिक धन तूही देता है, सबको दुःखसे पार होनेके लिये लिये तेराही ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि तूही सब मनुष्योंका भाई, माता, पिता आदि संबंधी है।

रक्षक।

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।

शतं भवास्यूतिभिः ॥ ऋ. ४।३१।३॥

हे ईश्वर ! तू (नः) हम सब (सखीनां) मित्रों और (जरितॄणां) उपासकोंका (शतं ऊतिभिः) सैकड़ों रक्षणोंके द्वारा (अभि सु अविता) सब प्रकारसे उत्तम रक्षक (भवासि) है।

हम सब मित्रों और उपासकोंका तू सैकड़ों प्रकारोंसे अत्यंत उत्तम रक्षण करता है।

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।

वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं

दाः ॥ ऋ. ५।२४।१॥

हे अग्ने ! (नः त्वं अन्तमः) हमारे लिये तू ही समीप है (उत) और तूही हमारा (शिवः) कल्याणमय और (वरूथ्यः) वरने योग्य (त्राता) रक्षक है। तू (अग्निः) तेजस्वी (वसुः) सबका निवासक (वसुश्रवाः) निवासके योग्य अन्नादि देनेवाला (अच्छा नक्षि) हमे उत्तम प्रकार प्राप्त हो। और हमें (द्युमत्तमं) उत्तम तेजयुक्त (रयिं दाः) धन दे।

परमेश्वर हमारे आत्माके अंदर व्याप्त होनेसे अत्यंत समीप है वही सबका रक्षक, कल्याणकारी और उपास्य है सबको आधार देकर योग्य पदार्थ देता है। हे ईश्वर ! तू इस प्रकार सबका रक्षक है। हम उपासकोंको श्रेष्ठ धन तथा उपभोगके पदार्थ दे जिससे हमारा योगक्षेम उत्तम प्रकार चल सके।

तं सध्रीचीरूतयो वृष्ण्यानि पौंस्यानि नियुतः सश्च-

रिन्द्रम् । समुद्रं न सिन्धव उक्थशुष्मा उरुव्यचसं

गिर आ विशन्ति ॥ ऋ. ६।३६।३॥

(तं इन्द्रं) उस प्रभुके पास (ऊतयः सध्रीचीः) श्रेष्ठ रक्षक शक्तियां

रहती हैं तथा (वृष्ण्यानि पौंस्यानि) उत्साहवर्धक शक्तियां (नियुतः) साथ नियुक्त होकर (सश्चुः) सेवा करती हैं । (सिंधव समुद्र न) नदियां जिस रीतिसे समुद्रको, उसी प्रकार (उक्थ—शुष्मा गिरः) बलसे युक्त स्तुति प्रार्थना की वाणी (उरु-व्यचसं आविशन्ति) सर्व-व्यापक देवके पास पहुंचती हैं ।

परामात्माके पास सब प्रकारका रक्षण करनेका सामर्थ्य है । बलभी उसीमें ही है । इसलिये हरएक उसीकी प्रार्थना अपनी वाणीसे करता है । अथवा हरएक मनुष्यको उसीकी स्तुति प्रार्थना उपासना करनी चाहिये ।

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः ।

नास्य क्षीयन्त ऊतयः ॥ ऋ. ६।४५।३॥

(अस्य प्रणीतयः मही) इसके उत्तम नीतियें बड़ी हैं इसकी (प्रशस्तयः पूर्वीः) प्रशंसाएं पूर्ण हैं और इसकी (ऊतयः) रक्षक शक्तियां (न क्षीयन्ते) कभी क्षीण नहीं होतीं ।

प्रभुने उन्नतिके प्रति पहुंचानेके अनेक मार्ग उपदेश किए हैं, और इस की रक्षक शक्तियां भी विविध हैं इसी लिये अनेक लोग अनेक प्रकारसे इसकी प्रशंसा करते हैं ।

स्कंभ वर्णन

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋत-

मस्याध्याहितम् । क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति

कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् । अ. १०।७।१॥

(अस्य) इस के (कस्मिन् अंगे) किस अंग में (तप) तेज तथा सहन शक्ति (अधि तिष्ठति) रहती है, (अस्य कस्मिन् अंगे) इस के किस अंग में (ऋतं) सरलत्व (अध्याहितं) रहता है, (अस्य) इस का (व्रत) नियम के अनुसार आचरण करने का भाव और (श्रद्धा) श्रद्धा भी (क्व) कहां (तिष्ठति) रहती है, (अस्य कस्मिन् अंगे) इस के किस अंग में (सत्यं) सत्य (प्रतिष्ठितं) रहता है ।

पुरुष के किस २ अंग में तप, ऋत, सत्य, व्रतपालन करने का स्वभाव तथा श्रद्धा भक्ति ये शुभगुण रहते हैं ।

कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते

मा॒त॒रिश्वा॑। क॒स्माद॒ङ्गाद् वि मि॑मी॒तेऽधि॑ च॒न्द्रमा॑

म॒ह स्क॒म्भस्य॑ मि॒मा॑नो॒ अङ्ग॑म् ॥ अ. १०।७।२॥

(अस्य कस्मात् अंगात्) इस के किस अंग से (अग्निः दीप्यते) अग्नि चमकता है, (कस्मात् अंगात्) किस अंग से (मातरिश्वा) वायु और प्राण (पवते) चलता है, (कस्मात् अंगात्) किस अंग से चन्द्रमा (वि अधि मिमीते) बनता है जो (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (स्कम्भस्य) आधारस्तम्भ का (मह- अंगं) महनीय अंग को (मिमानः) मापने वाला है।

आध्यात्मिक भाव-किस अंग से वाणी उच्चारी जाती है, कहां से प्राण चल रहा है, कहां से मन सब कार्यों को देख रहा है, आजमा रहा है, जो मन सब के मुख्य आधार आत्मा का भी विचार करता है

आधिदैविक भाव—परमात्मा के किस अंग से अग्नि जलता है, वायु चलता है और चन्द्रमा अपनी कलाओं के साथ खगोल स्थानीय नक्षत्रकेंद्रों को मापता हुआ चल रहा है।

क्रमशः वाणी, प्राण और मन के बाह्य सृष्टि में प्रतिनिधि अग्नि, वायु और चन्द्रमा हैं, यह बात सर्वत्र उपनिषदादि में स्पष्ट है।

क॒स्मि॒न्नङ्गे॒ तिष्ठति॒ भूमि॑रस्य क॒स्मि॒न्नङ्गे॒ तिष्ठत्य॒न्त-

रि॑क्षम्। क॒स्मि॒न्नङ्गे॒ ति॒ष्ठत्याहि॑ता॒ द्यौः क॒स्मि॒न्नङ्गे॒

ति॒ष्ठत्युत्त॑रं दि॒वः ॥ अ. १०।७।३॥

(अस्य कस्मिन् अंगे) इस के किस अंग में (भूमिः) भूमि, (कस्मिन्नङ्गे) किस अंग में (अन्तरिक्षं तिष्ठति) अन्तरिक्ष ठहरा है, (कस्मिन्नंगे) किस अंग में (द्यौः आहिता) द्युलोक रखा है (कस्मिन्नंगे) किस अंग में (दिवः उत्तरं) द्युलोक के परे का स्थान ठहरा है।

परमात्माके किस किस अंगमें भूमि, अंतरिक्ष और द्युलोक अर्थात् यह त्रिलोकी रहती है और इस त्रिलोकीके परेका जो सूक्ष्म जगत् है वह कहां ठहरा है?

अध्यात्मपक्षमें नाभिके नीचे भूस्थान, हृदय अन्तरिक्षस्थान, और मस्तक द्युस्थान है, इसमें जो सूक्ष्म शक्तियां मनुष्यके अंदर हैं वह इससे परे और अधिक श्रेष्ठ हैं। ये सब किसके आश्रित हैं, यह प्रश्न यहां है।

यस्मि॒न्त्स्त॒ब्ध्वा प्र॒जाप॑तिर्लो॒कान्त्सर्वाँ॒ अधा॑रयत्।

स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ अ. १०।७।७॥

(यस्मिन्) जिसमें रहकर प्रजापति (सर्वान् लोकान्) सब लोकोंको (स्तभ्वा) स्तंभन करके (अधारयत्) धारण किया करता है (तं स्कंभं ब्रूहि) वह आधारस्तम्भ है ऐसे तू कह। (सः कतमः स्वित् एव) वह निश्चय करके आनन्दमय ही है।

जिसके आधारसे संपूर्ण लोकलोकान्तरकी स्थिति है, वह सबका कतम=अत्यन्त आनन्दमय मूल आधार है।

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्व-
रूपम्। कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्रावि-
शत् कियत् तद् बभूव ॥ अ. १०।७।८॥

(यत् परमं) जिस परम (अवमं) कनिष्ठ और (च) (यत् मध्यमं) जिस मध्यम (विश्वरूपं) विश्वके रूपको (प्रजापतिः) प्रजापति (ससृजे) उत्पन्न करता है। (तत्र) उसमें (स्कम्भः) सर्वाधार आत्मा (कियता प्रविवेश) कितने से प्रविष्ट हुआ है और (यत् न प्राविशत्) जहां प्रविष्ट नहीं है (तत् कियद् बभूव) वह कितना है?

सृष्टि बनाने के पश्चात् सृष्टि के कितने अंश में आत्मा का "अनुप्रवेश" हुआ है और ऐसा कोई अंश अवशिष्ट है कि जहां वह प्रविष्ट नहीं हुआ?

यह मन्त्र "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस उपनिषद्वचन का आधार है। इस मन्त्र के प्रश्न का उत्तर यह है कि उस आत्मा से रिक्त कोई भी सृष्टि का अंश नहीं है।

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यद्-
न्वाशयेस्य। एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता
स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥ अ. १०।७।९॥

(कियता भूतं) कहां तक भूतकालीन सृष्टि में (स्कंभः प्रविवेश) सर्वाधार आत्मा ने प्रवेश किया था, (कियत् भविष्यति) कितनी भविष्य काल की सृष्टि (अस्य अनु आशये) इस के साथ रहेगी। (यत् एकं अंगं) जिस एक अंग को (सहस्रधा अकृणोत्) सहस्र प्रकारों से विभक्त किया करता है (तत्र) उस में वह (स्कम्भ) आधारस्तम्भ (कियता प्रविवेश) कहां तक प्रविष्ट होता है।

भूतकालमें जिस प्रकार आत्माका अनुप्रवेश होता था वैसाही भविष्य कालमें होगा या नहीं? तथा एकही पदार्थको सहस्रधा विभक्त करनेपर उसके

प्रत्येक अंशमें यह आत्मा प्रविष्ट होता है वा नहीं ? यह प्रश्नका भाव है। वह सर्वत्र एक जैसा व्यापक है। यह इसका उत्तर है।

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः
स्विदेव सः॥ अ. १०।७।१०॥

(जना यत्र) ज्ञानी लोग जिसमें (लोकान्) सब लोकों (च) और (कोशान्) सब कोशोंको (च) तथा (आपः) मूल प्रकृतिको और (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान को भी (विदुः) जानते हैं। तथा (असत् च सत् च) अव्यक्त और व्यक्त अथवा कारण और कार्य्य अथवा जीव और जगत् भी (यत्र अन्तः) जिसके भीतर हैं (तं स्कंभं ब्रूहि) वही सर्वाधार है ऐसा तू कह। (सः कतमः स्वित् एव) वही अत्यंत आनंदरूप है।

जिसके आधारसे ही सब लोक, सब कोश सृष्टि जगत् आदि तथा जीवात्मा भी रहते है, वही सबका आधार है।

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्। ऋतं च
यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि
कतमः स्विदेव सः॥ अ. १०।७।११॥

(यत्र) जिसमें (तपः पराक्रम्य) तपसे पराक्रम करके (उत्तरं व्रतं) उत्तम व्रतका (धारयति) धारण किया जाता है, (ऋतं च श्रद्धा) ऋत और श्रद्धा (च) तथा (आपः) अप्रोमय प्राण और (ब्रह्म) ज्ञान (यत्र) जिसमें (समाहिताः) रहते हैं (तं) वही (स्कंभ) आधारस्तंभ है ऐसा तू (ब्रूहि) कह (सः कतमः स्वित् एव) वह अत्यन्त आनंदमय है।

जिससे तप अर्थात् सहनशक्ति प्राप्त होती है जिससे नियमपालन करने की शक्ति रहती है सरलता श्रद्धा तथा ज्ञान जिसके आधारसे रहते हैं और प्राण भी जिसके आधार से चलता है वह सबका सच्चा आधार है और वही आनन्दमय है।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अ. १०।७।१२॥

(यस्मिन् भूमि अन्तरिक्ष) जिसमें भूमि और अंतरिक्ष (यस्मिन् द्यौः

आहिता) और जिसमें द्युलोक रहता है; (यत्र अग्निः चन्द्रमाः सूर्यः वातः) जिसमें अग्नि, चन्द्र, सूर्य, वायु ये देव (आर्पिता· तिष्ठन्ति) अर्पित रहते हैं (स्कंभं तं ब्रूहि सः कतमः स्वित् एव) वही सबका आधारस्तंभ है, और आनन्दमय है, ऐसा तू कह।

(अध्यात्मपक्ष में) स्थूल शरीर, अंतःकरण, मस्तिष्क, वाणी, मन, नेत्र ये जिसके आधार से रहते हैं वही सबका आधार है।

भूमि, अंतरिक्ष, द्युलोक, अग्नि, चन्द्र, सूर्य और वायुके प्रतिनिधि अध्यात्ममें स्थूल शरीर, अंतःकरण, मस्तिष्क, वाणी, मन, नेत्र, प्राण यही क्रमशः है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अ. १०।७।१३॥

(यस्य अंगे) जिस के शरीरमें (सर्वे त्रयस्त्रिंशत्) सब तैंतीस देव (समाहिताः) मिलकर रहते हैं (तं) वही सबका (स्कंभं) आधारस्तंभ है, ऐसा तू (ब्रूहि) कह, (सः एव) वही (कतमःस्वित्) आनंदमय है।

अग्नि आदि तैंतीस देव परमात्माके विश्वपरिमाणरूप शरीरमें रहते हैं, उसी प्रकार जीवात्माके छोटे शरीरमें अग्न्यादि देवताओंके अंशरूप प्रतिनिधि वाक् आदि इन्द्रियस्थानोंमें रहते हैं। यह समानता देखकर इस मंत्रका अर्थ जानना चाहिये।

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।

एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः

स्विदेव सः॥ अ. १०।७।१४॥

(यत्र) जिसमें (प्रथमजा ऋषयः) प्रथम उत्पन्न ऋषि, (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद और (यजुः) यजुर्वेद, (मही) पूजनीय अथर्ववेद रहता है तथा (एक ऋषिः) एक द्रष्टा जिसमें (आर्पितः) स्थापित है (तं स्कंभं, सः एव कतमःस्वित्, ब्रूहि) वही सबका आधारस्तंभ है, वही आनंदमय है, ऐसा तू कह।

ऋगादि चारों वेद तथा इनसे ज्ञान प्राप्तकर आत्मपरमात्मद्रष्टा जीवात्मा जिस प्रभुमें रहते हैं, निस्सन्देह वही सर्वाधार तथा सर्वानन्दप्रद है।

यत्राऽमृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते। समुद्रो

यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि

कतमः स्विदेव सः॥ अ. १०।७।१५॥

(अमृतं च मृत्युः च) अमृत और मृत्यु (यत्र पुरुषे) जिस पुरुषमें (समाहिते) रहते हैं, (यस्य पुरुषे अधि) जिस पुरुषमें (समुद्र नाड्यः) समुद्र और नदियां रहती हैं (तं स्कंभं ब्रूहि) उसीको आधारस्तंभ कह, (स एव कतमः स्वित्) वही अतिशय आनंदस्वरूप भी है।

मृत्यु और मोक्ष सब परमात्माके वशमें है, समुद्र, नदी आदि यह सारा संसार उसी प्रभुमें, तथा उसीके अधीन है। अतः वह सर्वाधार है।

मनुष्य पुरुषार्थ करके अमरपन प्राप्त कर सकता है और मृत्यु उसको प्राप्त होता ही है। इसीके हृदयस्थान में समुद्र है और नाड़ियां नदीरूप सब शरीर में फैली हैं। आत्मा इस सारेका आधार है और वही आत्मा परमात्म-संगसे आनंद प्राप्त कर सकता है।

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरंगिरसोऽभवन् ॥
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः
स्विदेव सः ॥ अ. १०।७।१८॥

(वैश्वानर यस्य शिरः) अग्नि जिसका शीर्षस्थानी है। (आंगिरसः चक्षुः अभवन्) सूर्यादि प्रकाशमय जिसके नेत्रस्थानी हैं, (यातवः यस्य अंगानि) गतिशील पदार्थ जिसके अंगरूप हैं (तं स्कंभं ब्रूहि) उसका नाम स्कंभ है और (स, वह (कतमः स्वित् एव) अत्यन्त आनंदमय है।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं
ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अ. १०।७।२०॥

(यस्मात्) जिससे (ऋचः) ऋग्वेद (अपातक्षन्) बना, (यजु यस्मात् अपाकषन्) यजुर्वेद जिससे प्रकट हुआ, (समानि) सामवेद (यस्य) जिसके (लोमानि) रोम हैं और (अथर्वाङ्गिरसः मुखं) आंगिरस अथर्ववेद जिसका मुख है, (तं स्कंभं ०००) वही सबका आधार है और वही आनंदमय है, ऐसा तू कह।

परम आत्मासे ही संपूर्ण वेद निकले हैं, क्योंकि वही सब ज्ञानका आदि स्रोत है। वह ज्ञानमय होनेसे ही अत्यन्त मंगलमय है।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः। भूतं
च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं
ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अ. १०।७।२२॥

(यत्र आदित्याः च रुद्राः च वसवः च समाहिताः) जिसमें आदित्य, रुद्र और वसु रहते हैं, (यत्र भूतं च भव्यं च) जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान काल और (सर्वेलोकाः) सब लोक (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित हुए हैं, (स्कम्भं०) वही आधारस्तंभ है, और अतिशय आनंदमय है, ऐसा कह।

यस्य त्र॒यस्त्रिं॑शद् दे॒वा नि॒धिं र॒क्षन्ति॑ स॒र्वदा॑ ।

नि॒धिं तम॒द्य को वे॑द॒ यं दे॑वा अभि॒रक्ष॑थ ॥ अ. १०।७।२३॥

(त्रय-स्त्रिंशत् देवाः) तैंतीस देव (यस्य निधिं) जिसका कोश (सर्वदा) सर्वदा (रक्षन्ति) रखते हैं। हे (देवाः) देवो! (यं अभिरक्षथ) जिसका तुम सदा रक्षण करते हो (तं निधिं) उस निधिको (अद्य कः वेद) आज कौन जानता है?

तैंतीस देव जिस निधिका संरक्षण करते हैं उसको ज्ञानी ही जानते हैं।

यत्र॑ दे॒वा ब्र॑ह्म॒विदो॒ ब्रह्म॑ ज्ये॒ष्ठमु॒पास॑ते । यो वै तान्

वि॒द्यात् प्र॒त्यक्षं॒ स ब्र॒ह्मा वेदि॑ता स्यात् ॥ अ. १०।७।२४॥

(ब्रह्म-विदः देवा) ब्रह्मज्ञानी देवलोग (यत्र) जिस अवस्थामें अथवा जिसमें अवस्थित होकर उस (ज्येष्ठं ब्रह्म) श्रेष्ठ ब्रह्मकी (उपासते) उपासना करते हैं, (यः वै) जो निश्चयसे (तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) उनको प्रत्यक्ष जान लेवे (सः वेदिता ब्रह्मा) वह ज्ञानी पंडित (स्यात्) होवे।

जिस अवस्थामें ज्ञानी लोग श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वह अवस्था जिसको प्रत्यक्ष अनुभवमें प्राप्त होती है, अथवा जो ब्रह्मज्ञानियोंको पहचानले, वही सच्चा ज्ञानी होता है।

बृ॒हन्तो॒ नाम॒ ते दे॒वा येऽस॑तः॒ परि॑ जज्ञि॒रे ।

एकं॒ तदङ्गं॑ स्क॒म्भस्यास॑दाहुः प॒रो जनाः॑ ॥ अ. १०।७।२५॥

(बृहन्तः नाम) बड़े ही (ते देवाः) वे देव हैं (ये) जो (असतः) प्रकृतिसे (परिजज्ञिरे) उत्पन्न हुए हैं। (तत् असत्) वह असत्=अव्यक्त, सदा एकरस न रहने वाला प्राकृतिक (एकं अंगं) एक अंग (स्कंभस्य) उस आधारस्तंभका ही है ऐसा (परः जनाः आहुः) श्रेष्ठ मनुष्य कहते हैं।

परमात्माका चेतनरूप एक अंग है उसको "सत्"=सदा एक समान कहते हैं। उसीका दूसरा अंग है जिसको "असत्" किंवा प्रकृति कहते हैं। इस असत्=परिणामशील प्रकृतिरूप अंगसे ही अग्नि वायु सूर्यादि सब बड़े देव बने हैं। यह बात प्रसिद्ध ही है।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ अ. १०।७।२७॥

(त्रय त्रिंशत् देवा) तैंतीस देव (यस्य अंगे) जिसके अंगमें (गात्रा) अवयवोंमें (विभेजिरे) बांटे गये हैं। (तान् त्रय-त्रिंशत् देवान्) उन तैंतीस देवोंको (एके ब्रह्मविदः) अकेले ब्रह्मज्ञानी (वे) ही (विदुः) जानते हैं।

परमात्माके अंगमें अग्नि, वायु, सूर्य आदि तैंतीस देव हैं अर्थात् ये तैंतीस देव मिलकर जो संपूर्ण विश्व होता है वही परमात्माका मानो शरीर है। इसी प्रकार इस जीवात्माके देहमें भी वाक्, प्राण, चक्षु आदि रूपोंसे उक्त तैंतीस देवोंके तैंतीस अंश रहते हैं। अपने देहमें आत्माके अधिष्ठातृत्वमें तैंतीस देवताओंको जो ब्रह्मज्ञानी अनुभव करते हैं, वही लोग 'परमात्माके देहमें तैंतीस देव कैसे रहते हैं' यह जान सकते हैं।

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः। स्कम्भस्त-
दग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा॥ अ. १०।७।२८॥

(जना) लोग (हिरण्यगर्भ) सूर्य अथवा प्रकृति को ही (परमं अनति उद्यं) सर्वोत्कृष्ट और अवर्णनीय (विदुः) समझते हैं (तत् हिरण्यं) उस सूर्यको अथवा प्रकृतिमें (अग्रे) प्रारंभमें अथवा सृष्टिसे पूर्व (लोके अन्तरा) सब लोकोंके बीचमें (स्कम्भ प्रासिञ्चत्) आधारस्तंभ परमात्माने ही बनाकर रखा, अथवा कार्य्य सामर्थ्यका आधान किया।

सूर्यको सब लोग अवर्णनीय समझते हैं, उस सूर्यको परमात्माने सृष्टिके प्रारम्भमें ही बनाकर संपूर्ण लोकलोकांतरोंके बीचमें ही रख दिया है। इससे ही विचार हो सकता है कि वह सर्वाधार परमात्मा कितना अवर्णनीय होगा?

कोई लोग इस नानारूपरूपान्तरधारिणी मायाविनी प्रकृतिको ही सर्वा-सर्वे समझ बैठते हैं। किन्तु विचारिये तो सही, जड़ प्रकृति स्वय तो कुछ कर नहीं सकती इससे तो कोई और ही कठपुतली बनाकर नए नए रूप देरहा है, वह नटनागर कैसा अवर्णनीय गुणाकर होगा।

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥
अ. १०।७।२९॥

(स्कम्भे) आधारस्तंभ परमात्मामें (लोका) सर्व लोक, (स्कंभे तपः)

उसी सर्वाधारमें सब तप और (स्कंभे ऋतं) उसी सर्वाधारमें ऋत (अधि आहितं) रहता है। हे (स्कम्भ) सर्वाधार ईश्वर! मैं (त्वा प्रत्यक्षं वेद) तुझे प्रत्यक्ष जानता हूं। और अनुभव करता हूं कि (इन्द्रे) तुझ प्रभुके अंदर ही (सर्वं) सब कुछ (समाहितं) रहता है।

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम्। इन्द्रं

त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ अ. १०।७।३०॥

(इन्द्रे लोकाः) इन्द्रमें सब लोक, और (इन्द्रे तपः) इन्द्रमें तप और (इन्द्रे ऋतं अधि आहितं) इन्द्रमेंही ऋत रखा हुआ है (त्वा इन्द्रं प्रत्यक्षं वेद) तुझ इन्द्रकोही मैं प्रत्यक्ष जानता हूं और अनुभव करता हूं कि (स्कम्भे) आधारस्तम्भ आत्मामें ही (सर्वं) सब कुछ (प्रतिष्ठितं) समाहित रहता है।

इन दो मंत्रोंके देखनेसे स्पष्ट पता लग सकता है कि "स्कंभ और इन्द्र" ये दो नाम एकही परमात्माके हैं।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।

यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय

यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्॥ अ. १०।७।३१॥

(सूर्यात् पुरा) सूर्योदयके पहिले (उषसः पुरा) उषःकालके भी पूर्व (नाम नाम्ना) ईशका नाम उसके अन्य नामोंके साथ ही (जोहवीति) पुकारता है, (यत्) क्योंकि (अजः) हलचल करनेवाला (प्रथमं) प्रारंभमें ही (संबभूव) एकरूप हुआ इसलिये (सः) उसने (ह) निश्चयसे (तत्) वह (स्वराज्यं इयाय) स्वराज्य प्राप्त किया, (यस्मात्) जिससे (परं अन्यत्) श्रेष्ठ दूसरा कोई (भूतं) पदार्थ (न अस्ति) नहीं है।

परमात्मा प्रकृतिके तथा अग्नि आदि देवोंके साथ मिलनेसे इस सब जगत्के ऊपर अपना प्रभाव जमा सका है, और सब जगत्का स्वराज्य उसको प्राप्त है। राष्ट्रमें भी जो हलचल करनेवाला नेता राष्ट्रके लोगोंके साथ मिलकर उनके साथ एकरूप होकर रहता है, वही राष्ट्रीय स्वराज्य को उक्त संघशक्तिके द्वारा प्राप्त कर सकता है। जो जीवात्मा सब इन्द्रियशक्तियोंको स्वाधीन करता है वह आध्यात्मिक स्वराज्य प्राप्त करता है। स्वराज्यसे श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नहीं है।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे

मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अ. १०।७।३२॥

(भूमि:) भूमि (यस्य) जिसका (प्रमा) पादतलका निचला आधार है, (उत) और (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (उदरं) पेट है और (य) जिसने (दिवं) द्युलोकको (मूर्धानं) सिर (चक्रे) बनाया, उस (ज्येष्ठाय) श्रेष्ठ ब्रह्मणे नम ब्रह्मको नमस्कार है।

पृथिवी पांव, अंतरिक्ष मध्य भाग और द्युलोक सिर है। यह सारा जगत मानों परमात्मा का देह है। इसे विराट् कहते हैं।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र

आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ अ. १०।७।३३॥

(सूर्य) सूर्य और (पुनःनव:) वारंवार नवीन बनने वाला (चन्द्रमा) चन्द्रमा (यस्य चक्षुः) जिसके चक्षु हैं और (अग्निं) अग्निको (य:) जिसने (आस्यं) मुख (चक्रे) बनाया है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम) उस श्रेष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।

दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय

ब्रह्मणे नमः ॥ अ. १०।७।३४॥

(वातः) वायु (यस्य प्राणापानौ) जिसका प्राण और अपान है, (अंगिरस) किरणें जिसकी (चक्षुः अभवन्) चक्षु हैं, और (य) जिसने (दिशः) दिशाएं (प्रज्ञानीः) ज्ञान देनेवाली (चक्रे) बनाई हैं (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो

दाधारोर्व१न्तरिक्षम् । स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः

स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ अ. १०।७।३५॥

(स्कम्भः) सबका आधारस्तंभ ईश्वर (द्यावापृथिवी दाधार) द्युलोक और पृथिवीको धारण करता है। (उरु अंतरिक्ष) इस बड़े अन्तरिक्ष को (स्कम्भ दाधार) स्कंभ परमात्मा धारण करता है। (उर्वीः षट् प्रदिश) विस्तृत छः दिशाओं आदि सबको (स्कम्भ दाधार) स्कंभ परमात्मा धारण करता है। और (इदं विश्वं भुवनं) इस सब भुवनके अंदर वह (स्कम्भः) सर्वाधार (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है, अर्थात् व्यापक है।

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे । तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कंधः परित इव शाखाः ॥ अ. १०।७।३८॥

(महद्-यक्षं) बड़ा पूज्य देव (भुवनस्य मध्ये) त्रिभुवन के मध्यमें (सलिलस्य पृष्ठे) अन्तरिक्षके पृष्ठ पर (तपसि) तपनमें अर्थात् प्रकाश में (क्रान्तं) विख्यात अथवा व्याप्त है। (ये उ के च देवा) जो कोई देव हैं वे सब (तस्मिन्) उसीमें (श्रयन्ते) रहते हैं, (इव) जिस प्रकार (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्षके स्तम्भ के सहारे (परितः शाखाः) चारों ओर शाखाएं होती हैं।

परम आत्मा सबका केन्द्र है और अग्नि आदि देव उसके आधार से रहते हैं।

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा । यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अ. १०।७।३९॥

(हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा) हाथों और पांवोंसे, वाणी श्रोत्र और चक्षुसे (यस्मै) जिसके लिये (देवाः) सब देव (सदा बलिं प्रयच्छन्ति) सर्वदा भेंट देते हैं, (तं) उसको (विमिते अमितं स्कभं) परिमितमें अपरिमित आधारस्तंभ (ब्रूहि) कह। (स कतम स्वित् एव) वही अत्यन्त आनंदमय है ॥

इन्द्रियस्थानोंमें रहनेवाले तैंतीस देवांश अपने अपने इन्द्रियोंके द्वारा विविध भोग जिस आत्माको पहुंचाते हैं, वही सबका आधार है और वही परिमितमें अपरिमित शक्तिवाला है। तैतीस देव जिस परमात्माको भेट अर्पण करते हैं वही सर्वाधार परमात्मा है और वही परिमित जगत्के अंदर अपरिमित=अनन्त है ।

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना । सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ अ. १०।७।४०॥

जो पुरुष इस बातको जान लेता है । (तस्य तमः) उसका अज्ञान (अप हतं) दूर हो जाता है, (स) वह (पाप्मना) पापसे (व्यावृत्त) निवृत्त हो जाता है, (यानि त्रीणि ज्योतींषि प्रजापतौ, सर्वाणि तस्मिन्) जो तीन ज्योतियां प्रजापतिमें हैं वे सब ज्योतियां उसमें आजाती हैं।

यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद।
स वै गुह्यः प्रजापतिः॥ अ० १०।७।४१॥

(य.) जो (सलिले तिष्ठन्तं) अव्यक्त प्रकृतिमें ठहरे हुए (वेतसं हिरण्यं) इकट्ठे बने हुवे चमकीले व्यक्त जगत् को जानता है, (सः वै गुह्य प्रजापतिः) वह निःसंदेह गुह्य प्रजापतिको अर्थात् परमात्माकी प्रजापालकताको जानता है।

तंत्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्। प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम्॥ अ० १०।७।४२॥

(एके) अकेली अकेली (वि-रूपे) विरुद्ध रूपवाली (युवती) दो स्त्रियां (अभ्याकामं) भ्रमण करती हुई (षण्मयूखं) छ खूंटीवाले (तंत्रं) यंत्रपर (वयत) कपड़ा बुनती हैं। (अन्या) उनमेंसे एक (तंतून्) तंतुओंको (प्र-तिरते) फैलाती है (अन्या धत्ते) दूसरी तंतुओंको धारण करती है। (न अप वृजाते) न बीच में छोड़ती है और (न अंतं गमात) न समाप्तितक पहुंचाती हैं।

'दिनकी प्रभा' यह गोरी स्त्री है, (रात्री' यह काली स्त्री है। ये दो स्त्रियां "काल" रूपी कपड़ा बुन रही है। छ ऋतु छ खूंटियां लगीं हैं, और संवत्सररूपी खड्डी पर यह कपड़ा बुना जा रहा है। एक के पीछे दूसरी स्त्री आती है और अपना बुनने का काम करके चली जाती है। कोई भी थकती नहीं और कितना ही काम करने पर किसीका कार्य समाप्त नहीं होता। क्योंकि काल अनंत है।

सृष्टि और प्रलय यह दो युवती हैं। 'युवती' शब्द रहस्यमय है, युवती शब्द का अर्थ है मिलने वाली, युक्त होने वाली तथा न मिलने वाली। सृष्टि के पश्चात् प्रलय, प्रलय के पश्चात् सृष्टि यह सदा से क्रम चला आता है। एक दूसरे के पश्चात् आने से एक दूसरे से मिलती हैं। तथा सृष्टि और प्रलय का काल एक न होने से नहीं भी मिलती। भाव पदार्थों के छः विकार—उत्पत्ति, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, क्षय तथा अभाव यह छ खूंटियों वाला कपड़ा है। इस चक्र की समाप्ति कभी नहीं होती।

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात्। पुमानेनद् वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद् वि जभाराधि नाके॥ अ. १०।७।४३॥

(अहं) मैं (न विजानामि) नहीं जानता कि (तयोः परितृत्यन्त्योः इव) नाचनेवाली स्त्रियोंके समान उनमें (यतरा परस्तात्) कौनसी पहिली और कौनसी दूसरी है। (पुमान) पुरुष (एनत् वयति) इसको बुनता है और वही (पुमान्) पुरुष (एनद्) इसको (गृणत्ति) निगल लेता है और वही (पुमान्) पुरुष इसको (नाके अधि) स्वर्ग में-प्रकाश पूर्ण लोकमें (विजभार) फैलाता है।

दिन और रातमें कौन पहिला और कौन दूसरा है, यह कहना अशक्य ही है। सूर्य रूपी पुरुष एक बार प्रकाश फैलाता है और दूसरी बार फिर प्रकाशको निगल लेता है। उदयके समय प्रकाश को फैलाना और अस्त के समय प्रकाशको समेटना प्रसिद्ध है। और यह प्रकाश द्युलोकमें अपरिमित प्रमाण में फैला है।

दिन और रात=सृष्टि और प्रलय में कौन पहला है, यह कहना असंभव है, विधाता ही सृष्टि रचता तथा सृष्टि संहार करता रहता है। परमात्मा जीवों के कल्याण के लिए ही यह सारी रचना करता है "पुमानेनद् विजभाराधिनाके" काही अनुवाद मानो "भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" योगसूत्र में दिया गया है॥

> इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्त-
>
> सराणि वातवे॥ ऋ. १०।७।४४।

(इमे मयूखाः) ये खूंटियां (दिवं) द्युलोकको (उपतस्तभुः) धारण करती हैं और (वातवे) बुनेके लिये (सामानि तसराणि) समना रूपी धड़कियां [जुलाहेकी नालियां] (चक्रु) बनायी हैं।

छः ऋतु की खूंटियां इस संवत्सर के यंत्र में लगी हैं और धड़कियां भी उसी में उत्तम प्रकार बुनी जा रही हैं। अथवा छःविकारों की खूंटियां इस संसार चक्र में कार्य कर रही हैं।

यह संवत्सर-चक्र का वर्णन है और इस पर महाभारत आदि पर्व अध्याय ३ में उत्तंक की कथा बड़ी मनोरम रची है।

> यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
>
> स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
>
> अ. १०।८।१॥

(यः) जो (भूतं भव्यं च) भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन (सर्वं) सब का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है (च) और (यस्य) जिसका (स्वः) आत्मीयता का आनन्द ही (केवलं) कैवल्य है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म को मेरा नमस्कार है।

परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का ईश है और वही कैवल्य-धाम है। आनन्द से परिपूर्ण वही स्थान है। वही सब का उपास्य है।

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।

स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्॥

अ. १०।८।२॥

(इमे द्यौः च भूमिः च) ये द्युलोक और भूलोक (स्कंभेन विष्टभिते) सर्वाधार परमात्मा से धारण किये जाने के कारण ही (तिष्ठतः) ठहरे हैं। (इदं सर्वं) यह सब (आत्मन्वत्) आत्मावाला और (यत् प्राणत् च यत् निमिषत् च) जो प्राणवाला जो आंखें खोलने वाला, वह सब (स्कंभे) सर्वाधार परमात्मा के अन्दर है और उसी का आधार सब को है। अथवा (यत् प्राणत् च यत् निमिषत्) जो प्राणवाला है, और जो जीवन की आरम्भावस्था में है (इदं सर्वं) यह सब (स्कंभे) सर्वाधार प्रभु के निमित्त से (आत्मन्वत्) सत्तावाला है।

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।

प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिञ्ज्येष्ठमधि श्रितम्।

अ. १०।८।१६

(यस्मिन्) जिस पुरुष में (ज्येष्ठं) श्रेष्ठ ब्रह्म (अधिश्रितं) प्रकाशित हुआ है, वह (सत्येन) सत्यनिष्ठा से (ऊर्ध्वः तपतिः) ऊंचा होकर प्रकाशता है, (ब्रह्मणा) ज्ञान से (अर्वाङ्) अपनी ओर (विपश्यति) विशेष देखता है (प्राणेन तिर्यङ्) प्राण से तिरछा (प्राणति) जीता रहता है।

जिस पुरुष में ब्रह्म प्रकाशने लगता है, वह सत्यनिष्ठ बनता है, इस लिये उच्च और श्रेष्ठ बनकर, महात्मा बनकर प्रकाशता है। विशेष ज्ञानी बनने के कारण अपनी ओर ही देखता है अर्थात् आत्मपरीक्षण करता रहता है। और प्राण शक्ति वृद्धिगत होने से शुद्ध जीवन व्यतीत करता है।

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।

स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्।

अ. १०।८।२०॥

(याभ्यां) जिनसे (वसु) धन (निर्मथ्यते) मथ कर निकाला जाता है, (ते अरणी) उन मंथन साधनों को (य विद्यात्) जो जानता है, (स

विद्वान्) वह ज्ञानी (ज्येष्ठं मन्येत) श्रेष्ठ ब्रह्म को समझ सकता है और (स) वही (महत् ब्राह्मणं) बड़े ब्रह्मज्ञान को (विद्यात्) जान सकता है।

जिस प्रकार दो लकड़ियों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार धन उत्पन्न करने के लिये भी ज्ञान और कर्म का संघट्टन होना आवश्यक है। ज्ञान और कर्म के संयोग से धन उत्पन्न करने की विद्या जो जानता है वही मनुष्य ब्रह्म को तथा ब्रह्म के ज्ञान विज्ञान को जान सकता है अर्थात् व्यवहार उत्तम करने से ही परमार्थ उत्तम प्रकार किया जा सकता है।

उच्छिष्ट।

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥

अ. ११।७।१॥

(उच्छिष्टे) अवशिष्ट अर्थात् परमात्मा में (नाम रूपं च) नाम और रूपवाला जगत् रहता है (उच्छिष्टे) उसी उत्कृष्ट परमात्मा में (लोक आहितः) लोक लोकान्तर रहते हैं। (उच्छिष्ट इन्द्रः च अग्निः च) उसी में इन्द्र और अग्नि तथा (अन्तः) उसी में (विश्वं) सम्पूर्ण विश्व (समाहितं) समाया है।

परमात्मा जगत् में व्याप्त है और बहुत सा बाहिर अवशिष्ट है। इस प्रकार के विशाल परमेश्वर में यह सब संसार रहता है।

(उत् शिष्ट=उच्छिष्ट) (उत्) ऊर्ध्व भाग में जो (शिष्ट) अवशिष्ट है, वह "उच्छिष्ट" है। अर्थात् इस स्थूल जगत् से परे जो है और जिस के सामर्थ्य से यह सब विश्व है।

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् ।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥

अ. ११।७।२॥

उसी (उच्छिष्टे) अवशिष्ट परमेश्वर में (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक, और पृथिवी तथा (विश्वं भूतं) सम्पूर्ण भूत (समाहित) समाया है। (आपः समुद्र· चन्द्रमाः वात·) जल समुद्र, चन्द्र, वायु आदि सब (उच्छिष्टे) उसी उच्छिष्ट में रहते हैं।

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः ।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥

अ. ११।७।३॥

(सत्) सत्=व्यक्त और (असत्) असत्=अव्यक्त ये (उभौ) दोनों (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में रहते हैं (मृत्युः) मृत्यु, (वाजः) बल, पराक्रम, (प्रजापतिः) प्रजापति, (लौक्याः) लौकिक पदार्थ ये सब (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में (आयत्ता) रहते हैं अर्थात् उसीके अधीन हैं (प्र० व द्र० व) समूह और व्यक्ति भी उसी में है। उस की कृपा से (श्रीः) शोभा, सम्पत्ति (मयि) मुझे प्राप्त हो।

व्यक्त=कार्य्य जगत् और अव्यक्त=कारण प्रकृति तथा जीव यह सारे परमात्मा ही में रहते हैं ।

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश ।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥

अ. ११।७।४॥

वह उच्छिष्ट भगवान् (दृढ.) अविचल है तथा (दृंहं स्थिर) दृढ पदार्थों को स्थिर रखने वाला भी वही है। (न्य. दश विश्वसृज) सब के नेता, दश प्राण और (ब्रह्म) जीवात्मा तथा अन्य सारे (देवताः) देवता (सर्वतः) सर्वथा (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में (श्रिताः) आश्रित हैं; (इव) जैसे (चक्रं नाभिम्) चक्र पहिया नाभि के आश्रित रहता है।

परमात्मा सब का केन्द्र है, जिस प्रकार नाभि से पृथक् हुआ चक्र चक्र नहीं रह सकता, यही स्थिति इस सारे जड़ तथा चेतन जगत् की है। ब्रह्म शब्द का अर्थ जीव भी होता है. देखो श्वेताश्वेतरोपनिषत् १।६,१२॥

ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥

अ. ११।७।५॥

(ऋक्) पद्यात्मक वेद (साम) गीतिमय वेद (यजुः) गद्यात्मक मन्त्र (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट=सर्वोत्कृष्ट उपदेष्टा प्रभु में रहते हैं, (उद्गीथ) उद्गीथ (प्रस्तुतं) प्रस्ताव (स्तुतम्) स्तोत्र (हिङ्कारः) हिङ्कार (स्वर) क्रुष्ट आदि स्वर (च) तथा (साम्न मेडि.) साम का आलाप, यह सब कुछ (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट ब्रह्म में है। (तत् मयि) वह सब मुझ में हो।

भाषा तीन प्रकार की हो सकती है गद्य, पद्य और गान। वेदों में यह तीनों प्रकार की भाषा है। गद्य को वैदिक परिभाषा में यजु कहते हैं। पद्य को ऋक् कहते हैं और गीति=गान को साम कहते हैं। सामगान में पांच भक्तियों का व्यवहार होता है कहीं २ ये सात होती हैं। उन में से मुख्य तीन हिंकार,

प्रस्तुत-प्रस्ताव तथा उद्गीथका यहां उल्लेख है। जिस भागको उद्गाता गाता है, उसे उद्गीथ कहते हैं। जिसे प्रस्तोता (उद्गाता का सहायक ऋत्विक्) गाता है, उसे प्रस्ताव। जिसे सब उद्गाता मिलकर गाते हैं, उस हिंकार कहते हैं। स्वर सात प्रकार का होता है—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिमन्द्र, अथवा षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद। मेदि— स्तोम विशेष को कहते हैं।

यह सारा-का-सारा परमात्मा में है। प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त भगवान् इसका उपदेश करते हैं। जीव प्रार्थना करता है यह सम्पूर्ण ज्ञान मुझे प्राप्त हो।

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् ।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥

अ. ११।७।६ ॥

(ऐन्द्राग्नं) ऐन्द्राग्न साम (पावमानम्) पावमान साम (महानाम्नीः) शाक्वर साम (महाव्रतं) राजन; गायत्र, बृहत्, रथन्तर; तथा अन्य सामों से भेद स्तोत्र यह सारे (यज्ञस्य अङ्गानि) यज्ञ के अंग (उच्छिष्टे) परमात्मा में रहते हैं, (इव) जैसे (मातरि अन्तः) माता में (गर्भः) गर्भ रहता है।

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥

अ. ११।७।७।

(राजसूयं) राजसूय याग (वाजपेयं) वाजपेय याग (अग्निष्टोमः) अग्निष्टोम यज्ञ, (अर्काश्वमेधौ) अर्क और अश्वमेध यज्ञ, यह सारे यज्ञ (उच्छिष्टे) परमात्मा में रहते हैं, तथा (तद्) यह और वक्ष्यमाण यज्ञ समुदाय (अध्वरः) हिंसा रहित, परमात्ममार्गप्रदर्शक (जीवबर्हिः) जीवों की-प्राणियों की वृद्धि करने वाला, तथा (मदिन्तमः) अतिशय आनन्द देने वाला है।

इस मन्त्र में 'अध्वर' जीवबर्हि, तथा मदिन्तम' पद विशेष विचारने योग्य हैं 'अध्वर' शब्द मन्त्र के बीच में पड़ा है; 'देहली दीपक न्याय' से मन्त्र वर्णित सब यज्ञों का विशेषण है, अतः सिद्ध हुआ कि यज्ञ में हिंसा करना वेद विरुद्ध है। 'जीवबर्हि' और 'मदिन्तम' उस के विवरण हैं। अर्थात् यज्ञों से प्राणियों की वृद्धि तथा सुख होना है।

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह ।

उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेधि समाहिताः ॥

अ. ११।७।८॥

(अग्न्याधेयं) अग्न्याधान (अथो) और (दीक्षा) दीक्षा (कामप्रश्छन्दसा सह) यज्ञ कर्त्ता की कामना के साथ (कामप्र) कामना पूर्त्ति भी (उत्सन्नाः यज्ञाः) अज्ञाननाशक, रोगादिनाशक यज्ञ तथा (सत्राणि) दीर्घ यज्ञ (उच्छिष्टे अधि समाहिता) परमात्मा में समाये हैं।

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।

दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेधि समाहिताः ॥ अ. ११।७।९॥

(अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र (च) और (श्रद्धा) वेदानुसार आचरण करने का निश्चयात्मक भाव, (च) और (वषट्कार) यज्ञ (व्रतं) नियम (तप) तप (दक्षिणा) दक्षिणा (इष्टं) इष्ट=दर्शादियाग (च) और (पूर्त्त) पूर्त्त (उच्छिष्ट अधि समाहित) उच्छिष्ट को लक्ष्य करके होते हैं।

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।

ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥

अ. ११।७।१० ॥

(एकरात्र) एकरात्र याग (द्विरात्र) द्विरात्र याग (सद्य-क्री) सद्यस्क्री नामक एकाह सोम याग (प्रक्री) प्रक्री नाम एकाह सोम याग तथा (उक्थ्य) उक्थ्य नामक सोमसंस्था यह सारे (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञ के सूक्ष्म उपकारक उनके (विद्यया) ज्ञान-सहित (उच्छिष्टे ओतं निहितम्) उच्छिष्ट में पिरोये रखे हैं।

इस मन्त्र में एक अत्यन्त आवश्यक संकेत है। वह यह कि यज्ञोद्देश के ज्ञान के विना यज्ञ विफल है, यज्ञ के साथ उस का तात्पर्य्य ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह। षोडशी

सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते

हिताः ॥ अ. ११।७।११॥

(चतूरात्रः) चतूरात्र नामक अहीन याग (पंचरात्रः) पंचरात्र नामक अहीन याग (षड्रात्रः) षड्रात्र नामक अहीन याग और (सह) साथ ही (उभयः) अहीन तथा सत्र दोनों प्रकार के यज्ञ (षोडशी) षोडशी नामक सोम

याग (च) और (सप्तरात्र) सप्तरात्र नामक अहीन याग और अन्य (ये यज्ञाः) जो यज्ञ (अमृते हिताः) मोक्ष के लिये हितकारी है, वे सारे (उच्छिष्टात् अधिरे) उच्छिष्ट भगवान् से उत्पन्न होते हैं।

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहो पि तन्मयि ॥

अ. ११ । ७ । १२ ॥

(प्रतीहार) प्रतीहार नामक साम-भक्ति (निधनं) निधन नामक साम-भक्ति (च) और (विश्वजित्) विश्वजित् नामक याग (च) तथा (यः) जो (अभिजित्) अभिजित् नामक याग है, और (साह्न) एक दिन में समाप्य तीन सवन युक्त सोमयाग (अतिरात्र) अतिरात्र नामक सोम संस्था और (द्वादशाह) द्वादशाह नामक सत्राहीनात्मक याग (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में रहते है (तत्मयि) वह सब मुझे प्राप्त हो।

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यंच. कामाः कामेन तातृपुः ॥

अ. ११ । ७ । १३ ॥

(सूनृता) मधुर वाणि (संनति) सुन्दरफलप्राप्ति, अथवा नमस्कार (क्षेमः) कल्याण, प्राप्तपरिपालन, (स्वधा) प्रकृति, धारण-शक्ति, (ऊर्जा अमृतं) कर्म के साथ मोक्ष, (सह) सहनशक्ति और (सर्वे) सब (प्रत्यंच कामा) प्रत्येक पदार्थ विषयक अभिलाष (कामेन) कमनीयता से (उच्छिष्टे तातृपु) परमात्मा ही में तृप्त-पूर्ण होते हैं।

परमात्मज्ञान होने पर सब अभिलाषायें शान्त होती हैं। उस के प्राप्त होने पर अन्य किसी भी विषय की अभिलाषा शेष नहीं रहती।

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥

अ. ११ । ७ । १४ ॥

(नवभूमी) पृथिवी के नौ प्रदेश अथवा नवग्रह (समुद्रा) समुद्र अथवा अन्तरिक्ष और (दिव) प्रकाशमय पदार्थ अथवा द्युलोक (उच्छिष्टे अधि) परमात्मा में (श्रिता) आश्रित हैं। (उच्छिष्टे) परमात्मा ही के आश्रय से (सूर्य्य) सूर्य्य (आ भाति) सब ओर भली प्रकार से प्रकाश करता है,

और उस की नियन्त्रणा से (अहोरात्रे) दिन रात बनते हैं। (तत्) वह प्रभु (मयि) मुझे सदा प्राप्त हो। अर्थात् उसकी इस अतुल महिमा का सदा साक्षात् करता रहूं।

उपहव्यं॑ विषूवन्तं॒ ये च॑ य॒ज्ञा गुहा॑ हि॒ताः।
बिभ॑र्ति भ॒र्ता विश्व॒स्योच्छि॑ष्टो जनि॒तुः पि॒ता॥
अ. ११। ७। १५॥

(उपहव्यं) उपहव्यनामक सोमयाग (विषूवन्तं) गवामयन के १८१ वें दिन मे अनुष्ठीयमान सोमयाग (च) और (ये यज्ञा) जो यज्ञ (गुहा हिता) बुद्धि में रहते हैं। अर्थात् जिनका सम्बन्ध साक्षात् अध्यात्म से है, उन को (विश्वस्य भर्ता) सब का पोषक धारक (जनितु पिता) पिता का भी पिता (उच्छिष्ट) उच्छिष्ट परमात्मा (बिभर्ति) रक्षण करता है।

परमात्मा ही हमारे यज्ञादि सत्कर्मों का रक्षक है। अत सतत उसकी संगति में रहना ही श्रेयस्कर है।

पि॒ता ज॑नि॒तुरुच्छि॑ष्टोऽसोः पौत्रः॑ पिताम॒हः।
स क्षि॑यति॒ विश्व॒स्येशा॑नो वृषा॒ भूम्या॑मति॒घ्न्यः॥
अ. ११। ७। १६॥

(उच्छिष्टः) सर्वशिक्षक प्रभु (जनितु पिता पितामह) पिता का भी पिता पितामह (असो पौत्र) प्राणों का पावक रक्षक हितकारी है। (सः विश्वस्य ईशान) संसार का स्वामी (वृषा) अनेक सुखो की वृष्टि करने वाला (भूम्याम्) संसार में (अतिघ्न्य) निर्बाध होकर (क्षियति) रहता है।

प्रभु देश काल के बन्धन से रहित है वह सबका पिता पितामह है। वही प्राणरक्षक है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, कि उसमें किसी का प्रतिघात नहीं होता।

ऋ॒तं स॒त्यं तपो॑ रा॒ष्ट्रं श्रमो॒ धर्म॑श्च॒ कर्म॑ च।
भू॒तं भ॑वि॒ष्यदुच्छि॑ष्टे वी॒र्यं॑ ल॒क्ष्मीर्बलं॒ बले॑॥
अ. ११। ७। १७॥

(ऋत) ऋत (सत्यं) सत्य (तप) तप (राष्ट्रं) राष्ट्र अथवा तप का फल, अथवा दीक्षा (श्रम) श्रम (च) और (धर्म) धर्म (च) और (कर्म) कर्म (भूतं) अतीत, कृत (भविष्यत्) अनागत, करिष्यमाण (वीर्यं) वीर्य सामर्थ्य परापसारण शक्ति (लक्ष्मी) शोभा कान्ति तथा (बलं) बल (बले उच्छिष्टे) सर्व बलनिधान उच्छिष्ट के आश्रय मे होते हैं।

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।
संवत्सरोध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः॥ अ. ११।७।१८॥

(समृद्धि) समृद्धि, (ओजः) शक्ति, (आकूति) संकल्प, (क्षत्रं) क्षात्रतेज, (राष्ट्रं) राष्ट्र, (उर्व्य षट्) बड़ी छः दिशायें, (संवत्सरः) वर्ष, (एषा इडा) यह भूमि, (ग्रहा) ग्रह, (हवि) हवि यह सब (उच्छिष्टे अधि) अवशिष्ट परमेश्वर में स्थित हैं।

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः॥
अ. ११।७।१९॥

(चतुर्होतार) चतुर्होता (आप्रियः) आप्रिय (चातुर्मास्यानि) वैश्वदेवादि चातुर्मास्य (नीविद्) स्तोतव्यगुणप्रकर्षज्ञापक मन्त्र (यज्ञा) संगतिकरण सम्बन्धी क्रियायें (होत्रा) त्याग (पशुबन्धा) पशुबन्ध अथवा इन्द्रियनिरोध, और (इष्टय.) इष्टियें (तद्) यह सब (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट परमात्मा के निमित्त से होता है।

चतुर्होता=चतुर्होतृसंज्ञक मन्त्रों से अनुष्ठीयमान कर्मों का नाम है।

आप्रिय=यह भी मन्त्र विशेषों और उनके द्वारा किये जाने वाले कर्मों का उपलक्षण है।

चतुर्मास्य चार होते हैं, यह ऋतुसन्धियों में किये जाते हैं, इन के अनुष्ठान से संक्रामक रोगों का नाश होता है, इस वास्ते इस का नाम भैषज्य याग भी है। चारों का नाम और समय इस प्रकार है—

१. वैश्वदेव फाल्गुण पौर्णमासी को किया जाता है।
२. वरुणप्रघास आषाढ ,, ,, ,,
३. साकमेध कार्तिक ,, ,, ,,
४. शुनासीरीय अंहस्पतिमास को ,, ,, ,,

अंहस्पति (अंहसस्पति) मलमास का नाम है।

पशुबन्ध शब्द विशेष विचारने योग्य है। कई पण्डित जन इस से पशुओं का मारना समझते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि यह अभिप्राय होता, तब 'पशुवध' शब्द होता। 'बन्ध' का अर्थ मारना कहीं भी नहीं। अपितु बांधना रोकना होता है. अत पशुबन्ध का तात्पर्य पशु बांधना=पालना या प्रदर्शनी अथवा पशु=इन्द्रिय बन्ध=रोकना, अर्थात् इन्द्रिय निग्रह है।

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥

अ. ११।७।२०॥

(अर्धमासाः च मासाः च आर्तवः ऋतुभि सह) अर्धमास, मास ऋतुओं के साथ ऋतु सम्बन्धी पदार्थ, (घोषणी- आप-) शब्द करने वाला जल, (स्तनयित्नुः) मेघ गर्जना, (श्रुति) सुनाई देने वाली वाणी, (मही) पृथ्वी अथवा (मही श्रुतिः) पूज्य वेद वाणी यह सब (उच्छिष्टे) परमात्मा के अन्दर हैं।

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥

अ. ११।७।२१॥

(शर्करा सिकता) रेत और बालू (अश्मान) पत्थर, (ओषधय-) औषधियां, (वीरुध) वनस्पतियां, (तृणा) घास, (अभ्राणि) अभ्र, (विद्युतः) बिजुलियां, (वर्ष) वर्षा यह सब (उच्छिष्टे) ऊपर अवशिष्ट परमात्मा में (संश्रिता श्रिता) आश्रय लेकर रहते हैं।

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्महः एधतुः।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥

अ. ११।७।२२॥

(राद्धि) सिद्धि (प्राप्तिः) प्राप्ति = अप्राप्त का मिलना (समाप्तिः) समाप्ति, समान रूप से प्राप्ति, (व्याप्तिः) व्याप्ति, विविध पदार्थों में व्यापकता (महः) महत्ता (एधतुः) वृद्धि (अत्याप्तिः) अतिशय प्राप्ति, अथवा सब को उल्लङ्घन करना (च) और (भूति-) ऐश्वर्य (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट भगवान् में (हिता) रहते हैं, (निहिता) नितरां रहते हैं (आहिता) सर्वथा रहते है।

राद्धिः आदि क्रम से अष्ट सिद्धियों का भी नाम है। अर्थात् अष्ट-सिद्धियां मुख्यतया परमात्मा में रहती है।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ अ.११।७।२३॥

(यत् च प्राणेन प्राणति) जो भी प्राण धारण कर रहा है, (यत् च चक्षुषा पश्यति) और जो भी आंख से देखता है। और (ये दिवि देवाः दिविश्रितः) द्युलोक में रहने वाले जो प्रकाशाश्रित दिव्य पदार्थ हैं (सर्वे) वे सब (उच्छिष्टाज्जज्ञिरे) उच्छिष्ट से बनते हैं।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ अ.११।७।२४॥

(पुराणं) पुराण स्वरूप (यजुषा सह) यजुर्वेद के साथ (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (छन्दांसि) अथर्व वेद यह (सर्वे) सारे (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। (दिविश्रितः) ज्ञान के आश्रय वाले (देवा) दिव्य गुण युक्त वेद अथवा इन्द्रियें (दिवि) दिव्यगुण युक्त जीव अथवा मन को प्राप्त होती हैं।

कई लोग कहते हैं, यहां 'पुराणं' पद से ब्रह्मवैवर्त्तादि अष्टादश पुराण अभिप्रेत हैं, किन्तु यह उनका भ्रम है। यदि यहां अष्टादश पुराण अभिप्रेत होते, तो या तो मन्त्र के आदि में आता, अथवा 'यजुषा सह' के पश्चात् आता, और 'ऋच.' आदि की भांति बहुवचन 'पुराणानि' पद का प्रयोग होता। वेदों के नामों के मध्य में रखने से यह 'देहली दीप न्याय' से सब का विशेषण हो जाता है। यह रहस्यपूर्ण विशेषण है। पुराण का अर्थ है— पुराना होता हुआ भी नया रहे। वेद सदा से है। अत पुराना है। प्रत्येक सृष्ट्यारम्भ में इस का ज्ञान दिया जाता है, इस वास्ते नया है। पुराण का दूसरा अर्थ है, जो सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व की दशा का वर्णन करे। यह अर्थ भी पूर्णतया वेद में ही घटता है। नासदीयसूक्त आदि मन्त्र इस में प्रमाण है। इसी प्रकार के अन्य भी प्रमाण हैं। जिनसे पुराण शब्द का मुख्यवृत्ति से वेद अर्थ सिद्ध होता है।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ अ ११।७।२५॥

(प्राणापानौ) प्राण, अपान (चक्षुः) आंख (श्रोत्रं) कान और (अक्षिति) अक्षय=अविनाश अथवा प्रकृति (च) तथा (क्षितिः) क्षय=नाश अथवा विकृति तथा (दिवि) दिव्यगुण युक्त जीव के लिये लाभकारी (दिविश्रित) अपनी सत्ता के लिए जीवात्मा का आश्रय लेने (देवाः) इन्द्रियें, यह (सर्वे) सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उच्छिष्ट भगवान् से प्रादुर्भूत=प्रकट होती हैं।

प्राणापान—दसों प्राणों का उपलक्षण है। श्रोत्र और चक्षु सब इन्द्रियों का उपलक्षण है।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ अ. ११।७।२६॥

(आनन्दा) मोक्ष सुख अथवा विषयों के उपभोग से उत्पन्न होने वाले सुख (प्रमुदः) उत्तम विषयों की प्राप्ति से होने वाले हर्ष (अभिमोदमुदः) मोद के हेतुभूत पदार्थ अथवा आनन्दों के आनन्द और जो (दिविश्रित) ज्ञानाश्रित (दिवि) जीवात्मा में (देवा) आनन्द हैं, वे (सर्वे) सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) परमात्मा से प्रकट होते हैं। अर्थात् संसार में जितने भी सुख हैं, वह सब परमात्मा से मिलते हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ अ. ११।७।२७॥

(देवा) देव (पितर) पितर (मनुष्या) मनुष्य (च) और (ये) जो (गन्धर्वाप्सरस) गन्धर्व और अप्सरा तथा जो (दिविश्रित) आत्मस्थ (देवा) दिव्यगुण संपन्न (दिवि) परमात्मनिष्ठ हो जाते हैं। वे (सर्वे) सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उच्छिष्ट से प्रकट होते हैं=प्रसिद्ध होते हैं।

देव उन महापुरुषों की संज्ञा है, जो अपने लिए कुछ भी न करते हुए सर्वदा परहित साधन में तत्पर रहते हैं।

पितृ संज्ञा उनकी है, जो अपना और पराया दोनों का हित साधते हैं।

मनुष्य मननशील को कहते हैं, ज्ञान प्राप्त कर उस के अनुभव के लिए यत्न शील की मनुष्य संज्ञा है।

गन्धर्व वेदवाणी के धारक पण्डितों को कहते हैं।

अप्सरा कर्मठ मनुष्यों का नाम है।

वेद में कई प्रकार से श्रेष्ठ मनुष्यों के उनके गुणों के अनुसार विभाग वर्णित हैं। उनमें से एक वर्ग यह भी है।

विचार—अथर्ववेद के इस सूक्त का नाम उच्छिष्ट सूक्त है। इस नामकरण का कारण इस सूक्त का देवता है।

लोकमें=साधारण संस्कृत भाषामें उच्छिष्ट शब्द का अर्थ झूठा=भुक्तशिष्ट होता है। किन्तु वैदिक भाषा में यौगिक अर्थों के कारण यह शब्द परमात्मपरक हो जाता है। जिज्ञासु तत्त्वज्ञानी गुरु से परमात्मा के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। गुरु एक एक पदार्थ को लेकर बताते हैं, 'यह ब्रह्म नहीं', 'यह ब्रह्म नहीं' इसप्रकार सारे दृश्यादृश्य पदार्थों को ब्रह्म भिन्न बतलाते हैं। शिष्य फिर पूछता है, महाराज! सूर्य्यचन्द्रादि को गति कौन देता है, इनकी स्थिति किस के

आधार से है। गुरु बतलाते हैं, यही तो सबके बाद बच रहा है, यही उच्छिष्ट ब्रह्म है। उस ब्रह्म की महत्ता वर्णन करने के लिए यह सारा सूक्त है। वेदान्त की परिभाषा में जिस का उपदेश 'नेति नेति' कह कर दिया जाता है। वेद में उसे 'उच्छिष्ट' पद से कहा गया है। 'नेति नेति' पदकी अपेक्षा इस वैदिक शब्द में विशेषता है। 'नेति नेति' से केवल निषेधात्मक बोध होता है, किन्तु उच्छिष्ट से तो विध्यात्मक ज्ञान मिलता है। सब में समाकर, सब से जो बचा हुआ है, उसे उच्छिष्ट कहा है। उच्छिष्ट पद का एक और अर्थ भी है—सब से अच्छा उपदेष्टा, अर्थात् परमाप्त। इस से परमात्मा को ज्ञान दाता भी वेद ने बतला दिया। उच्छिष्ट का एक अर्थ है, उत्तम शासक अर्थात् उन्नति के लिए शासन करने वाला। अर्थात् परमात्मा शासन तो करता है, किन्तु उस में उद्देश्य जीवों की उन्नति है। इस प्रकार इस शब्द पर जितना विचारें, उतना गम्भीर अर्थों वाला प्रतीत होता है।

इस सूक्त में प्राय सब मुख्य यज्ञों के नाम, साम भक्तियों के नाम, यज्ञाङ्गों के नाम आ गए हैं। सारी सृष्टि और सम्पूर्ण ज्ञान का उत्पादक तथा धारक परमात्मा है, यह बात भी बड़ी सुन्दरता से बतलाई है।

सब यज्ञ यागादि का उद्देश्य परमात्मा होना चाहिए, यह इस सूक्त में विशेषतया उपदिष्ट है।

पाठक इसका विशेष मनन करें।

जीवात्मा

आत्मस्वरूप।

पतंगमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा
विपश्चितः। समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरी-
चीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥ ऋ. १०।१७७।१॥

(असु-रस्य) प्राणदाता ईश्वर की (मायया) कुशलता से (अक्तं) शरीरसम्बन्ध से व्यक्त हुए अथवा गतिशील (पतंगं) जीवात्मा को (विपश्चित) ज्ञानी (हृदा मनसा) हृदय की भक्ति और मनन शक्ति द्वारा (पश्यन्ति) देखते हैं (कवय) कवि जन (समुद्रे अन्तः) इस संसारसमुद्र के बीच में (वि-चक्षते) विशेष रीति से देखते हैं। और (वेधसः) विशेष धारणा करने वाले ध्यानी जन (मरीचीनां पदं) तेजों के=ज्ञानों के मूल स्थान को प्राप्त करना (इच्छन्ति) चाहते हैं।

ईश्वर की अद्भुत योजना द्वारा शरीर धारण करके प्रकट हुए जीवात्मा को ज्ञानी जन भक्ति और मनन द्वारा निरीक्षण करते हैं। संसार समुद्र के बीच में प्रत्येक पदार्थ के अन्दर कवि की दिव्य दृष्टि से वे देखते और ढूंढते हैं। और वे ध्यान धारणा करके तेज के मूल स्थान=को प्राप्त करना चाहते हैं।

पतंगो वाचं मनसा बिभर्ति तां गंधर्वोऽवदद्गर्भे
अन्तः। तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे
कवयो नि पान्ति॥ ऋ. १०।१७७।२॥

(पतगः) जीवात्मा (मनसा) मन के साथ (वाचं) वाचा शक्ति को (बिभर्ति) धारण करता है। (तां) उसी वाणी को (गं-धर्वः) शब्द का धारक प्राण (गर्भे अन्त) अन्दर अन्दर ही (अवदत्) बोलता है (तां) उस (द्योतमानां) तेजस्वी (स्वर्य) आत्मप्रकाशरूप (मनीषां) मनोगत प्रकट करने वाली वाणी को (ऋतस्य पदे) सत्य के स्थान पर अथवा सत्य के ज्ञापक=वेद के निमित्त (कवय) ज्ञानी (निपान्ति) सुरक्षित करते हैं।

जो वक्तव्य होता है, उस को सब से पहिले जीवात्मा मन के अन्दर प्रेरित करता है। पश्चात् प्राण शक्ति के अन्दर प्रेरणा होती है। यह वाचा शक्ति एक प्रकार का तेज और प्रकाश ही है। ज्ञानी लोग सत्य के द्वारा उस वाणी का संरक्षण करते हैं।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभि-
श्चरन्तम्। स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरी-
वर्ति भुवनेष्वन्तः॥ ऋ. १।१७७।३॥

(आ च परा च) आने और जाने के (पथिभि चरन्तं) मार्गों के द्वारा भ्रमण करने वाले (अ-नि-पद्यमानं) अविनाशी (गो-पां) रक्षक को, इन्द्रिय स्वामी को (अपश्यं) मैंने देखा है। (सः) वह (सध्रीचीः) शरीर के साथ भी चलने वाला है, और (वि-सू-ची) अलग होकर भी चलने वाला है (वसान) वह प्रेम का निवासक (भुवनेषु अन्तः) भुवनों के अन्दर (आ वरीवर्ति) वारम्वार आता है। अथवा (स सध्रीची विषूची वसान) वह सीधी और टेढ़ी चालें चलता अर्थात् पुण्य पाप करता हुआ (भुवनेषु अन्तः आ-वरीवर्ति) संसार में पुन पुन लौटता है, जन्म मरण के वश में होता है।

जीवात्मा अनेक मार्गों द्वारा शरीर में आता है और शरीर से पृथक् होता है। वह अविनाशी और इन्द्रियों का रक्षक है। ऐसा उस को जानना चाहिये। वह शरीर के साथ भी रहता है और शरीर को छोड़कर भी रहता है। वह इन भुवनों के अन्दर वारम्वार आता है।

विचार—इस सूक्त में जीवात्मा का नाम 'पतंग' आया है। पतंग शब्द का अर्थ है जो गति द्वारा ही स्थानान्तर में आ जा सके। इस नामकरण से ही जीव के विभुत्व=सर्व व्यापक होने का निषेध कर दिया। प्रथम मन्त्र में इसका विशेषण 'अर्क' कहा है। अर्थात् जो शरीर सम्बन्ध से प्रकाशित हो, अन्यथा जीव की प्रतीति साधारण जनों को हो नहीं सकती। वहीं जीव को 'मरीचीनां पदम्' कहा है। जिस प्रकार सूर्य एक स्थान पर रहता हुआ ब्रह्माण्ड में प्रकाश करता है तद्वत् जीवात्मा शरीर में स्थान विशेष में रहता हुआ समस्त शरीर में चेतना देता रहता है। इसी समता के कारण वेद में जीवात्मा और सूर्य के बहुत से नामों में समानता है।

दूसरे मन्त्र में जीव को मन का, तथा वाणी का धारक बतलाया है। यहां 'वाचं' सब कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है। वेद मन्त्रार्थ पर किञ्चित् भी ध्यान दें, तो पता चलेगा कि यहां वेद प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त 'आत्मा

मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण" [जब जीवात्मा कुछ जानना चाहता है, तो मन से संयुक्त होता है, तदुत्तर मन का इन्द्रिय से संयोग होता है, पश्चात् इन्द्रिय और अर्थ का, फिर पदार्थ बोध होना है] का अपनी सरल सुबोध रीति से प्रतिपादन कर रहा है। तीसरे मन्त्र में 'अनिपद्यमानम्' कह कर जीव को अविनाशी=नित्य बतलाया है 'पथिभि आ च परा च चरन्तम्' से जीव में प्रयत्न का होना बतलाया है। उत्तरार्द्ध में पुण्यपाप के कारण संसार में बारबार आना विधान किया है।

इस प्रकार इस सूक्त पर विचार करें। तो आप को जीव के दो मुख्य लिङ्ग-ज्ञान और प्रयत्न का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उलटी सीधी चाल चलने वाला बतला कर "इच्छा और द्वेष" का होना भी बतला दिया है, संसार में बार बार आना कह कर जीव का सुख-दुःख युक्त होना भी कह दिया है। इस लिये यह सूक्त इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" (न्यायद० १.१.१०) गौतमकृत लक्षण का मूल है। वेद ने युक्ति से इन लक्षणों की सिद्धि भी कर दी है।

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्। शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभि-र्जेहमानं पतत्रि ॥ ऋ. १।१६३।६॥

हे विद्वन्! (ते) तेरे (आत्मानं) आत्मा को (मनसा) विज्ञानद्वारा (आरात्) दूर या समीप से (अजानाम्) जान गया हूं, वैसे ही तू भी मेरे आत्मा को जान। तेरे (अवः) प्रीतियुक्त स्वभाव (पतत्रि) उत्थान और पतन=उन्नति और अवनति के स्वभाव तथा (शिर) आश्रय को मैं जानता हू, तू मेरे इन सब को जान। (सुगेभि) सरल सीधे (अरेणुभिः) धूलिरहित, सुथरे (पथिभिः) मार्गों से (पतयन्तम्) जान वाले (दिवा) अन्तरिक्ष द्युलोक में (जेहमानम्) यत्न करने वाले (पतङ्गम्) सूर्य्यतुल्य जीवात्मा को (अपश्यम्) मैं देखूं॥

सतत मनन से आत्मज्ञान होता है।

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्। तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ॥ ऋ.१।१६३।११॥

हे (अर्वन्) आत्मन्। (तव शरीरं) तेरा शरीर (पतयिष्णु) पतन शील, विनाशवान् है (तव चित्तं) तेरा चित्त (ध्रजीमान् वातः इव) वेगवान् वायु के

तुल्य अति चंचल है। (तव) तेरे (जर्भुराणा) पुष्ट (शृङ्गाणि) इन्द्रियरूपी सींग (पुरुत्रा) वहुत बड़े बड़े (अरण्येषु) विषयवासनारूपी जङ्गलों में (विष्ठिता) विशेष स्थिरता से (चरन्ति) विचरण करते हैं। अर्थात् इन्द्रियें विषय वासनाओं में फंसकर आत्मा की हानि कर डालती हैं।

मन की चंचलता तथा इन्द्रियों की विषयलोलुपता का कितना सुन्दर वर्णन है। अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध कर दिया, कि जीवात्मा शरीरादि से पृथक् नित्य है।

जड़का धारक चेतन

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था
बिभर्ति। भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वां-
समुप गात्प्रष्टुमेतत्। ऋ. १।१६४।४॥

इस प्रपंचके कारणभूत परमेश्वरको तथा प्रकृत्यादिको इस मन्त्र से दिखलाते है। इस (प्रथमम्) विस्तृत (जायमानम्) उत्पद्यमान विश्वको (क ददर्श) किसने देखा, कौन जानता है अर्थात् यह उत्पद्यमान जगत् दुर्विज्ञेय है। (यत्) क्योंकि (अस्थन्वन्तं) अस्थिवाले इस संसारको (अनस्था) अस्थिरहिता =शरीर रहिता प्रकृती देवी (बिभर्ति) धारण करती है (भूम्याः) पृथ्वी से यह (असुः) प्राण और तदुपलक्षित सूक्ष्मशरीर (असृग) शोणित [यह शब्द सप्तधातूपलक्षक है] आदि होते हैं। किन्तु (आत्मा) यह शरीर से संबद्ध चेतन जीव (क्व स्वित्) कहां से होता है (क) कौन मनुष्य (विद्वांसं) ईश्वर, प्रकृति और जीव इन तीनोंके तत्व जाननेवाले विद्वान्से (एतत् प्रष्टुम्) इस विषयको पूछने के लिये (उपगात्) समीप जाता है।

इसका अक्षरानुवाद इस प्रकार है-प्रथम जायमानको किसने देखा? क्योंकि अस्थिरहिता अस्थियुक्तको धारण करती है। भूमिसे प्राण और शोणित होते हैं किन्तु आत्मा कहांसे होता है? कौन विद्वान्के निकट इस विषयकी जिज्ञासा से जाता है।

अथवा (यत्) जिस (प्रथमं) प्रसिद्ध (जायमानं) पैदा होने वाले (अस्थन्वन्तम्) हड्डियों से युक्त देहको (भूम्या) इस संसार में (अनस्था

आत्मा) हड्डियों से रहित आत्मा (असुः) प्राण और (असृक्) रुधिर (बिभर्ति) धारण करता है । उसको (क-स्वित्) कहीं (क) कौन (ददर्श) देखता है । और (कः) कौन (एतत्) इसको (प्रष्टुं) पूछने के लिए (विद्वांसम् उप गात्) विद्वान्के पास जाता है ॥

आशय—यह जगत् प्रथम कैसे बना, इस दृश्यरूपमें कैसे आया इत्यादि विषय अत्यन्त गम्भीर है तथापि अन्वेषणीय है । अस्थिरहिता पदसे अदृश्य जगत्कारण प्रकृतिका ग्रहण है यद्यपि यह शरीर पृथ्वीजन्य अन्नादिकसे पुष्ट होता है और इसमें शोणित, मांस, मज्जा आदि होते हैं किन्तु यह जीवात्मा इस पार्थिव अंशसे नहीं होता । अतएव यह प्रश्न है कि "यह जीवात्मा कहांसे होता है" यह नित्य है । इस विषयको अच्छे विद्वान्के निकट जाकर पूछ सकते हैं और आत्माके अमरत्व और नित्यत्व जानकर उसके उद्धारके लिये हम तत्पर हों ।

शरीरधारण करनेवाले आत्मा का स्वरूप क्या है, शरीरमें इसका प्रवेश कैसे होता है, कैसे रहता है । इसको विरले मनुष्य ही जानने का यत्न करते हैं । इसी तत्त्वको सामने रखते हुए भगवती उपनिषत्का उपदेश है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तो पि
बहवो यन्न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य
ज्ञाता लब्धाश्चर्यो कुशलानुशिष्टः ॥   कठ. १।२।७॥

बहुतों को आत्मा सुनने को भी नहीं मिलता । कई सुनते हुए भी नहीं जान पाते हैं । इसका उपदेश देनेवाला बड़ा कुशल होता है, जानने वाला भी महाज्ञानी होता है । ज्ञानी से शिक्षा पाकर इसको प्राप्त करने वाला तो आश्चर्य=दुर्लभ है ।

सूक्ष्म

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता
पदानि । वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे
कवय ओतवा उ ॥   ऋ. १।१६४।५॥

(पाकः) मैं पकानेयोग्य=अपक्वमति अर्थात् हमारी बुद्धि परिपक्व नहीं इसलिये, (पृच्छामि) पूछता हूं (मनसा) मनसे वारंवार विचार करने पर भी

(अविजानन्) न जानता हुआ मूढ़सा हो रहा हूं क्योंकि (एना पदानि) ये जिज्ञासाके विषयभूत पद (देवानां) केवल विद्वानोंके निकट में ही (निहिता) स्थापित हैं। इसलिये मैं विद्वानों से जिज्ञासा करता हूं। कौन विषय जिज्ञास्य है। सो आगे कहते हैं (कवय) कविगण (ओतवै उ) तिर्यक् तन्तुओंको बुनने के लिये (बष्कये) सत्यस्वरूप (वत्से अधि) वत्सके ऊपर (सप्त तन्तून्) सात तंतुओंको (वितत्निरे) विस्तीर्ण करते हैं।

आशय—यहां कविपदसे निज कृतकर्म का ग्रहण है अथवा ईश्वरीय नियम का ग्रहण है। "बष्कये वत्से" बष् नाम सत्य का है, उस सत्यसे जो युक्त हो उसको बष्कय कहते है। "वत्स"=यहां जीवात्मा को कहा है। "सप्ततन्तु"=दो चक्षु, दो कर्ण, दो नासिकाएं और एकमुख ये सप्त तन्तु कहलाते हैं। भाव यह है, कि इस सत्यस्वरूप जीवात्मा के वेष्टन के लिये अर्थात् बन्धन के लिये ये नयनादिक सात तन्तु ईश्वरीय नियम बनाते हैं, ऐसा क्यों करते हैं? इस जीवात्माको बन्धन में क्यों डालते हैं? और यह जीवात्मा किस अपूर्व कर्मके अनुसार बद्ध होता है? इत्यादि विषय परम निगूढ और जिज्ञास्य हैं।

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने
न विद्वान्। वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य
रूपे किमपि स्विदेकम् ॥　　ऋ.१।१६४।६॥

(अचिकित्वान्) पृथिव्यादि तत्त्वों को न जानता हुआ मैं (चिकितुषः) विशेष रूपसे तत्त्व जानने वाले (कवीन्) परमार्थदर्शी विद्वानोंसे (अत्र) इस तत्त्व विषय में (पृच्छामि) पूछता हूं। क्यों? (विद्मने) परमार्थ ज्ञानके लिए। क्या मैं जानता हुआ ही पराभवाद्यर्थ पूछता हूं? नहीं किन्तु (विद्वान् न) न जानता हुआ ही पूछता हूं। (य) जिस अजन्मा ने (इमाः) इन (षट्) छः (रजांसि) लोकोंको (वि तस्तम्भ) विशेष रूपसे धारण किया है (अजस्य) उस जननादिरहित अजन्मा जीवात्मा के (रूपे) स्वरूपमें (किमपि एकम्) कुछ अचिंत्य एक सामर्थ्य (स्वित्) क्या विद्यमान है, जिससे यह सकल भुवन यथास्थानमें स्थित हैं।

आशय—परमार्थ ज्ञानके लिए जिज्ञासा आवश्यक है सब कोई तत्त्ववित् नहीं होते, अत तत्त्ववित् पुरुष के निकट जाकर निज सन्देह मिटाना उचित है, किस प्रकार का प्रश्न प्रष्टव्य है, इसका एक उदाहरण दिखलाते हैं। प्रथम छः लोक कौन हैं? इसको किसने स्तम्भन कर रक्खा है? छः लोक तो प्रत्यक्ष दीखते हैं। किन्तु लोक सात कहे जाते हैं। तब वह सप्तम लोक कहां है? क्या इस अजके स्वरूप में वह स्थित है। छः लोक हैं—दो नयन,

दो कर्ण और दो नासिकाएं, ये छः प्रत्यक्ष हैं, किन्तु सप्तम लोक कौन है ? नि सन्देह सप्तम लोक मुख है, जिसमें दन्त और जिह्वा स्थित हैं, जिस मुख से वेद का उच्चारण, भगवान् का भजन करते, और जिससे नाना वस्तुओं को चबा कर उदर में रखते, जिससे शोणित आदि अनेक पदार्थ बन कर यह एक शरीर सुपुष्ट होता है । अज नाम यहां जन्मरहित जीवात्मा का है । इसी जीवात्माके स्वरूपमें यह अचिंत्य शक्ति स्थित है, क्योंकि यह शरीर अचेतन जड़ है, इसमें चेतन आत्मा आकर इस अचेतन को भी चेतन बनाता है, इस हेतु अजके स्वरूप में एक लोक स्थित है, ऐसा कहा है ।

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि । यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ ऋ. १।१६४।३७॥

(यदिव) जो (इदम्) यह वस्तु (अस्मि) मैं हूं (न वि जानामि) इसको मैं नहीं जानता हूं । क्योंकि मैं (निण्यः) मूढ़चित्त हूं । (सन्नद्धः) अविद्या से सम्यक् बद्ध हो कर (मनसा चरामि) विक्षिप्त मनसे विचरण करता हूं । (यदा) जब (ऋतस्य) सत्य ज्ञानका (प्रथमजाः) प्रथम उन्मेष (मा आगन्) मुझको प्राप्त होता है (आत् इत्) तदनन्तर (अस्या वाचः) इस वचनका (भागं) प्राप्य अर्थ (अश्नुवे) समझता हूं । अथवा (ऋतस्य प्रथमजाः) ऋतका प्रसिद्ध उत्पादक परमेश्वर (मा आगन्) प्राप्त होता है (आत् इत्) तत्पश्चात् (अस्याः वाचः भागं) इस वाणी के बोध्यार्थ अहंपदका का अर्थ (अश्नुवे) समझता हूं ।

अनुवाद—निश्चय मैं कौनसी वस्तु हूं, यह विस्पष्ट रूपसे मैं नहीं जानता; क्यों कि मैं मूढ़चित्त हूं । सम्यग् बद्ध होकर विक्षिप्त मनसे विचरण करता हू । जब ज्ञानका प्रथम उन्मेष होता है, तब ही मैं वाक्यका अर्थ समझता हूं ।

आशय—प्रत्येक मनुष्यका यह निज अनुभव है कि वह अपनेको नहीं जानता, जबसे मानव भाषाका साहित्य पाया जाता है, तबसे यह एक विवाद चला आता है, कि इस शरीरसे पृथक् कोई जीवात्मा है या नहीं । जीवात्मा के पृथक् अस्तित्व मानने वाले आस्तिकोंमें अनेक मतभेद हैं, कोई इस जीवात्माको अणु तो कोई विभु मानते हैं, और वेदान्ती जीव और ईश्वर में किञ्चित् भेद नहीं मानते । इस प्रकार देखनेसे विदित होता है, कि जीवात्मा के सम्बंध में वास्तव ज्ञान क्या है, हम लोग नहीं जान सकते, क्योंकि मनुष्य अत्यन्त अल्पज्ञ है । हां, यदि ईश्वरकी कृपा हो, तो यत् किंचित् इसका ज्ञान हो सकता है ।

आत्मा और शरीर

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना
सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यऽन्यं
चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥ ऋ. १।१६४।३८॥

(अमर्त्य) अमरणधर्मा यह नित्य आत्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा भौतिक देहके साथ (सयोनिः) एक स्थानमें रहने वाला होता है, एवं भूतात्मा (स्वधया) अन्नसे अर्थात् अन्नोपलक्षित भोगसे (गृभीत) गृहीत है। यद्वा-स्वधा शब्दसे अन्नमय शरीर लक्षित होता है, इससे गृहीत होकर (अपाङ् एति) अशुभ कर्म करके नीचे जाता है (प्राङ् एति) शुभ कर्म करके ऊपर आता है, (ता) वे शरीर और आत्मा दोनों (शश्वन्ता) सर्वदा विभाग-पूर्वक वर्तमान रहते हैं। यद्वा—सूक्ष्म शरीर पक्षमें सर्वदा सहवास उपपन्न है। स्थूल शरीर पक्षमें भी सात्विक ज्ञानिका सहवास उपपन्न है, क्योंकि तत्-कारण भूत सूक्ष्म होनेसे वहां शरीर सम्बद्ध होता है (विषूचीना) लोकमें सर्वत्र गमन करनेवाले (वियन्ता) तत् कर्म फल भोगके लिए लोकान्तरोंमें गमन करते रहते हैं, मननशील मनुष्य भूतात्माको शरीरादि से (अन्यम्) भिन्न (नि चिक्युः) जानते हैं। कई लोग जीवात्मा को शरीरादि से (अन्यम्) व्यतिरिक्त (न नि चिक्युः) नहीं मानते हैं कोई पामर देहव्यतिरिक्त आत्मा को नहीं जानते, कोई विवेकी पुरुष कर्तृत्व, भोक्तृत्वयुक्त, देहातिरिक्त आत्मा है वैसा अनुमान करते हैं। विरले ही देहत्रयव्यतिरिक्त आत्मा को जानते हैं अतः आत्मज्ञान दुर्लभ है।

अनुवाद—नित्य अनित्यके साथ एक स्थानमें अवस्थान करता है। अन्न-मय शरीर प्राप्त कर वह कभी अधोदेशमें जाता और कभी उर्ध्वदेशमें गमन करता है। वे दोनों सर्वदा एकत्र अवस्थिति करते हैं इस लोकमें सर्वत्र एकत्र गमन करते हैं, परलोकमें भी सर्वत्र एकत्र गमन करते हैं। लोकमें उनमें से एक को जानते, दूसरे को नहीं जानते।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्या-

नाम् । जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ऋ. १।१६४।३०॥

परमेश्वर (पस्त्यानाम्) घरों=शरीरों के (मध्ये)=बीच में रहने वाले (ध्रुवम्) अविनाशी (तुरगातु) शीघ्र गति वाले (जीवम्) जीवगति को देता हुआ तथा (अनत्) प्राणशक्ति संपन्न करता हुआ (शये) रहता है। (अमर्त्यः) मरण=विनाश रहित (जीव) जीवात्मा (स्वधाभि) अपने कर्मों के कारण, अथवा अपनी शक्तिके कारण (मर्त्येन) मरणधर्मा शरीरके साथ (सयोनि.) समानस्थान वाला होकर (मृतस्य) विनश्वर जगत् के बीच (आचरति) विचरता है। अथवा (मृतस्य अमर्त्य जीवः) मृतका अमर्त्य=न मरने वाला जीवात्मा (स्वधाभि) अपने पुण्य पाप कर्मों के कारण (मर्त्येन सयोनिः) मरणधर्मा शरीर के साथ समानस्थान वाला होकर, जगत् में (आ चरति) बार बार आता है। अर्थात् जीवात्मा नित्य है, किन्तु देह अनित्य है। भले बुरे कर्मों के हेतु इसे बार बार इस संसार में आना पड़ता है। शरीर मरता है, किन्तु आत्मा नहीं मरता है। शरीर में रहने वाले इस आत्माके अन्दर इसका जीवनाधार परम आत्मा प्रभु निवास करता हैं।

अणु

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥ अथर्व. १९।६८।१॥

(अव्यस = अव्यचसः) अव्यापक (च) और (व्यचसः) व्यापकके (बिलम्) भेदको (मायया) बुद्धिद्वारा (विष्यामि) मैं खोलता हूं। (ताभ्याम्) उन दोनोंसे (वेदम्) वेदको (उद्धृत्य) ग्रहण कर (अथ) अनन्तर (कर्माणि) कर्मों को (कृण्महे) हम करते हैं।

सर्व व्यापक परमात्मा और अव्यापक जीवात्मा इन दोनों के भेद को तथा समष्टि और व्यष्टिके भेदको बुद्धि द्वारा खोल कर, अर्थात् इस भेदका अनुभव ज्ञानद्वारा करके, इस भेदकी प्रत्यक्षता करके, वेदका ज्ञान प्राप्त करके उत्तम कर्म करने चाहिये। प्रकृति पुरुष, स्थूल सूक्ष्म आत्मा अनात्मा, व्यापक अव्यापक, जड चेतन, समष्टि व्यष्टि, आदि भेद इस जगतमें हैं। भेदरूप ही यह जगत् हैं। इस भेदपूर्ण जगत्को जाननेके साथ वेदका श्रेष्ठज्ञान प्राप्तकरके वेदके अनुकूल कर्म करने चाहियें।

सायणाचार्यजी ने इस मन्त्र के "अरण्यसः" पदका "अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मन" अर्थ लिखकर जीवात्माके अणुस्वरूप वैदिक सिद्धान्तका मण्डन किया है ।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते । ततः परि-
ष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ अ. १०।८।२५॥

(एकं) एक जीवात्मा (बालात् अणीयस्कं) बालसे भी अतिसूक्ष्म है (उत) और (एकं) एक प्रकृति मानो (न एव दृश्यते) दीखता ही नहीं। (ततः उनसे भी (परिष्वजीयसी देवता) सूक्ष्म और व्यापक जो देवता है (सा) वह (मम प्रिया) मुझे प्रिय है ।

प्रकृतिपरमाणु अतिसूक्ष्म हैं, जीवात्मा भी सूक्ष्म है। वे दोनों दिखाई नहीं देते। उनसे भी सूक्ष्म और व्यापक परमात्मा है, वही अत्यन्त मंगलमय होनेके कारण प्रिय है ।

इस मन्त्रको मिलाइए श्वेताश्वतरोपनिषत् ५। ६ के साथ—"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः विज्ञेयः" मानो यह उपनिषद्वाक्य मन्त्र के 'बालादेकमणीयस्कं' की व्याख्या है ।

अजर-अमर

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे । यस्मै कृता ।
शये स यश्चकार जजार सः ॥ अ. १०।८।२६॥

(इयं) यह आत्मदेवता (कल्याणी) कल्याण करनेवाली (अ-मृता) अमर है और (मर्त्यस्य गृहे) मर्त्य प्राणी के घर अर्थात् शरीर में रहती है। यह देवता (यस्मै) जिसके लिये (कृता) की जाती है, हो जाती है अर्थात् जिसे आत्मबोध हो जाता है (सः) वह (शये) सुख प्राप्त करता है और (यः चकार) जो पुरुषार्थ करता है (सः जजार) वही स्तुति करने योग्य बनता है।

मनुष्यके मरने वाले देहमें अमर, जीर्ण होनेवाले देहमें जरारहित, और दुर्गन्धयुक्त शरीर में कल्याणमय आत्मा रहता है। जो पुरुषार्थी मनुष्य उन्नति के लिये पुरुषार्थ करता है उसी का आत्मिक बल बढ़ता और वही प्रशंसनीय बनता है ।

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः॥ ऋ. ६।६।४॥

(अयं प्रथम होता) यह मुख्य होता है, (इमं पश्यत) इसको देखिये, (मर्त्येषु इदं अमृतं ज्योति) मर्त्यों में यह अमर ज्योति है, (सः अयं जज्ञे) यह स्थिर प्रकट हुआ है, (तन्वा सह वर्धमानः अमर्त्य) शरीर के साथ बढ़ने वाला अमर (आनिषत्त) प्रकट हुआ है।

इन्द्रियादि की अपेक्षा से विषय ग्रहणादिमें जीवात्मा मुख्य है।

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः। विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु॥ ऋ. ६।६।५॥

(कं) आनन्ददायक (ध्रुवं ज्योतिः) स्थिर तेज (दृशये) ज्ञान लेने के लिये (अन्तः निहितं) अन्दर अर्थात् अन्तःकरण के स्थान में रखा है। (पतयत्सु) दौड़ने वालों के अन्दर=ज्ञान साधन चचल इन्द्रियों में (मनः) मन (जविष्ठं) अत्यन्त वेगवान् है। (संकेता) एक उद्देश्य से प्रेरित हुए (समनसः) एक मतवाले (विश्वे देवा) सब ज्ञानी (एकं क्रतुं) एकही कार्य को (साधु) उत्तम रीति से (अभि-वि यन्ति) करते हैं।

मनुष्यों के अन्दर जो जीव है वह ज्योतीरूप तेजोमय है। इस में परमात्मा की प्रेरणा होती है और इस से इस का तेज बढ़ता है। "मनुष्य की बुद्धियों और कर्मों को प्रेरणा करने वाला ईश्वर है।" यह बात गुरु मन्त्र में भी कही है।

संसारी

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः। अ. १०।८।२७॥

(त्वं स्त्री) तू स्त्री (त्वं पुमान्) तू पुरुष (त्वं कुमारः) तू कुमार (उत वा कुमारी) और तू ही कुमारिका (असि) है। (त्वं) तू (जीर्णः) वृद्ध होकर

(दण्डेन वञ्चसि) दंडा=लाठी लेकर चलता है और (त्वं) तू (विश्वतः मुख. जात भवसि) सर्वत्र मुखवाला होता है।

आत्मा स्त्री पुरुष, कुमार, कुमारी, तरुण और वृद्ध है, अर्थात् इन भावों का आरोप शरीर के साथ रहनेसे आत्मा पर होता है। यह जिस समय विकासको प्राप्त होती है उस समय इसकी शक्ति सर्वत्र फैलती है। तथा यह सर्वत्र मुखवाला है क्योंकि हरएक इन्द्रिय में इस का मुख है। हरएक इन्द्रिय से यह भोग लेता है।

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा

कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः

स उ गर्भे अन्तः॥ अ. १०।८।२८॥

(उत) और यह आत्मा (एषां पिता) इनका पिता, (उतवा एषां पुत्र) अथवा इनका पुत्र, (उत एषां ज्येष्ठः) और इनका ज्येष्ठ (उतवा कनिष्ठः) अथवा कनिष्ठ भाई भी होता है। (एकः देव) यह एक देव (मनसि प्रविष्टः) मन में प्रविष्ट होकर (प्रथमः जात) पहले जन्मा हुआ ही (स) वही फिर (गर्भे अन्त उ) गर्भ के अन्दर भी आता है।

एक ही आत्मा सम्बन्धविशेषसे पिता, पुत्र बड़ा या छोटा भाई कहा जाता है, परन्तु शरीरके कारण ही ये भाव इस पर आरोपित होते हैं। यह एक देव मनमें प्रविष्ट होकर एकवार जन्म लेता है और पश्चात् पुनः गर्भ में आकर पुनर्जन्मकी तैयारी करता है।

यह मन्त्र पुनर्जन्म के विषयका स्पष्ट प्रतिपादन करता है।

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः

शता दश॥ ऋ. ६।४७।१८॥

(इन्द्रः) जीव (मायाभिः) बुद्धियों के द्वारा (प्रतिचक्षणाय) प्रत्यक्ष कथन के लिये (रूपं रूपं) रूप २ का (प्रतिरूपः) प्रतिरूप (बभूव) होता है। और इस कारण वह बहुत शरीर धारण करने के हेतु (पुरुरूपः) अनेक रूपों वाला (ईयते) पाया जाता है। (तद्) वह सब कुछ (अस्य) इसके शरीर का (रूपम्) रूप है। अथवा (तद् अस्य रूपं प्रति चक्षणाय) यह सब कुछ जीवात्मा के स्वरूपबोधन के लिये है। (अस्य) इस जीवात्मा के (हि) निश्चय से (दश हरय) दश इन्द्रियां तथा (शता) सैकड़ों शक्तियां (युक्ताः) युक्त होकर, कार्य्यों को साधन करती हैं।

कर्मों के अनुसार जीवात्मा जिस जिस शरीर में जाता है। वैसे ही स्वभाव, और वैसी ही चेष्टा वाला हो जाता है। मनुष्य शरीर पाकर इसकी चेष्टा मनुष्य की सी होती है, तो पशु पक्षी की योनि में जाकर वैसी गति विधि करने लगता है। यह सारी बातें शरीर से आत्मा की पृथक् सत्ता को सिद्ध करती हैं।

कितनी सुन्दर रीति से शरीर इन्द्रियादि से आत्मा का भेद कथन किया है।

इन्द्रियाधिष्ठाता

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमान-
मोजसा। यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांऽ-
सि देवः सविता महित्वना॥ यजु. ११।६॥

(अन्ये देवाः) दूसरे देव अर्थात् इन्द्रियें (यस्य देवस्य प्रयाणम् अनु इत्) जिस देव=जीवात्मा की गति के अनुकूल ही (ययुः) गति करते हैं, अर्थात् जब जीवात्मा शरीर त्याग देता है, तो इन्द्रियें भी वहां से चली जाती हैं। और जिस देव के (ओजसा) बल से उस की (महिमानं) महिमा के अनुकूल यह भी महिमा वाले बन जाते है। अर्थात् यदि जीवात्मा उत्तम योनि को प्राप्त कर ले, तो इन्द्रियें भी प्रायः उत्तम होती है। (यः) जो जीवात्मा (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव लोकों=जन्मों को (वि ममे) विविध रीतियों से मापन करता है, (स सविता देवः) वह ऐश्वर्य्यसम्पन्न उन्नति चाहने वाला जीवात्मा (महित्वना) अपनी उत्कृष्टता के कारण (एतशः) शीघ्रगामी अथवा इन्द्रियों का प्रेरक है। अथवा (स सविता देवः) वह इन्द्रिय प्रेरक देव=जीवात्मा (महित्वना) अपनी बड़ाई के कारण सब इन्द्रियों को (एतशः) प्राप्त करता है।

इस मन्त्र में शरीर तथा इन्द्रियों की गति का आत्मा के आधीन होना स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। इस से जीवात्मा का इन्द्रियों से भेद भी स्पष्ट हो गया। जीवों का नाना योनियों को प्राप्त होना, तथा तदनुसार उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट इन्द्रियादि साधनों का होना भी बता दिया है। सब इन्द्रियों के साथ आत्मा की प्राप्ति भी इस मन्त्र में कह दी गई है। इस प्रकार देखें, तो इस मन्त्र में आत्मविषयक अनेक गम्भीर बातों का वर्णन आया है।

प्र शर्धं आर्त प्रथमं विपन्यँ ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे । स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासो ऽजनयन्त वृष्णे ॥ ऋ. ४।१।१२॥

(ऋतस्य योनौ) ऋतके मूल कारणमें (वृषभस्य नीळे) बलवान् प्रभु के आश्रय में (विपन्यं) ज्ञानीको (प्रथमं) पहिले (शर्धः प्र आर्त) तेज और बल प्राप्त होता है। यह (स्पार्हः) स्पृहणीय, प्राप्त करनेकी इच्छा करने योग्य, (युवा) युवा अथवा शरीर से युक्त और वियुक्त होनेवाला (वपुष्य) देहधारी, (विभावा) विविध अवस्थाओं वाला होता है। (वृष्णे) इस बलवान्के लिये (सप्त प्रियासः) सात प्रिय देव=सात इन्द्रियां=२ आंख, २ कान, २ नाक, १ रसना (अजनयंत) प्रकट होती हैं।

❋ प्रकृति ❋

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव । मही देव्यु१ षसो विभाती सैकेनैकेन मिषता विचष्टे ॥ अ. १०।८।३०॥

(एषा) यह (सनत्नी) सनातन=सदा रहने वाली नित्य प्रकृति (सनं एव) सदा ही (जाता) प्रसिद्ध है, अथवा कार्य उत्पन्न करती रहती है। (एषा पुराणी) यह पुरानी [पुरानी होती हुई नित्य नए रूप धारण करने वाली प्रकृति] (सर्वं) सब कार्यों में (परिबभूव) पूर्णतया रहती है । यह (मही) बड़ी तथा (देवी) कान्तिमयी है, तथा (उषस) कमनीय पदार्थों को (विभाती) विशेष रीति से प्रकाशित करने वाली है। (सा) वह प्रकृति (एकेन एकेन) प्रत्येक (मिषता) गति शील जीव के साथ (विचष्टे) अपना स्वरूप कथन कर रही है।

इस मन्त्र में प्रकृति को नित्य, सदा कार्य्यात्मना परिणत होने वाली तथा सब कार्यों की कारण बताया है और जीवों के लिये ही इसकी सत्ता है।

अविर्वैनाम देवतर्तेनास्ते परीवृता । तस्या रूपे-

एमे वृक्षा हरिता हरिस्रजः ॥ ऋ. १०।८८।३१॥

(वै) निश्चय से (अविः नाम) अवि प्रकृति=नामक एक (देवता) देवता=दिव्य गुण युक्त पदार्थ है, जो सदा (ऋतेन) सत्य नियम से (परीवृता) ढकी (आस्ते) रहती है अर्थात् जिस में सब परिणाम नियमानुसार होते हैं, अथवा (ऋतेन परीवृता आस्ते) सर्व व्यापक परमात्मा से परि=सब ओर=अन्दर बाहर से वृता=आच्छादित रहती है, अथवा (ऋतेन) जीव समुदाय से अपने २ अभिलषित भोग की प्राप्ति के लिये (परीवृता आस्ते) घिरी रहती है, गृहीत की जाती है। (तस्या) उसी के रूप से (इमे) यह (हरितस्रज वृक्षा) हरी मालाओं वाले वृक्ष (हरिता) हरे भरे रहते हैं।

अवि शब्द 'अव' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका एक अर्थ है स्वाम्यर्थ'। पुरुष=जीव को सांख्य योग शास्त्रों में प्रकृति का स्वामी कहा है और प्रकृति को स्व=धन=सम्पत्ति कहा गया है, उस सिद्धान्त का मूल वेद का प्रकृतिवाचक अवि शब्द है। जो लोग सृष्टि में होने वाले कार्य्यों को आकस्मिक=अहेतुक कहते हैं, उनका मानो निराकरण करने के लिये वेद ने 'ऋतेनास्तेपरीवृता' कहा है। इस छोटे से वाक्य से परमेश्वर की प्रकृति में व्यापकता प्रकृति की पुरुषार्थसाधकता, तथा संसार का नियमयुक्त होना प्रतिपादन किया गया है। 'वृक्ष' का अभिप्राय यहां प्राणिमात्र के शरीर हैं, यह सारे शरीर प्राकृतिक हैं, तथा यह इसी प्रकृति से हरित=जीवित रहते हैं अर्थात् शरीरधारणार्थ प्राकृत पदार्थों की आवश्यकता है।

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति ॥ य. २३।५६॥

(अरे) हे विद्वन्! (अजा) जन्मरहित प्रकृति (पिशङ्गिला) प्रलय काल में रूपों को निगलने वाली है। अर्थात् सारे कार्य कारणरूप प्रकृति में लीन हो जाते हैं। (श्वावित्) वृद्धि को प्राप्त होकर=संसारावस्थापन्न होकर (कुरुपिशङ्गिला) कार्य्यों के रूपों को उगलने=प्रकट करने वाली होती है। (शशः) चतुर ज्ञानी पुरुष (आस्कन्दं अर्षति) प्राकृत पदार्थों से कूद जाता है, अर्थात् प्रकृति के बन्धन से परे हो जाता है। और (अहिः) सर्पवत् कुटिलस्वभाव मनुष्य (पन्थां) मार्ग को=जन्ममरण मार्ग पर (वि) विविध रीतियों से (सर्पति) चलता है। अर्थात् जन्म मरण के चक्कर में पड़ जाता है।

———

तीन अनादि

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक
एषाम् । विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य
ददृशे न रूपम् ॥ ऋ. १।१६४।४४॥

(त्रयः) तीन (केशिनः) प्रकाशमय पदार्थ (ऋतुथा) नियमानुसार (विचक्षते) विविध कार्य्य कर रहे हैं । (एषाम्) इन में से (एकः) एक (संवत्सरे) काल में = सृष्टि काल में अथवा संवत्सर = वास योग्य संसार के लिये (वपते) बीज डालता है । (एकः) एक (शचीभिः) शक्तियों से कर्म्म से, बुद्धि से (विश्वम्) संसार को (अभि चष्टे) दोनों ओर से देखता है । (एकस्य) एक का (ध्राजिः) वेग तो (ददृशे) दीखता है, किन्तु (रूप न) रूप नहीं दीखता ।

ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति यह तीन पदार्थ हैं, जो जगत् का कारण हैं । इस मन्त्र में इन तीनों का स्वरूप बताया गया है । परमेश्वर जीवों के कर्म्म फल देने के लिये प्रकृति में मानों बीज डालता है, अर्थात् कार्य्य के योग्य बनाता है । जीव अपने कर्मों के अनुसार भले बुरे दोनों प्रकार के भोगों को भोगता है । प्रकृति का वेग = कार्य्य तो इन चर्मचक्षुओं को दिखाई देता है, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण उसका रूप दिखाई नहीं देता । तीनों को वेद ने 'केशी' = प्रकाशमय कहा है । परमात्मा तथा जीव के चेतन होने के कारण उनके प्रकाशमय होने में सन्देह नहीं, प्रकृति भी सत्व गुण वाली होने से गौण रूप से प्रकाशमय कही गई है । क्योंकि सत्व गुण लघु तथा प्रकाशक माना जाता है ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो
अस्त्यश्नः । तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं
विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ ऋ. १।१६४।१॥

यह सारा संसार (अस्य) इस परम प्रसिद्ध (वामस्य) कमनीय, चाहने योग्य (पलितस्य) गुणों द्वारा सर्व वृद्ध, अथवा सर्व पालक (होतुः) योग्य दाता प्रभु का है। (तस्य) उस प्रभु का (मध्यमः) गुणों से मंझला (भ्राता) भाई (अश्नः) खाने वाला = भोक्ता जीव है। (तृतीय भ्राता) तीसरा भाई (घृतपृष्ठः) घृत=भोग्य पदार्थों का पृष्ठ=आधारभूत है। (अत्र) इस संसार में (अस्य) इस घृतपृष्ठके (विश्पतिं) प्रजापालक (सप्तपुत्रम्) सात पुत्रों को (अपश्यम्) मैं जानता हूं ॥

परमेश्वर में अनन्त गुण हैं, अतएव गुणापेक्षा से वह सब से बड़ा है। प्रकृति में विकार आता है, जीव भी बद्ध-मुक्त दशा को प्राप्त करता है, परमेश्वर एक रस रहता है। जीव और प्रकृति नूतन नूतन अवस्था में आने के कारण मानों परमात्मा से कालापेक्षया भी छोटे हो गये। जीव गुणों के कारण तीनों में मध्यम = मंझला है। प्रकृति सर्वथा चेतनाविहीन=अज्ञ है। परमेश्वर सर्वज्ञ है। जीव न अज्ञ है और न सर्वज्ञ, वरन् अल्पज्ञ है, अतएव मध्यवर्ती है। तीसरी प्रकृति है, जिस से भोग मिलते हैं, 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (पा० २। १८) सूत्रको वेदके 'घृतपृष्ठ' शब्द ने कह दिया है। 'घृत' जहां भोगका उपलक्षण है, वहां घृत का 'प्रदीप्त' अर्थ होने से वह मोक्षवाचक भी है।

प्रकृति = प्रधान के सात पुत्र १ महत्तत्व, २ अहंकार ३—७ पंचतन्मात्रायें। इनका विस्तार सांख्यदर्शन में है।

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति। आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ अ.१०।८।१७॥

(ये) जो विद्वान् (अर्वाङ्) इस समय (मध्ये) बीच में (उत वा) अथवा पूर्वकाल में (पुराणं) पुरातन (वेदं) वेद के (विद्वांसं) जानने वाले का (अभितः) सब ओर (वदन्ति) वर्णन करते हैं, (ते सर्वे) वे सब मानों (आदित्यं एव) अखण्डनीय एक रस प्रभु की तथा (द्वितीयं) दूसरे (अग्निम्) ज्ञान स्वरूप जीव की (च) और (त्रिवृतं) त्रिगुणात्मक (हंसम्) प्रधान = प्रकृति की (परि वदन्ति) पूर्णतया स्तुति करते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ ऋ. १।१६४।२०॥

(स-युजा सखाया) साथ मिले जुले मित्र (द्वा सुपर्णा) दो सुपर्ण (समानं वृक्षं) एकही वृक्षपर (परिषस्वजाते) साथ साथ रहते हैं। (तयोः अन्यः) उनमेंसे एक (स्वादु पिप्पलं) मीठा फल (अत्ति) खाता है (अन्य) दूसरा (अनश्नन्) भोग न करता हुआ (अभिचाकशीति) केवल प्रकाशता है।

जीवात्मा और परमात्मा ये दोनो प्रकृति रूपी एक वृक्षपर बैठते हैं। जीवात्मा कर्मके फल खाता है, परन्तु परमात्मा कुछ न भोगता हुआ प्रकाशमान होता है।

ये दोनों परस्पर मित्र हैं, विशेष कर परमात्मा जीवात्माकी उत्तम सहायता करनेके कारण उसका सच्चा मित्र है। इसीको बंधु, पिता, माता आदि नामोंसे वेदमें अन्यत्र कहा गया है। मित्रके विषयमें निम्न मंत्र देखिये।

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे। तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ ऋ. १।१६४।२२॥

(यस्मिन् वृक्षे) जिस वृक्षमें (मध्वदः सुपर्णाः) मीठा फल खानेवाले पक्षी (निविशन्ते) रहते हैं और (विश्वे) सब (अधिसुवते) संतान उत्पन्न करते हैं (तस्य इत्) उसीका ही (स्वादु पिप्पल आहुः) मीठा फल है ऐसा कहते हैं। (यः) जो (अग्रे) प्रारंभमें उस (पितरं) अपने पिताको (न वेद) नहीं जानता (तत् न उन्नशत्) वह उस आनंदको प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रकृतिके जगद्रूपी वृक्षपर जो मीठे फल लगते हैं उनको जीवात्मा-गण खाते हैं। और उसी वृक्षपर रहकर संतान उत्पन्न करते हैं। इनका पिता परमात्मा है, जो उसको जानते हैं वे बंधनसे छूट जाते हैं, परन्तु जो उसको जाननेकी परवाह नहीं करते वे सुखसे दूर होजाते हैं।

असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः ॥ ऋ. १०।५।७॥

(दक्षस्य जन्मन्) बलकी उत्पत्तिके समय (अदितेः) अविनाशी मूल प्रकृतिके (उप—स्थे) समीप स्थानपर (परमे व्योमन्) अत्यंत विस्तृत आकाशमें (सत् च) तीनों कालोंमें एक जैसा रहनेवाला अविकारी आत्म-तत्व और (अ—सत् च) उस आत्मासे भिन्न पदार्थ थे। इस (पूर्वे आयुनि) पूर्व अवस्थामें (ह नः) निश्चयसे हम सबके अंदर (ऋतस्य—प्रथमजाः) सत्य धर्मका पहिला प्रवर्तक (अग्निः) तेजस्वी ईश्वर प्रकाशित हुआ, जिसके

साथ (वृषभः) बलवान् आत्मा और (धेनुः) कामधेनु बुद्धि अथवा प्रकृति थी।

प्रकृति और ईश्वर अनादि कालसे हैं। प्रकृतिमें बलका संचार वही करता है। सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक वही है। बल और पोषकशक्ति, बलवान् आत्मा और सुबुद्धि, ये सब परमेश्वरके साथ रहते हैं। अर्थात् परमेश्वरसे सबको बल प्राप्त होता है। और परमात्मासे उत्तम बल प्राप्त करके ही सब अपना कार्य योग्य रीतिसे करनेमें सफलता और सुफलता प्राप्त करते हैं।

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणे-
ऽपचत्। यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदने-
नाति तराणि मृत्युम्॥ अ. ४।३५।१॥

(ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) सत्यके प्रथम प्रवर्तक प्रजापतिने (तपसा) अपने तेजस=ज्ञानसे (यं ओदनं) जिस प्रकृतिरूप ओदन को (ब्रह्मणे) जीवके लिये (अपचत्) पकाया=कार्य्यमें परिणत किया। और (यः) जो (लोकानां विधृतिः) लोकोंका विशेष धारणकर्ता और जो सबका (नाभि) मध्य=केन्द्र है। उसके (तेन ओदनेन) उस प्रकृतिके ज्ञानसे (मृत्युं अतितराणि) मृत्युके पार होजाऊं।

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ऋ. १।५०।१०॥

(वय) हम सब (तमसः परि) अंधकार=प्रकृतिसे (उत्) ऊपर उठकर (उत्तरं ज्योतिः) अधिक उच्च प्रकाश=जीवात्माको (पश्यन्तः) देखते हुए (देवत्रा देवं) देवोंमे देव उत्तम (उत्तमं ज्योतिः सूर्यं) उत्तम प्रकाशपूर्ण सूर्य-गतिदाता प्रभु को (अगन्म) प्राप्त करें।

अंधकारमय प्राकृतिक अवस्थासे ऊपर उठकर, आत्मिक प्रकाशका अनुभव करते हुए परमात्माकी प्राप्ति करें। यह आत्मोन्नतिका क्रम इस मंत्रमें देखने योग्य है।

रुद्रस्य ये मीळ्हुषः सन्ति पुत्रा यांश्चो नु दाधृवि-
र्भरध्यै। विदे हि माता महो मही षा सेत्पृश्निः
सुभ्व१ गर्भमाधात्॥ ऋ. ६।६६।३॥

(मीढुषः रुद्रस्य) एक दानशूर रुद्र देवके (ये पुत्राः) जो अनेक रुद्रसंज्ञक—पुत्र हैं, (यान् च उ नु) और जिनके, निश्चयसे (भरध्यै) भरण पोषण पालन करनेकी सब शक्ति वह एक अद्वितीय रुद्र (दाधृविः) धारण करता है। (महः) इस महान् रुद्रकी शक्तिको (सा मही माता विदे) वह मूल प्रकृतिरूपी बड़ी माता प्राप्त करती है, और (सु—भ्वे) जीवोंकी उत्तम अवस्था होनेके लिये (सा पृश्निः) वह विविध रंगरूपवाली प्रकृति माता (इत्) निश्चयसे (गर्भं आधात्) जीवोंको गर्भमें धारण करती है।

एक परमात्मदेव सबका परमपिता है। सब जीवात्मगण उसके अमृत पुत्र हैं और प्रकृति उनकी माता के तुल्य है। यह परमपिता सबका धारण पोषण और वर्धन करनेका सामर्थ्य रखता है और उस सामर्थ्यका उपयोग करके वह सबका धारण पोषण कर रहा है।

सृष्टि

रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान। तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ॥ अथ. १३।१।६॥

(रोहितः) तेजस्वी परमात्माने द्युलोक और पृथिवी लोक बनाये और (तत्र) उनके बीचमें (परमेष्ठी) परमात्माने (तन्तु) एक धागेको (ततान) फैलाया है। और (बलेन) शक्तिसे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़तासे धारण किया है। (तत्र) वहां (एक—पात् अ-जः) एक अंशरूप अज अर्थात् जीवात्मा (शिश्रिये) आश्रय लेता है।

परमात्माने यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न किया है और वही सूत्ररूप सूक्ष्मरूपसे सबके अंदर व्याप्त हुआ है। जिस प्रकार मालाके अंदर सबका आधाररूप सूत्र होता है, उसी प्रकार इस विश्वके अन्दर परमात्मा ही सर्वाधार है, इसीलिए उसको सूत्रात्मा कहते हैं।

नासदीय सूक्त ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो
व्योमा परो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्न-
म्भः किमासीद्गहनं गभीरम् । ऋ. १०।१२९।१॥

(तदानीं) उस समय (न असत् आसीद्) असत् अर्थात् यह अस्थिर जगत् नहीं था, (नो सत् आसीत्) और न सत् अर्थात् तन्मात्र तत्व था। (रज न आसीत्) यह परमाणुओं से भरा हुआ अन्तरिक्ष भी नहीं था। और (यत् पर व्योमा नो) जो पर आकाश है वह भी नहीं था। उस समय (कुह) कहां (किं) क्या (आवरीव) ढका हुआ था और (कस्य शर्मन्) किसके आश्रय से क्या था? (किं) क्या (गहनं गम्भीरं) बड़ा गम्भीर (अंभ) पानी सा उस समय (आसीत्) था?

इस विश्व के उत्पन्न होने के पूर्व आकाश, तन्मात्र और अस्थिर जगत् कुछ भी नहीं था। उस समय ढांपना, आश्रय से रहना, आदि कुछ न था। क्योंकि यह कल्पना जगत् उत्पन्न होने के पश्चात् होती है। उस समय पानी पृथ्वी आदि कुछ न था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्
प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न
परः किं चनास ॥ ऋ. १०।१२९।२॥

(मृत्यु न आसीत्) उस समय मृत्यु नहीं था, (तर्हि अमृतं न) उसी कारण अमरत्व भी नहीं था। (रात्र्या अह्न) रात्री और दिन के विभाग का (प्रकेत) कोई ज्ञान (न आसीत्) न था। उस समय (तद् एकं) वह एक आत्मतत्व (स्वधया) अपनी शक्ति से ही अथवा स्वधा=प्रकृति के साथ (अ-वातं) प्राण वायु के विना ही (आनीत्) प्राणरूप में था, (तस्मात् अन्यत्) उस से भिन्न (ह) निश्चय से (किंचन परः) कोई भी श्रेष्ठ (न आस) नहीं था॥

उस समय मृत्यु अथवा अमरपन कुछ भी नहीं था। दिन और रात्रीके विभाग का कोई चिन्ह न था। क्योंकि यह सब ज्ञान जगत् की उत्पत्ति के पश्चात् का है। परन्तु उस समय भी एक आत्मतत्व अपनी शक्ति से अथवा प्रकृतिके साथ विद्यमान था। उनका अस्तित्व प्राण वायु पर विद्यमान नहीं था, वही सब से श्रेष्ठ है, उस से श्रेष्ठ कोई भी नहीं है॥

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ ऋ. १०।१२९।३॥

(अग्रे) प्रारम्भ में (तमसा गूढं) तम-अन्धकार से व्यापी हुई (तम) मूल प्रकृति थी। (इदं सर्वं) और यह सब जगत् (अ-प्रकेतं) अज्ञेय अवस्था में (सलिलं) जल के समान एकाकार (आसीत्) था। (यदा) जब (तुच्छ्येन) शून्यता से वह (आभु) व्यापक प्रकृति (अपिहितं) ढंकी हुई थी। उस समय (तपसः महिना) तपने के महत्व से = अथवा ज्ञानमय तप की महिमा से (तत् एकं) वह एक (जायत) बन गया।

प्रारम्भ में सब घना अन्धकार था और उस मे मूल प्रकृति अज्ञानरूप में केवल गतिरूप अवस्था मे थी। उस समय सर्वत्र शून्य सा और आकार हीन सा सब था। इतने में वहां की उष्णता से (तप से) एक पदार्थ बना। वही जगत् का प्रारम्भ समझिये॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ऋ. १०।१२९।४॥

(अग्रे) इस पूर्व समय में (मनस रेत) मन का वीर्य (प्रथमं यत् आसीत्) जो पहिले था (तत् अधि) उसके ऊपर (कामः) काम अर्थात् संकल्प (समवर्तत) हुआ, (कवय) ज्ञानी लोगों ने (हृदि) हृदय में (मनीषा) बुद्धि से (प्रतीष्य) ढूंढकर (निर् अविंदन्) जान लिया, कि (असति) असत् में (सत) सतका (बन्धु) * भाई पन है। अर्थात् सत्=कार्य्य अपनी उत्पत्ति

* प्रकृति बहन है और जीवात्मा उसका भाई है। यहां इनका बन्धुत्व वर्णन किया है। अन्य स्थानोंपर पतिपत्निका संबंध भी वर्णन किया है। 'बन्धु' शब्दका यौगिक अर्थ 'स-बन्ध रखनेवाला' इतना ही है। वह यहां लेनेसे कोई शंका नहीं उठती। अन्य स्थानमें माता पुत्रका संबन्ध भी लिखा है।

से पूर्व असत्=अविद्यमान=कारणस्वरूपेण रहता है। अथवा (असति.. बन्धु) असत्=अव्यक्तमूलप्रकृति में सत्=कार्य्य जगत् बन्धु=बन्धा है।

इस प्रथम समय में मनके एक शक्ति थी, उस शक्ति के ऊपर संकल्प खड़ा हुवा और उससे सब जगत् बना। सत् असत्, चेतन और जड, आत्मा और अनात्मा इन में परस्पर भाईपन है, ऐसा उन ज्ञानी लोगों ने जान लिया है, कि जो दूरदृष्टि और सूक्ष्मबुद्धि से अपने ही हृदय में ढूंढते हैं। इसी लिये चेतन आत्माका संकल्प जड मनके साथ मिलकर कार्य्य कर सकता है

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि
स्विदासी३त् । रेतोधा आसन्महिमान आस-
न्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ ऋ. १०।१२९।५॥

(‡एषां) इन तीनों का (रश्मि) किरण (तिरश्चीन वितत) तिरछा फैला है। (अध स्वित् आसीत्) नीचे भी आश्चर्य कारक रीति से है और (उपरि स्वित् आसीत्) ऊपर भी वैसा ही आश्चर्य्य कारक है। (रेतो धा) वीर्य्यका धारण करनेवाले जीव (आसन्) थे, (महिमान आसन्) बलशाली महान् जीव थे। (अवस्तात् स्व-धा) इधर आत्मा की धारण शक्ति अथवा प्रकृति थी और (परस्तात् प्रयतिः) परे प्रयत्नका बल था।

परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति इन तीन पदार्थोंका सूचक यहांका 'एषां' शब्द है। इन तीनोंके तेजका मिलकर एक किरण चारों ओर फैल गया है और वह किरण ऊपर नीचे अर्थात् चारों ओर आश्चर्यकारक बनगया है। बल का धारण और पोषण करनेवाले जीवात्मा अनेक थे महान् शक्तिशाली तत्व प्राकृत भी अनेक थे। आत्मा में प्रथम से अपनी निज धारणशक्ति है और अंततक चलनेवाला प्रयत्न है।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत
इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को
वेद यत आ बभूव ॥ ऋ. १०।१२९।६॥

‡'एषां' शब्द बहुवचन होनेसे 'तीन' पदार्थों का बोध करता है। इस सूक्तमें (१) तद एक (२) रेतो-धा (३) अप्रकेतं सलिलं ये तीन पदार्थ वर्णन किये है (१) परब्रह्म (२) जीवात्मा (३) अव्यक्त प्रकृति ये उनके अर्थ हैं। श्वेताश्वतरउपनिषदमें (१) अज ब्रह्म (२) अज जीव (३) अजा प्रकृतिका वर्णन है वह यहां देखिये।

(अद्धा कः वेद) वास्तवरूप में कौन जानता है और (क इह प्रवोचत्) कौन इस विषयमें कह सकता है कि (कुतः आजाता) कहां से बनी और (कुतः इयं विसृष्टिः) कहां से यह विविधप्रकार की सृष्टि हुई है। (अस्य विसर्जनेन) इसकी उत्पत्ति के (अर्वाक्) पश्चात् (देवाः) सूर्य अग्नि आदि दिव्य पदार्थ बने हैं। (अथ कः वेद) अब कौन जान सकता है कि (यतः) जिससे (आ बभूव) यह संसार बना है।

मनुष्योंको जगत् बननेकी वास्तविक प्रक्रिया साक्षात् ज्ञात नहीं हो सकती। क्योंकि सृष्टिकी उत्पत्ति के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान होना सर्वथा असंभव है। सूर्य चन्द्रादि तेजस्वी दिव्य पदार्थ बननेसे पूर्वही सृष्टिका प्रारम्भ है, जहां से और जबसे यह प्रारम्भ हुआ उसको कौन मनुष्य भला जान सकेगा।?

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥ ऋ. १०।१२९।७।

(यतः इयं विसृष्टिः) जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि (आबभूव) उत्पन्न हुई वह (यदि वा दधे) क्या इसको धारण करता है, (यदि वा न) या नहीं। (परमे व्योमन्) परम अगाध आकाशमें (अस्य य अध्यक्षः) इसका जो अधिष्ठाता है (सः अंग वेद यदि वा न) वह निश्चय से जानता है या नहीं।

जिससे यह सृष्टि बनी है, क्या उसने यह बनाई या नहीं? क्या उसने इसका धारण किया या नहीं? इस अगाध आकाशमें जो इस जगत् का निरीक्षण करता है, वह पूर्णरूपसे इसको जानता है या नहीं?

इस सूक्तपर विचार-सत् असत्, शाश्वत अशाश्वत, व्याप्य व्यापक, आश्रय आश्रित, दिन रात्रि, मृत्यु अमृत, इत्यादि द्विविध भाव बतानेवाले शब्द एक दूसरे की अपेक्षासे प्रयुक्त होते हैं, इसलिये उनमेंसे एकका अभाव होने पर दूसरे की कल्पना स्वयं नष्ट होती है इसी विचार से प्रथम मंत्र में कहा है कि जगदुत्पत्तिके पूर्व सत् और असत् ये दोनों भाव नहीं थे। मृत्यु अमरत्व ये भाव भी नहीं थे, यह कथन द्वितीय मंत्रका है, इसका भी आशय उक्त प्रकार समझना चाहिए। स्वयम्भू परमात्मा का अस्तित्व इस द्वितीय मन्त्रमें कहा है, इस लिये पूर्वमंत्रोक्त सत् शब्द परमात्मवाचक नहीं है। इस कारण प्रथम मंत्र के सत् शब्द का अर्थ सूक्ष्म प्रकृति और असत् का अर्थ स्थूल जगत् लेना उचित है। नहीं तो सत् के अभावसे परमात्माका अभाव मानना पड़ेगा।

तृतीय मंत्रमें "तमः" शब्दका अर्थ प्रकृति तत्त्व ऐसा ही समझना चाहिए

और "तपः" का अर्थ आत्मिक चैतन्य की उष्णता समझती है। प्रकृति और आत्मा इन दोनों के संबन्ध की एकता यहां वर्णन की है। यह सृष्टि का प्रथम कारण है।

चेतन आत्मा के संकल्प और प्राकृतिक महत्तत्त्व अर्थात् जड मन का संबन्ध चतुर्थ मन्त्र मे वर्णन किया है। और जड चेतन के सनातन बंधुत्वका संबन्ध इस मन्त्र में वर्णन किया है।

ब्रह्म जीवात्मा और प्रकृतिका क्रमश सत्त्वरजतमात्मक त्रिगुणमय किरण सर्वत्र फैला है. ब्रह्म की महिमा. जीवात्माका वीर्य और जड मनका प्रयत्न, मिलकर सब जगत् होता है, यह पंचम मन्त्र का भाव है।

सृष्टिका प्रारम्भ सूर्य उत्पन्न होने के पूर्व है और वह जानना मनुष्य की बुद्धि के बाहिर है ऐसा छटे मंत्रमें कहा है. और सप्तम मंत्रमें कहा है कि यह एक अद्वितीय सर्व जगत् का अधिष्ठाता परमात्मा जगत को आधार देता है वा नहीं, जगत् करता है वा नहीं, सब जगतको जानता है वा नहीं, ऐसा प्रश्न कहा है इसका तात्पर्य तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखना चाहिये।

मनुष्य जानता है परन्तु पहिले नहीं जानता था करता है परन्तु पहिले नहीं करता था। अर्थात् जानना और करना भूतकाल में उस कार्य का अभाव दर्शाता है। इसलिये ये शब्द परमात्मा के विषय में प्रयोग करने कठिन हैं। क्योंकि उस के निज स्वभाव से ही अवर्णनीय कार्य हो रहे हैं। उसका वर्णन शब्दों से नहीं हो सकता।

वेदवाणी का आविर्भाव

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ ऋ. १०।७१।१॥

(बृहस्पते) हे वेदाधिपते अन्तरात्मन् महेश! आपकी कृपा से (प्रथमम्) उत्पत्त्यनन्तर इतर वाणियों के उच्चारण के पूर्व ही (नामधेयम् दधाना) पदार्थों के भिन्न भिन्न नाम धारण करते हुए ब्राह्मण गण (यत् प्रैरत) जो जो वचन प्रेरित करते हैं (वाच अग्रम्) वह वाणियों में अग्र अर्थात् श्रेष्ठ है। तथा (यत्) जो (एषां श्रेष्ठ) इनमे श्रेष्ठ होते हैं (यत्) जो (अरिप्रम्) पाप-

रहित होते हैं (तत्) वह (एषां) इनके (गुहा) हृदयरूप गुप्तस्थानमें (निहितम्) गुप्त ज्ञान (प्रेणा) इनके प्रेमसे (आविः) आविर्भूत होता है।

आशय—जब सृष्टि में मनुष्यों की उत्पत्ति हुई तो उन्होंने अपने चारों ओर नाना प्रकार के पदार्थ देख कर उनके नाम रखने की इच्छा की। उस समय परमकृपालु जगतगुरु परमाप्त सर्वविद्यानिधान भगवान् ने उन में वाणी की प्रेरणा की, वह संसार में वाणी का प्रथम प्रकाश है। किन को वह वाणी मिली ? उन मनुष्यों को जो पूर्वकल्पकृत स्वसुकृतों के कारण श्रेष्ठ थे, तथा अरिप्र=पाप रहित अथवा प्रभु भक्त थे। वह वाणी प्राप्त किस प्रकार हुई ? सर्वव्यापक अन्तर्यामी प्रभु ने उन के हृदय में प्रेरणा की। (यदेषां श्रेष्ठ ' ' मासीत्) का एक अर्थ यह भी हो सकता है, ' जो श्रेष्ठ=सर्वोत्तम ज्ञान था, जो निर्दोष=भ्रम विप्रलिप्सा आदि दूषणों से विरहित था, वह ज्ञान इन को दिया।

इस प्रकार इस मन्त्र पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें, तो मनुष्य को वाणी की प्राप्ति तथा ज्ञान की उपलब्धि प्रारम्भ में किस प्रकार हुई ? इस जटिल प्रश्न का समाधान=युक्तियुक्त समाधान विद्यमान है।

अगले मन्त्र में बतलाया गया है, कि वह वाणी=वेद वाणी शुद्ध ही उनके मुख से उद्गत हुई।

उस वाणि में ग्रहण करने वालों ने कदाचित् कुछ मिला दिया हो ? इस शंका का समाधान वेद स्वयं करता है।

> सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाच-
> मक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां
> लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥ ऋ. १०।७१।२॥

(यत्र) जिस समय उन (धीरा) ध्यानी, मेधावी महात्माओं ने (मनसा) मनसे=मनन से, उस (वाचं अकृत) वाणी को किया=वेदवाणी का उच्चारण किया, तो वे (इव) मानों (तितउना) चालनी से (सक्तुं पुनन्त) सत्तू साफ कर रहे थे, अर्थात् जिस प्रकार चालनी से चलाए जाने पर केवल सत्तू ही आते हैं, अन्य भुस आदि नहीं, तद्वत् उनके मुख से प्रभुप्रेरित वाणी ही निकली। क्यों ? (अत्र) इस विषय में (सखायः) वे मित्र (सख्यानि) मैत्री के नियमों को (जानते) जानते हैं, अर्थात् मित्र=प्रभु की बात में अपनी बात न मिलाने के नियम को जानते हैं। क्योंकि (एषां वाचि अधि) इनकी वाणी में (भद्रा लक्ष्मीः निहिता) कल्याणमयी शोभा रखी हुई है।

भाषा का विस्तार

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ऋ. १०।७१।३॥

विद्वद्गण (यज्ञेन) यजनीय परमात्मा की कृपा से अथवा अध्ययन यज्ञ से (वाच पदवीयम्) वचन सम्बन्धी मार्गको=वाणी के प्राप्तव्य ज्ञान को (आयन्) पाते हैं और (ऋषिषु) अतीन्द्रियार्थदर्शी वेद प्राप्त करने वाले ऋषियों में (प्रविष्टां ताम्) प्रविष्ट उस वेदवाणी को (अन्वविन्दन्) लाभ करते है। अनन्तर (ताम् आभृत्य) उस वचन को लाकर (पुरुत्रा) बहुत देशोंमें (व्यदधु.) फैलाते हैं, अर्थात् सब मनुष्यों को पढ़ाते हैं। (ताम्) उस ऐसी वाणी को (रेभा) शब्दायमान (सप्त) गायत्र्यादि सप्त छन्द (अभि सं नवन्ते) प्राप्त करते हैं।

अनु०--वह वाणी गायत्र्यादि सप्त छन्दों में विभक्त होती है। बुद्धिमान् गण यज्ञद्वारा वेद ज्ञान का पथ प्राप्त करते हैं। ऋषियों के अन्त करण में जो ज्ञान स्थापित रहता है उस को वहां ही छात्रगण प्राप्त करते हैं। उस ज्ञान को लाकर नाना प्रदेशों में विस्तार करते हैं। उन से ही सप्त छन्द और नाना-विध काव्यादि गीत गान बनते रहते हैं।

आशय--भाव इस का यह है कि जिस प्रकार सर्गारम्भमें परमात्मा की कृपा से ऋषियों के हृदय में वेदवाणी का समावेश हुआ, उन से दूसरे शिक्षा ग्रहण कर विद्वान् हुए, और फिर उन्हों ने उस का सर्वत्र प्रचार किया, तद्वत् अब भी साधारण मनुष्यगण वेदार्थदर्शी ऋषियों के निकट जा, अध्ययन कर, अपने अपने देश लौट कर उसे फैलाते हैं। तब उस विद्या को गायत्र्यादि नाना छन्दोंमें बद्धकर गीतरूपसे विस्तार करते और काव्यरुपसे कथा कहानी में लाते हैं। अत. गुरुकुलादि विद्यास्थानों में जाकर सुशिक्षा प्राप्त कर अपने अपने देश को उससे भूषित और अलंकृत किया करें; तब ही मनुष्यसमाज में कल्याणकी वृद्धि, अशान्तिका ह्रास और अन्याय का विनाश होगा।

सब मनुष्य बोधा नहीं होते।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणो-
त्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य
उशती सुवासाः॥ ऋ. १०।७१।४॥

(त्वः) कोई कोई (पश्यन् उत) मन से पर्य्यालोचना करते हुए भी (वाचं न ददर्श) वेद वाणी को नहीं देखते अर्थात् दर्शन से कुछ फल न पाकर व्यर्थ ही वे देखते हैं। (त्वः) कोई कोई (शृण्वन् उत) सुनते हुए भी (एनाम् न शृणोति) उस को नहीं सुनते हैं, क्योंकि सुनने का फल इन्हें प्राप्त नहीं होता। इस अर्ध ऋचा से अविद्वान् का गुण दिखलाया गया है। तृतीय चरण से वेदार्थज्ञ पुरुषों का गुण दिखलाते हैं, (त्वस्मै उत) किसी वेदज्ञ पुरुष को स्वयं वेद वाणी (तन्वम्) अपना शरीर अर्थात् अपना आशय (वि सस्रे) दिखला देती है। यहां दृष्टान्त देते हैं (सुवासा) सुन्दर परिच्छद-धारिणी (उशती) प्रेमपरिपूर्ण (जाया इव) जैसे भार्या निज स्वामी के निकट निजदेह समर्पित करती है तद्वत्।

अनु०—कोई कोई वेद देखकर भी नहीं समझ पाते। कोई सुनते हुए भी नहीं सुनते। जैसे प्रेम परिपूर्ण सुन्दर परिच्छदधारिणी भार्या निजस्वामी के निकट निज देह प्रकाशित करे, तद्रूप वाग्देवी किसी किसी व्यक्ति के निकट प्रकाशित होती है।

आशय—संसार में बहुत से पुरुष ऐसे हैं पढ़ना नहीं जानते, अत वे वेदादि को लिखा देख कर भी नहीं देखते। और कई ऐसे हैं जो कि ग्रन्थों को पढ़ते और सुनते हैं, किन्तु उनका पुस्तक देखना व्यर्थ है, क्योंकि वे न उनको स्वयं जानते और न समझते, अतएव उनका श्रवण भी व्यर्थ ही है, क्योंकि उस वाणी का अर्थ उन्हें कुछ भी प्रतीत नहीं होता। और कोई भूयो भूयः श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने से वाणी के पूर्ण तत्व को समझ जाते हैं। मानों वाणी स्वयं प्रसन्न होकर अपना अंग उस विद्वान् के निकट सब प्रकार से दिखला देती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ पढ़े उसके अर्थ का भी अभ्यास करे। और सर्वदैव मनन द्वारा पदार्थों के तत्व जानने के लिये प्रयत्न किया करे।

मूर्ख जन।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि
वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ
अफलामपुष्पाम्। ऋ. १०।७१।५॥

(त्वं उत) किसी किसी पुरुष को (सख्ये) विद्वत्सभा में (स्थिरपीतम्) उत्तम भावग्राही (आहुः) कहते और मानते हैं (एनम्) इस पुरुष को (वाजिनेषु अपि न हिन्वन्ति) किन्हीं शुभ कर्मों में नहीं त्यागते किन्तु अग्रेसर बनाते हैं। कोई कोई (अधेन्वा) दुग्ध रहित गौ के समान (मायया) केवल छल, कपटयुक्त वाणी से (चरति) विचरण करते हैं अर्थात् मूढ़ प्रजाओं में अपनी मिथ्या विद्वत्ता दिखला ठगा करते हैं (एष.) वह मनुष्य (अफलां) फल रहिता (अपुष्पाम्) पुष्पविहीना (वाचम्) वाणी को (शुश्रुवाम्) सुनते हैं।

आशय—अपने अपने समाज में प्रत्येक पुरुष ऐसी योग्यता प्राप्त करें कि उनकी सर्वत्र शुभ कर्म में उपस्थिति अपेक्षित हो। और छल-कपट करके कदापि प्रजाओं को ठगा न करें, ठग धूर्त जनों से प्रजा का सदैव पृथक् और सचेत रहना चाहिये।

अनुवाद—पण्डित समाज में किसी किसी व्यक्ति की यह प्रतिष्ठा होती है कि वह उत्तमभावग्राही कहलाता है, उस को त्याग कोई शुभ कार्य नहीं किया जाता। कोई पुष्पफल विहीन अर्थात् अर्थ जाने बिना वेद शब्दों को अभ्यास करते हैं। उनके जो वाक्य हैं, मानों वास्तविक दुग्धप्रदा गौ नहीं, किन्तु काल्पनिक मायामयी गोमात्र है।

मित्र त्याग की निन्दा

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि
भागो अस्ति । यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि
प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् । • ऋ. १०।७१।६॥

(यः) जो अज्ञानी (सचिविदं) सत्यज्ञानदायक (सखायम्) मित्र समान वेद को (तित्याज) त्याग देता है, (तस्य) उस पुरुष का (वाचि अपि भागः न अस्ति) किसी वचन में कोई भाग नहीं होता, लोग उसको मिथ्यावादी समझने लगते हैं (ईम्) यह पुरुष (यत् शृणोति) जो कुछ सुनता है, (अलकं शृणोति) व्यर्थ ही सुनता है, वह (सुकृतस्य पन्था) सत्कर्मों के मार्ग को (नहि प्रवेद) नहीं जानता है । अर्थात् वेद बन्धु को जो त्यागता है उस की कथा में कोई फल नहीं वह जो कुछ सुनता है, वृथा ही सुनता है । वह सत्कर्म के पथ को जान नहीं सकता ।

आशय—बहुत से स्वार्थी पुरुष निज स्वार्थ सिद्ध कर वेद को त्याग देते । किन्तु उस कुत्सित कर्म से लोक में निन्दा और अपयश होता है । वेद में लोक परलोक के हित साधक उपदेश है, जिस ने उस को त्याग दिया, मानों उस ने अपने इह लोक तथा परलोक का स्वयं नाश किया । जब तक संसार में वेद तथा वैदिक धर्म का प्रचार रहा, संसार में सुख शान्ति समृद्धि की वृद्धि होती रही ।

अनु०—सन्मार्गोपदेशक बन्धु को जो त्यागता है उस की कथा में कोई फल नहीं । वह जो कुछ सुनता है वृथा ही सुनता है वह सत्कर्म का मार्ग नहीं जान सकता ।

———

सब मनुष्य समान नहीं।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ऋ. १०।७१।७॥

सब मनुष्य (अक्षण्वन्तः) नेत्रवाले और (कर्णवन्त) कानवाले होते हैं अर्थात् नयन, कर्ण, नासिका, हस्त, चरणादिक सब के होते हैं और इस में (सखायः) सब प्रायः तुल्य दीखते हैं। किन्तु (मनो जवेषु) मनोवेगों में अर्थात् बुद्धि, विवेक, विचार इत्यादि अंशों में (असमा बभूवुः) वे अतुल्यता दिखलाते हैं। उनमें से कोई (आदघ्नास) मुखपर्यन्त जलवाले (ह्रदाः इव) सरोवर के समान होते हैं इस में मध्यम पुरुष दिखलाए गए हैं (त्वे उ) कोई कोई (उपकक्षास) कक्षपर्यन्त जलवाले सरोवर के समान होते हैं इस से अल्पज्ञ पुरुष सूचित किए गए है (त्वे) कोई कोई (स्नात्वाः) स्नानार्ह अक्षोभ्योदक ह्रदों के समान (ददृश्रे) देख पड़ते हैं इस से महाप्रज्ञ पुरुष दर्शाए गए हैं।

आशय—यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक अंश में समान नहीं हैं, केवल मनुष्य ही नहीं किन्तु सब प्राणियों में ऐसी अवस्था विद्यमान है। अत एव मानवसमाज में वैषम्य अथवा पारस्परिक मनोमालिन्य और असामञ्जस्य देखकर आश्चर्यान्वित होना नहीं चाहिए। यही कारण है, कि कोई कोई तो वेद का पारदर्शी बन जाता है, और कोई उसे समझ भी नहीं पाता।

अनु०—जिनके चक्षु हैं, कर्ण हैं, ईदृग् बन्धुगण मनके भाव प्रकाश करने में असमान होते हैं। जिस ह्रद के जल में केवल मुख वा कक्षपर्यन्त निमग्न होता जैसे वह अगंभीर वैसे कोई कोई अगंभीर होते हैं कोई कोई स्नानार्ह उपयुक्त सुगंभीर ह्रद के समान देख पड़ते हैं।

अज्ञानी का त्याग

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः । अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे । ऋ. १०।७१।८॥

(सखायः) समान योग्यता वाले (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवित् पुरुष (यत्) जब (हृदा तष्टेषु) बुद्धिमानों के हृदय मे विनिश्चित (मनस जवेषु) मनोवेगों मे गुण दोष निरूपण करने के लिये (सं यजन्ते) एकत्रित होते हैं (अत्र) तब इस सभा में (त्वम) अविज्ञानार्थी वेदानभिज्ञ पुरुष को (वि जहु) त्याग देते हे । वे वेदविद्या में अपूर्ण पाए जाते हैं (अह) और (त्वे) कोई (ओह ब्रह्माणः) जिनकी विद्या, बुद्धि और ब्रह्मज्ञान परिपक्व पाए जाते हैं वे वेदवेत्ता (वेद्याभि) वेदितव्य विद्याओं के द्वारा (विचरन्ति) स्वतन्त्रतया प्रजाओं मे विद्याविचार के लिये विचरण करते हैं (उ) यह बात प्रसिद्ध ।

आशय--विद्वान् ब्राह्मणों को उचित है कि वे सभा करके विद्या की परीक्षा करें। जो परीक्षोत्तीर्ण हों वे ही प्रजाओं मे उपदेश करने के लिये योग्य समझे जांय और जो पदार्थ तत्त्ववित् नही और आचार मे भी हीन हों, वे उपदेशार्थ कहीं न भेजे जाय। ऐसी सुव्यवस्था होने से ही समाज का मंगल और विद्यादि की वृद्धि होती रहती है। अन्यथा विपरीत ज्ञान फैलकर बहुत हानि पहुंचती है और अविद्या के विस्तार से ब्राह्मणसमूह की भी अवनति होती है।

अनु०– जब अनेक ब्राह्मण एकत्र होकर मन का भाव हृदय में आलोचनापूर्वक अवधारित करने को प्रवृत्त होते है तब किसी किसी अनभिज्ञ को त्याग देते और कोई कोई ब्रह्मवित् पुरुष निर्भ्रान्त हो कर सर्वत्र विचरण करते हैं।

अज्ञानी कौन ?

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुते-
करासः । न एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं
तन्वते अप्रजज्ञयः । ऋ. १०।७१।९॥

(इमे ये) ये जो अविद्वान् (अर्वाङ्) अर्वाचीन अधोभावी इस लोक में (न चरन्ति) सत्पुरुषों के साथ नहीं रहते और न लौकिक शुभ कर्म करते हैं (परः न) और न अन्यान्य विद्वानों के साथ सत्सङ्ग ही करते और न पारलौकिक कर्म में ही प्रवृत्त होते हैं। (न ब्राह्मणासः) जो वेदार्थतत्पर ब्राह्मण भी नहीं (न सुतेकरासः) और न यज्ञादि कराने के योग्य ऋत्विक् होते हैं, (ते एते) वे (अप्रजज्ञयः) अविद्वान् मनुष्य (वाचम्) वाणी को (अभिपद्य) शिक्षा प्राप्त करके भी (पापया) असत्यादियुक्त वाणी से युक्त हो (सिरी) हल धारी बनते अथवा (तन्त्रं तन्वते) तन्तुवाय का कार्य करने योग्य होते हैं। अतः सत्कर्म कर्तव्य है।

अनु- जो जन ऐहलौकिक और पारलौकिक चिन्ता नहीं करते न वेदादि सच्छास्त्र पढ़कर विद्वान् और ऋत्विक बनते हैं। वे असत्यादि वाणी से और छल कपटादि कुत्सित आचरण से युक्त हो निर्बोध पुरुष को बहकाते और स्वयं बहकते रहते हैं एवं हल चला कर अथवा वस्त्र बुनकर किसी प्रकार जीवन यात्रा करते हैं। अतः उन्नति के अभिलाषी जन मांगलिक कर्मों को करते, वेदादि शास्त्रों को पढ़ते और सत्यादि का उपदेश देते हुए इस लोक में दिन बितावें।

विद्वान् मित्र से लाभ ।

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या
सखायः । किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो
भवति वाजिनाय ॥ ऋ. १०।७१।१०॥

(सर्वे सखायः) उसके सकलमित्रगण (सख्या) अपने उस मित्र से (नन्दन्ति) बहुत प्रसन्न होते हैं (सभासाहेन) जो सभा में विजयी होता है और (यशसा गतेन) विजय के कारण यश के साथ प्राप्त होता है, ऐसे विजयी और यशस्वी मित्र से बहुत प्रसन्न होते हैं क्यों कि वह (किल्बिषस्पृत्) अपने

समाज के पापोंको दूर करता है (पितुषणिः) अपने मित्रों को धन देकर सहायता करता है और (वाजिनाय) सांसारिक व्यवहार में (एषाम्) इन मित्रों का (अरम्) अतिशय (हितः भवति) हितकारी होता है।

अथवा-(सर्वे सखाय:) ये सब वेद मित्र (सभासाहेन) सभादि में सम्मान प्राप्त कराने वाले (यशसा गतेन) यश प्रायक (सख्या) वेदरूपी मित्र से (नन्दन्ति) प्रसन्न होते हैं। क्योंकि यह (किल्विषस्पृत्) पाप नाशक (पितुषणिः) भोग्यपदार्थ प्रदायक (एषां) इन वेदज्ञ विद्वानों के (वाजिनाय) व्यवहार में (अरं हितः भवति) पर्याप्त हितकारी होता है।

आशय--मनुष्यको उचित है कि वह वेदरूपी सद्विद्या प्राप्तकर यशस्वी हो और सदैव अपने समाज की ओर अपने मित्रगणों की सहायता किया करें, जिससे कल्याण हो।

अनु०--वह मित्र समान कार्य करता, वह सभामें प्रधान्य प्रदान करता उससे यश मिलता, उस यशके प्राप्त होनेपर सकल आह्लादित होते, क्योंकि यशके द्वारा दुर्नाम दूर होता, अन्नलाभ होता, बलभी प्राप्त हो जाता, नाना प्रकार से उपकृत होना है।

चार वेद

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति
शक्करीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां
वि मिमीत उ त्वः॥ ऋ. १०।७१।११॥

(त्वः) एक (पुपुष्वान्) अध्ययनाध्यापनद्वारा पुष्टि करता हुआ (ऋचां पोषं आस्ते) ऋचाओं की पुष्टि करता है, इस से ऋग्वेद और होता की ओर संकेत है। (त्व) एक (शक्करीषु) शाक्वर सामों में (गायत्रं) गायत्र्यादि छन्दों को गाता है, इस से सामवेद तथा उद्गाता का कथन है। (त्वः ब्रह्मा) एक ब्रह्मा (जात विद्या) संशयावस्था में कर्तव्य विद्या का (वदति) उपदेश करता है। इस से अथर्ववेद तथा ब्रह्मा का ग्रहण है। (उ) और (त्व) एक (यज्ञस्य मात्रां) यज्ञ के परिमाण का (विमिमीत) विशेष मापन करता है। इससे यजुर्वेद तथा अध्वर्यु का बोध कराया है।

इस मन्त्र में प्रत्येक वेद का विषय तथा उन से कर्म्म कराने वाले ऋत्विजों का निर्देश कर दिया गया है।

———

प्रक्षेपादि रहित वेद।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ अ. १०।८।३२॥

मनुष्य (अन्ति सन्तं) पास रहने वाले परमात्मा को (न पश्यति) नहीं देखता, और (अन्ति सन्तं) पास रहने वाले परमेश्वर को (न जहाति) छोड़ता भी नहीं, उस (देवस्य काव्यं) ईश्वर का यह काव्य (पश्य) देख, जो (न ममार) न मरता है, और (न जीर्यति) न ही जीर्ण होता है।

परमात्मा इतना पास है, इतना अपने समीप है कि मनुष्य उस को देख नहीं सकता, परन्तु यद्यपि उसे देख नहीं सकता तथापि उस को छोड़ भी नहीं सकता क्योंकि उसके सर्व व्यापक होने से उसको छोड़ना, उससे अलग होना उस का त्याग करना अशक्य है। इस लिये, हे उन्नति शील मनुष्य ! उस ईश्वर का यह काव्य देख, इसका मनन कर और इससे अपने उद्धार का बोध प्राप्त कर। यह काव्य न कभी मरा है और न कभी मरेगा। तथा यह काव्य कभी जीर्ण अथवा क्षीण भी नहीं होगा अर्थात् वेद में परिवर्तन तथा उस का लोप नहीं हो सकता। यह सदैव तरुण अर्थात् युवा अवस्था में रहता है। अर्थात् यह [illegible] नवीन रहता है कभी पुराना नहीं होता।

वेदप्रचार की आज्ञा।

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो अश्नवत्। ऋ. १।४०।६॥

(देवाः) हे भद्र पुरुषो ! (विदथेषु) यज्ञादिक सकल शुभ कर्मों में (तम्+इत्) उसी (शम्भुवम्) सुखकारी (अनेहसम्) दोषरहित (मंत्रम्) वेद विहित माननीय मन्त्र को (वोचेम) कहें-कहावें, सुनें-सुनावें। (नरः) हे मनुष्यो ! (इमां च वाचम्) इस ईश्वरीय कल्याणी वाणी की (प्रति हर्यथ)

यदि आप सदैव कामना करोगे, तो (विश्वा इत्) सब ही (वामा) वननीय, माननीय वाणी (वः) आप लोगों को (अश्नवत्) प्राप्त होगी ।

आशय—हे मनुष्यो ! यदि आप अपना कल्याण चाहते हैं, तो सकल शुभ कर्मों में वैदिक मन्त्रों का शुद्ध और पवित्र उच्चारण करें, और सर्वत्र इसका प्रचार कर यशोभागी बनें । वेद के विस्तार से ही आप को शुद्ध और सत्ययुक्त वाणी प्राप्त होगी, क्योंकि वेद सर्वदा मिथ्या भाषण और मिथ्या चिन्तन से अपने उपासक को रोकते रहते हैं, जो मिथ्या भाषण और छल कपटादि से युक्त और ईश्वरविमुख हैं, वे ही वेद में राक्षस शब्द से पुकारे गये हैं, और वे वेदानुकूल दण्डनीय समझे जाते हैं ।

अनु०—हे भद्र पुरुषो ! यज्ञादि कर्मों में सुखकारी और दोष रहित मन्त्रों को हम सब बोला करें । हे नरो ! हम इस वेद वाणी के इच्छुक हों जिस से समस्त वाणी और ऐश्वर्य हम को प्राप्त हों ।

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा
ओकांसि चक्रिरे । ऋ. १।४०।५॥

(ब्रह्मणस्पतिः) वेदवित् पुरुष (नूनम्) अवश्यमेव (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय वक्तव्य (मन्त्रम्) मंत्र को (प्र वदति) अच्छे प्रकार व्याख्यान कर प्रजाओं में प्रकाशित करे (यस्मिन्) जिस मन्त्र के अनुसार (इन्द्र) परमात्मा जीवात्मा (वरुणः) राजा (मित्र) ब्राह्मण (अर्यमा) वैश्यवर (देवा) और विद्वद्गण (ओकांसि) स्थान (चक्रिरे) बनाते हैं ।

आशय—ब्रह्म=वेद । पति=पालक, ज्ञाता । उक्थ्य=वक्तव्य, भाषण योग्य । इस में सन्देह नहीं कि पवित्र मंत्र के श्रवण और ज्ञान से प्रायः सब ही प्रसन्न होते हैं । विशेष कर इस जीवात्मा को इस से अधिक लाभ पहुंचता है, क्योंकि इसी के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से आत्मा अपवर्ग प्राप्त करता है और परमात्मा मंत्र के प्रकाश से इस कारण सुप्रसन्न होता है कि यह उस का दिया हुआ है । लोगों को अपनी आज्ञानुसार चलते हुए देख आह्लादित होता है । अतः सब को उचित है कि वेद विद्या का प्रचार करें ।

अनु०—वेदवित् पुरुष अवश्यमेव प्रशंसनीय मन्त्र को कहा करें । जिस मन्त्र के आधीन परमात्मा, जीवात्मा, राजा, ब्राह्मण, वैश्य अन्यान्य विद्वान आश्रय बनाते हैं ।

नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः ।

नृभिः सुवीर उच्यसे ॥ ऋ. ६।४५।६॥

तू (द्विष) शत्रुओं को (इत् उ अति नयसि) निश्चय से हम से दूर ले जाता है और उन सबको (उक्थ-शंसिनः कृणोषि) वेदभक्त बनाता है, इसलिये (नृभिः) सब मनुष्य तुझे (सुवीरः) उत्तम वीर (उच्यसे) कहते हैं।

उत्तम वीर वह है, कि जो शत्रुओं को दूर भगाता है, और उन को कुमार्ग से हटाकर वेदमार्ग पर लाता है। और इस प्रकार सबकी प्रशंसा अपनी ओर खींचता है। सबको उचित है, कि वे ऐसे उत्तम वीरों की ही प्रशंसा करें और भीरु जनों की कदापि प्रशंसा न करें।

प्रार्थना

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधा इव

ग्मन्। गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रति-

शिक्षन्त्यन्नैः ॥ ऋ. १०।२९।५॥

(जनिधा इव) जन्म देनेवाली स्त्रियां जिस प्रकार अपने पुत्रोंको प्रेरणा देती हैं, तथा (सूरः न) विद्वान् जिस प्रकार अपने शिष्यों को प्रेरणा देते हैं, उस प्रकार (पारं) आपत्ति के पार होनेके लिये और (अर्थं) पुरुषार्थ करने के लिये उन लोगों को (प्रेरय) प्रेरणा करो कि (ये) जो लोग (अस्य कामं) इस ईश्वर की इच्छा के अनुसार (ग्मन्) चलते हैं अर्थात् आचरण करते हैं। हे (तुविजात नर इन्द्र) बलवान, अग्रणी प्रभु! (ये) जो लोग (अन्नैः) अन्नों के द्वारा लोगों का साहाय्य करते हैं, तथा जो (ते पूर्वीः गिरः) तेरा पूर्ण अथवा प्राचीन उपदेश वेद हरएक को (प्रति शिक्षन्ति) सिखाते हैं। उन को भी योग्य प्रेरणा करो।

(१) स्त्रियां अपने बालबच्चों को उत्तम संस्कार करके शुभ भावनायुक्त बनायें, (२) पिता और गुरु जन अपनी सुयोग्य शिक्षा से शिष्यों की उन्नति करें, (३) तथा ज्ञानी विद्वान् नेताजन साधारण लोगों को सुशिक्षाके प्रचार द्वारा उत्तम संस्कार संपन्न बनावें। इस प्रकार सुशिक्षा के प्रचार द्वारा जनता

को उन्नत करके उत्तम पुरुषार्थों के द्वारा सब आपत्तियों के पार होकर उत्तम भोग तथा श्रेष्ठ आनन्द के भागी बनें।

इदं नमो वृषभाय स्वराजे सत्यशुष्माय तवसेऽ-
वाचि। अस्मिन्निन्द्र वृजने सर्ववीराः स्मत्सूरि
भिस्तव शर्मन्त्स्याम ॥ ऋ. १।५१।१५॥

(वृषभाय) बलवान्, (स्व-राजे) स्वकीय तेजयुक्त (सत्य शुष्माय) जिसका बल सच्चा है ऐसे (तवसे) अति महान् एक प्रभु के लिये (इदं नम अवाचि) यह नमस्कार कहता हूं। हे (इन्द्र) प्रभो! (अस्मिन् वृजने) इस दुःखमय संसार में (सर्व वीराः) हम सब वीर (सूरिभिः) ज्ञानियों के साथ (तव) तेरे (शर्मन् स्याम) सुखपूर्ण संरक्षण में रहें।

परमेश्वर सब से श्रेष्ठ, शक्तिमान्, तेजस्वी, और प्रभावयुक्त है, इसलिये उसको नमस्कार करते हैं। क्यों कि इस जीवनकलह में हम सब वीर उसी की सुखमयी रक्षा में रहकर विजय प्राप्त करेंगे।

यः शूरेभिर्हव्यो यश्च भीरुभिर्यो धावद्भिर्हूयते यश्च
जिग्युभिः। इन्द्रं यं विश्वा भुवनाभि संदधुर्मरुत्वन्तं
सख्याय हवामहे ॥ ऋ. १।१०१।६॥

(यः) जो (शूरेभिः) शूर वीरों से, (भीरुभि) भीतिग्रस्त मनुष्यों से (धावद्भिः) हमला करने वालों से, (जिग्युभिः) विजयी वीरों से (हव्य.) प्रार्थना करने योग्य है, (यं) जिस (इन्द्रं) प्रभु के साथ सम्पूर्ण भुवन (अभि संदधुः) संबन्धित हैं, उस (मरुत्वंत) शक्ति से युक्त प्रभु की (सख्याय) मित्रता के लिये हम (हवामहे) प्रार्थना करते हैं।

ईश्वर सब का उपास्य है। शूर, भीरु, तथा अन्य सब उसकी प्रार्थना करें क्योंकि सब जगत् उसके आधार से रहता है इसलिये वही सब का योग्य रक्षक है। जो उससे मित्रता करता है उसकी वह रक्षा करता है।

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन् गावो
न यवसे विवक्षसे ॥ ऋ. १०।२५।१॥

हे ईश्वर (नः) हम सब को (भद्रं मन) कल्याण कारक मन (भद्रं दक्षं) कल्याणकारक बल (उत) और (भद्रं क्रतुं) कल्याणकारक कर्म (अपि वातय) प्राप्त कराओ। (अध-अथ) पश्चात (ते सख्ये) तेरी मित्रता में और

(अन्धस=अन्+धस) प्राणशक्ति के (मदे) हर्ष में हम सब (वः) आपका (विरप्शन्) विशेष प्रकार गायन करते रहें। (न गावः) जिस प्रकार गौवें (विवक्षसे यवसे) बड़े घास के खेत में आनन्द करती हैं। उस प्रकार हम आनन्द से रहें।

अपना मन शुभ संस्कारों से युक्त करना चाहिये। अपनी शक्ति शुभ प्रयत्नों में अर्पण करनी चाहिये और मन तथा बल से शुभ पुरुषार्थ करने चाहियें। इन तीन केन्द्रों की पवित्रता होने से मनुष्य शुद्ध पवित्र और श्रेष्ठ होता है। जो मनुष्य इस प्रकार पवित्र होता है उस को इस संपूर्ण विश्वमें दुःख और कष्ट देने वाला कोई नहीं होता। क्योंकि परमात्मा का आनन्द उस को सर्वत्र प्रत्यक्ष होता है।

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं
भरे। अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु
शवसे अपावृतम् ॥ ऋ. १।५७।१॥

(मंहिष्ठाय) अत्यंत दानशूर (बृहते) बड़े (बृहद्रये) अनंत धनवाले (सत्यशुष्माय) सत्य बलसे युक्त (तवसे) महाशक्तिशाली प्रभुके लिये (मतिं-प्रभरे) मैं अपनी बुद्धि अर्पण करता हूं। (प्रवणे अपां इव) निम्न प्रदेशमें जैसा जल जाता है उस प्रकार (यस्य) जिसका (दुर्धरं राधः) अप्रतिबंधित दान (विश्वायु) सब मनुष्यों को (शवसे) बलवृद्धिके लिये (अपावृतम्) खुला हुआ है।

परमेश्वर अत्यन्त दानशूर है क्योंकि उसने यह सब जगत् हमें दिया है, वही सबसे धनी और बलिष्ठ हैं। उसके उपकार हमपर असंख्यात आरहे हैं। हमारे लिये उसका खजाना खुला है। इसलिये हम अपनी बुद्धि उसके पास लगाते हैं।

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि
प्रभूवसो। नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणी-
रिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥ ऋ. १।५७।४॥

हे (पुरुष्टुत) बहुतों द्वारा प्रशंसित ! हे (प्रभूवसो इन्द्र) बहु धनसे युक्त प्रभो ! (इमे वयं) ये हम (त्वा आरभ्य) तेरा आश्रय करके (चरामसि) चलते हैं। अथवा (त्वा-चरामसि) प्रत्येक कार्य्य में तेरा नाम लेकर कार्य्य का आरम्भ करते हैं। (त्वात् अन्यः) तेरे भिन्न कोई भी (गिर्वणः गिरः) उपासकके शब्द (न हि सघत्) नहीं सुनता है। इसलिये (क्षोणी इव) पृथ्वीके समान हमारे (तद् वचः) भाषण (प्रति हर्य) श्रवण कर।

परमेश्वर की सब प्रशंसा करते हैं और सब लोग उसीकी उपासना करते हैं। क्योंकि उससे भिन्न कोई भी भक्त की प्रार्थना सुनता नहीं इस कारण सब लोग उसी को अपना केन्द्र मानकर अपना मनोगत भाव उसी को कहें। हृदय से की हुई प्रार्थना को प्रभु अवश्य सुनता है।

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं
नः स्वदतु ॥ य. ३०।१॥

हे (सवितः देव) उत्पादक ईश्वर! (भगाय) ऐश्वर्यके लिये (यज्ञं) सत्कर्मकी (प्रसुव) प्रेरणा कर तथा (यज्ञ-पतिं) यज्ञ के पालकको (प्रसुव) प्रेरणा कर। (दिव्यः) दैवी गुणोंसे युक्त (गन्धर्वः) वाणी का पोषक और (केतपूः) ज्ञानसे पवित्र करनेवाला (नः) हम सब के (केतं) ज्ञानको (पुनातु) पवित्र करे। तथा (वाचस्पतिः) वाणीका स्वामी (नः वाचं) हम सबकी वाणी को (स्वदतु-स्वादयतु) स्वाद से युक्त अर्थात् मीठी बनावे।

परमेश्वर सबको सत्कर्म करनेकी तथा सत्कर्मका संरक्षण करनेकी बुद्धि देवे। अपने उत्तम ज्ञानसे पवित्रता करनेवाला ज्ञानी हम सबके ज्ञानको पवित्र करे। तथा उत्तम वक्ता हम सबकी वाणीको मधुर बनावे। जिससे हम सबकी उन्नति हो सके।

मेधा बुद्धिकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषᳪस्वाहा ॥ य. ३२।१३॥

(इन्द्रस्य प्रियं) जीवात्माके प्रियमित्र, (काम्यं) कमनीय प्राप्तव्य, और (अद्भुतं) विलक्षण (सदसः पतिं) विश्वके स्वामीके पास (सनिं) योग्य उपभोगकी और (मेधां) उत्तम बुद्धिकी (अयासिषम्) याचना करता हूं। (स्वाऽऽहा) स्वार्थत्याग करता हूं।

सबको प्राप्त करने योग्य, अद्भुत और जीवात्माके प्रियमित्र जगदीश्वरके पास हम सबकी प्रार्थना है कि हम सबको योग्य उपभोगके पदार्थ और उत्तम बुद्धि देवे। इसके लिये मैं स्वार्थत्याग करता हूं।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ य. ३२।१४॥

(देवगणा) विद्वानोंके समूह और (पितर) रक्षकोंके समूह (यां मेधां) जिस उत्तम बुद्धिका (उपासते) सेवन करते हैं। हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर! (तया मेधया) उस बुद्धिसे (अद्य मा) आज मुझे (मेधाविनं) बुद्धिमान् (कुरु) करो। (स्वाऽऽहा) मैं स्वार्थत्याग करता हूं।

हे ईश्वर! ज्ञानी और रक्षक जिस प्रकारकी बुद्धि चाहते हैं। उस प्रकारकी बुद्धिसे मुझे युक्त करो। मैं इस सिद्धिके लिये स्वार्थत्याग करता हूं।

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे
स्वाहा ॥ य. ३२।१५॥

(वरुण.) श्रेष्ठ ईश्वर (मे मेधां) मुझे उत्तम बुद्धि (ददातु) देवे। (प्रजापतिः अग्निः) प्रजापालक तेजस्वी ईश्वर मेधा ददातु) मुझे उत्तम बुद्धि देवे। (च च) और (इन्द्र वायु.) परम ऐश्वर्यवान और गति देनेवाला ईश्वर (मे मेधां) मुझे उत्तम बुद्धि (ददातु) प्रदान करे। (धाता मेधा) सकल संसार का धारण करने वाला प्रभु मुझे धारणावती बुद्धि देवे। (स्वाऽऽहा) अपने सर्वस्वका अर्पण करता हूं।

सबसे श्रेष्ठ, प्रजापालक, तेजस्वी ऐश्वर्यवान, प्रेरक और सबका आधार ईश्वर मुझे उत्तम बुद्धि प्रदान करे। मैं आत्मसर्वस्वका अर्पण करता हूं।

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते
स्वाहा ॥ य. ३२। १६ ॥

(मे इदं ब्रह्म) मेरा यह ज्ञानतेज (च मे इदं क्षत्र) और मेरा यह क्षात्रतेज (च उभे) ये दोनों (श्रियं) शोभाको (अश्नुतां) प्राप्त हों। (देवाः) विद्वान् अथवा दिव्यगुण (मयि) मुझमें (उत्तमां श्रिय) उत्तम शोभाको (दधतु) धारण करें। (तस्यै ते) उस तेरे लिये (स्वाऽऽहा) स्वार्थत्याग करता हूं।

ब्राह्मण और क्षत्रिय, ज्ञान और शौर्य, मिलकर उत्तम तेजस्विताकी प्राप्ति करें। सब उत्तम विद्वान् और सब उत्तम सद्गुण मुझमें तेजकी स्थापना करें। उस तेजकी प्राप्तिके लिये मैं स्वार्थत्याग करूँ।

आत्मिक शक्तिकी प्राप्ति ।

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥१॥
सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥२॥
बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥३॥
आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥४॥
श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥५॥
चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥६॥
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥७॥ अ. २।१७॥

हे (परमात्मन्) तू (ओज) शारीरिक सामर्थ्य, (सहः) पराक्रम, (बलं) बल, (आयु) आयु, (श्रोत्रं) श्रवणशक्ति, और (परिपाणं) स्वसंरक्षण, आदि शक्तियोंसे युक्त है, इसलिये मुझे उक्त शक्तियां दे। मैं (स्व-आ-हा) स्वकीय शक्तियोंको सबकी भलाईके लिये समर्पण करता हूं।

उक्त शक्तियां पूर्णरूपसे परमात्मामें हैं और अंशरूपसे आत्मामें हैं, इन शक्तियोंका विकास करनेसे मनुष्यका स्वत्व सुरक्षित होता है। इस मंत्रमें श्रोत्र और चक्षु शब्द अन्य इन्द्रियशक्तियोंका उपलक्षण हैं। संपूर्ण अन्य शक्तियां यहां अपेक्षित हैं।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि॥
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि॥
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥
य. १९।९॥

हे परमात्मन्! तू तेजस्वी है, मुझमें तेज स्थापन कर, तू वीर्यवान् है मुझमें वीर्य स्थापन कर, तू बलवान् है, मुझमें बल स्थापन कर, तू समर्थ है मुझमें सामर्थ्य स्थापन कर, तू उत्साहमय है मुझमें उत्साह स्थापन कर, तू सहनशक्तिसे युक्त है मुझमें श्रम सहन करनेकी शक्ति स्थापित कर। यह वैदिक प्रार्थना है।

वाचस्पतिसूक्त

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥१॥ अ. १।१॥

(ये) जो (त्रि-सप्ताः) तीन गुणा सात तत्व (विश्वा रूपाणि) संपूर्ण रूपों को (बिभ्रत) धारण करते हुए (परियन्ति) सब ओर फैल रहे हैं, (तेषां तन्वः) उनके शरीरोंके (बला) बल (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (वाचः पतिः) वाणी का स्वामी (दधातु) दान करे।

सब जगत् के पदार्थ 'तीन गुणा सात' अर्थात् इक्कीस तत्त्वोंमें बने हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र अहंकार इन सात पदार्थोंमें सत्वरज-तम के कारण, प्रत्येक के तीन तीन भेद होकर इक्कीस पदार्थ होते हैं। हरएक पदार्थमें न्यूनाधिक मिश्रणसे जगत्के संपूर्ण पदार्थ बनते हैं। हरएक पदार्थमें न्यूनाधिक परिमाणसे ये इक्कीस पदार्थ हैं। हमारे आत्माके लिये यह नरदेह प्राप्त हुआ है, इसमें भी ये इक्कीस तत्व न्यूनाधिक परिमाणसे हैं। इनके बलसे ही शरीरमें बलकी स्थिति होती है। इस लिये मंत्रमें कहा है कि इन इक्कीस तत्त्वोंके अन्दर जो बल है उन बलोंका निवास आज ही मेरे शरीरमें हो। अर्थात् बल बढानेका पुरुषार्थ कोई मनुष्य कल पर न छोडे। आज ही उसका अनुष्ठान करे। बल बढानेका अनुष्ठान करनेवाला विचार करे, कि अपने अन्दर किस तत्वकी कमज़ोरी है। इसका ठीक विचार होनेपर उस बलकी वृद्धि करके उस न्यूनताकी पूर्ति करे। इस प्रकार अपने अन्दर संपूर्ण बलोंकी परिपूर्णता करे। और किसी प्रकारकी न्यूनता न रखे।

"वाणीका पति" आत्मा है। क्यों कि वही वाणीका प्रेरक है। वही पूर्वोक्त बल अपनी इच्छाशक्तिसे अपने शरीरमें रखे। आत्माकी प्रबल इच्छाशक्तिसे ही बलकी वृद्धि संभवनीय है।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥ अ. १।१॥

हे (वाचः पते) वाणीके स्वामी! (देवेन मनसा सह) दिव्य शक्तिसे परिपूर्ण मनके साथ (पुनः एहि) वारंवार आ। हे (वसोः पते) सुखके स्वामी! (निरमय) निरन्तर आनंद दो और (मयि) मेरा (श्रुतं) ज्ञान (मयि एव अस्तु) मेरे अन्दर रहे।

मन दैवी शक्तिसे युक्त होता है और कभी कभी राक्षसी शक्तिसे अथवा आसुरी शक्तिसे भी युक्त बनता है। इसलिये मनको आसुरी राक्षसी वृत्तियोंसे दूर कर दैवी भावनाओंसे ही परिपूर्ण बनाना आवश्यक है। क्योंकि दैवी भावनाओंसे युक्त मन उन्नतिका साधक है और हीनवृत्ति वाला

मन बाधक होता है। वाणीका प्रेरक आत्मा पुन पुनः मनके अन्दर दैवी भावनाकी स्थापना करे, क्योंकि एक बार दैवी भावनासे स्फुरित हुआ हुआ मन थोड़े कालके पश्चात् राक्षसी विचारसे युक्त बन सकता है, इसलिये जागरुकताके साथ मनमे बारंबार दैवी भाव स्थापित करनेका यत्न करना चाहिए।

'वसु" का अर्थ है "मंगल, शुभ, श्रेय, कल्याण, सुख, धन" इसका स्वामी आत्मा है। इस लिये वह जहां आत्मिक बल रखता है वहां शुभ मंगल बना देता है। दिव्य भावनाओंसे परिशुद्ध बना हुआ मन आत्मिक बलसे युक्त होनेपर आनन्दरससे परिपूर्ण बनता है।

यह सब बननेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है। ज्ञानके विना पूर्वोक्त सिद्धि नहीं होगी। इसलिये अपने अन्दर ज्ञानकी वृद्धि करनेका यत्न करना हरएक को अत्यावश्यक है। (१) ज्ञानकी वृद्धि होनेसे मन दैवी भावनाओंसे शुद्ध बनता है, (२) शुद्ध मनमें आत्मिक बल बसता है, (३) और जहां दिव्य मन और आत्मिक बल है, वहां आनंद रहनेमें शंका ही क्या हो सकती है?

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥ अ. १।१

(ज्यया आर्त्नी इव) डोरीसे धनुष्यके दोनों नोंक जैसे बांधे जाते हैं, उस प्रकार (इह एव) यहां ही (उभे) दोनोंको (अभि वितनु) हमारे चारों ओर फैलाओ। (वाचस्पतिः) वाणीका पति (नियच्छतु) नियममें रखे। (मयि श्रुतम्) मेरा ज्ञान (मयि एव अस्तु) मुझमें रहे।

जैसे डोरीसे धनुष्यके दोनों नोंक बांधे जाते हैं, इसी प्रकार दैवी शक्तिसे परिपूर्ण अपने मनसे ज्ञान और कर्म इन दोनोंको बांध कर रखना चाहिये। वाणीका पति आत्मा इस नियमको मनमें रखे अर्थात् वह अपने शुद्ध मनसे ज्ञान और कर्मको बांध कर रखे और उनके द्वारा अपनी सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध करे। इन सब की सिद्धि के लिये अपने अन्दर ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये।

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥४॥ अ. १।१

(वाचः पतिः) वाणीका पति आत्मा (उपहूतः) हमने बुलाया है, वह (वाचस्पतिः) वाणीकापति (अस्मान्) हमको (उप ह्वयताम्) बुलावे

(श्रुतेन) ज्ञानसे (संगमेमहि) हम संयुक्त रहें, (श्रुतेन) ज्ञानसे (मा विराधिषि) मैं अलग न होऊं।

आत्मासे बलकी प्रार्थना करनेपर वह आत्मा बल देता है। इस प्रकार आत्मिक बलकी प्राप्ति करनेके लिये हम सबको उचित है, कि हम अधिकसे अधिक ज्ञान प्राप्त करें और कदापि विरोध न करें।

अनपराधी होकर हम सेवा करें।

अरं दासो न मीह्ळुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽ-
नागाः। अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवि-
तरो जुनाति। ऋ. ७।८६।७॥

(अरं दास न) जैसे दास अपने स्वामीकी सेवा निष्कपट भावसे करता है, तद्वत् (मीढुषे) निखिल कामनाओंको वर्षानेवाले (भूर्णये) जगत्के पोषक (देवाय) देवकी सेवा (अहम्) मैं (अनागा) अपराधरहित होकर (अरं कराणि) सदैव करता हूं। (अर्य) सर्व स्वामी (देव) वह परमदेव ईश्वर (अचित.) हम अज्ञानी जनोंका (अचेतयत्) चेताया करे। समय समयपर वह परमेश्वर हम अज्ञानियों को प्रेरणा किया करे। (कवितर) वह सर्वज्ञतम देव (गृत्सम्) भक्त जनोंको (राये) शुभ धनकी ओर (जुनाति) ले जाय!

अनु०—दासवत् मैं अपराधरहित होकर उसकी सर्वदैव सेवा करूं। जो देव समस्त कामनाओंका पूरक और जगत्का भरण कर्ता है, वही सर्वस्वामी देव अज्ञानीको चेतावे और वह सर्वज्ञ ईश्वर स्तोताको शुभ धनकी ओर ले जाय।

इष्टदर्शनार्थ औत्सुक्य।

उत स्वया तन्वा३सं वदे तत्कदा न्व१न्तर्वरुणे
भुवानि। किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं
सुमना अभि ख्यम्। ऋ. ७।८६।२॥

भक्तजन परम इष्टको शीघ्र देखनेकी इच्छासे तर्कवितर्क करते हैं। (उत) मुझको सन्देह हो रहा है कि क्या मैं (स्वया तन्वा) स्वकीय शरीरके साथ (संवदे) संवाद कर रहा हूं, यह मुझे विदित नहीं होता, (कदा नु) कब (वरुण) अपने इष्ट देवमें (अन्तः भुवानि) अन्तर्भूत होऊंगा अर्थात् कब मैं परमात्माके ध्यानमें निमग्न हो जाऊं। यह वारंवार मनमें विचारता हूं पर होता नहीं। और भी (किम्) क्या (अहृणानः) क्रोध न करते हुए किन्तु मेरी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर वह देव (मे हव्यम्) मेरी प्रार्थना और आहुतिको (जुषेत) ग्रहण करेंगे? (कदा) कब (सुमनाः) निश्चिन्तमनस्क होकर मैं (मृडीकम्) अपने सुखकारी देवको (अभिख्यम्) देखूंगा।

अनु०—मैं अपने शरीरके साथ संवाद कर रहा हूं। मैं कब वरुण देवमें निमग्न होऊंगा। क्या वरुण देव क्रोधरहित होकर मेरी प्रार्थना सुनेंगे, कब सुमनस्क होकर मैं अपने सुखकारी इष्टको देखूंगा?

परमोदारता।

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते। असिन्वन्दंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनं यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः। ऋ. २।१३।४॥

हे भगवन्! आपकी कृपासे आपके गृहमेधी समस्त भक्तजन (पुष्टिं) आपके दिये हुए पोषक धनको (प्रजाभ्यः) प्रजाओंमें (वि भजन्तः) परस्पर विभाग करते हुए (आसते) अपने अपने गृहमें सुखपूर्वक निवास करते हैं। यहां दृष्टान्त देते हैं (आयते) गृहमें आये हुए अतिथिको (पृष्ठम्) धारक (प्रभवंतम्) और बहुभरणसमर्थ (रयिमिव) धनको जैसे विभाग करके देते हैं तद्वत् सकल प्रजागण परस्पर अपने अपने धनको विभाग कर आनन्दसे निवास करते हैं यह आपकी महती कृपा है। हे भगवन्! (असिन्वन्) प्रत्येक कर्मकारी पुत्र (पितुः) आपने अपने पिताके गृहमें (दंष्ट्रैः) दांतोंसे (भोजनं अत्ति) भोजन करते हैं (यः) जिस आपने (ता) उन सुखकारी कर्मोंको (अकृणोः) विधान किया है (सः) वह आप (प्रथमम्) प्रथम (उक्थ्य असि) पूज्य हैं।

आशय—इस मंत्रसे भगवान् शिक्षा देते हैं कि प्रत्येक ग्राम और

नगरादिमें प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह जहां तक हो घर घरमें जाकर कुशलादि वार्ता पूछे और यदि किसी घरमें अन्नकी त्रुटि हो तो उसको पूर्ण करे जिससे कोई भूखा न रह जाय। और प्रत्येक मनुष्यको यह भी उचित है कि वह अपने परिश्रमसे उपार्जित धनका भोग कर और पैतृक धनको अच्छी तरहसे अपने काममें लावे, उस धनको व्यर्थ कार्यमें न खर्च करे।

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः। अस्माञ्च तांश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद्वदेम विदथे सुवीराः। ऋ. २।१।१६॥

(ये सूरय) जो मेधावीगण (स्तोतृभ्यः) स्तुतिपाठकों को (अश्वपेशसं) अश्वयुक्त (गो अग्राम्) गौ प्रभृति धन संयुक्त (रातिम्) दान (उपसृजन्ति) देते हैं (तान् च) उनको (अस्मान् च) और हमको (वस्य) श्रेष्ठस्थानकी ओर (आ प्र हि नेषि) ले चलो। आपकी कृपासे हम (सुवीरा) सुवीर हों। और सुवीर पुत्रपौत्रादिसे युक्त होकर (विदथे) यज्ञादि सकल शुभ कर्मोंमें (बृहद्वदेम) बृहत्स्तोत्र कहा करें।

अनु०—हे अग्ने! जो मेधावीगण स्तोतृगण को गौ और अश्वप्रभृति धन प्रदान करते हैं। उनको और हमको श्रेष्ठस्थानमें ले चलिये। हम सुवीर हों और सुवीर पुत्रपौत्रादिसे युक्त होकर यज्ञशालामें बृहत्स्तोत्र कहें।

उभयासो जातवेदः स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि। वस्वो रायः पुरुश्चन्द्रस्य भूयसः प्रजावतः स्वपत्यस्य शग्धि नः॥ ऋ. २।२।१२॥

(जातवेदः) हे सर्वज्ञ 'हे सर्वधनसम्पन्न! (अग्ने) हे महातेजस्वि-न्देव! (स्तोतार) तुम्हारे स्तोतृगण (सूरयः च) और हमारे विवेकी विद्वद्गण (उभयासः) हम दोनों (ते शर्मणि) तुम्हारे मंगल कार्यमें विद्यमान रहा करें। आप (नः) हमको (वस्वः-राय) बसने योग्य धन, (पुरुश्चन्द्रस्य) अतिशय आह्लादक अथवा बहु हिरण्योपेत (भूयसः) बहुत (प्रजावतः) भृत्यादियुक्त (स्वपत्यस्य) शोभन पुत्रयुक्त धन (शग्धि) दीजिये।

अनु०—हे सर्वभूतज्ञ अग्ने! तुम्हारे स्तोता और मेधावी हम दोनों आपके कल्याण में सदा वास करें। आप हमको निवास योग्य अतिशय आह्लादप्रद, प्रभूत भृत्य और पुत्रादिविशिष्ट धन प्रदान कीजिये।

इन्द्रियों की चञ्चलता।

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्। वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये। ऋ. ६।९।६॥

(मे कर्णा वि पतयत) मेरे दोनों कान इधर उधर दूर दूर गिर रहे हैं। (चक्षु वि) मेरे नयन भी इधर उधर दौड़ रहे हैं (हृदय यद् इदम् ज्योतिः) हृदयमें स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है वह भी (विपतयति) दूर भाग रही है। (दूरे आधी मे मनः वि चरति) अति दूरस्थ विषयमें ध्यान लगा कर मेरा यह मन भी दूर दूर विचरण कर रहा है। ऐसी अवस्थामें हे प्रभो! आपसे (किम् स्वित् वक्ष्यामि) क्या मैं कहूं और (किम्+उ+नु मनिष्ये) क्या मनन करूं।

आशय—प्रत्येक मनुष्यका नित्य यह अनुभव है कि कर्ण, चक्षु, मन आदि इन्द्रिय किसी कार्यमें स्थिर नहीं रहते। किंचिन्मात्र ही मौका मिलने पर झटसे इधर-उधर भागने लगते हैं। ऐसी अनवस्थित दशामें मनुष्य सूक्ष्म कार्य कदापि नहीं कर सकता अत यह प्रार्थना है कि हे परमात्मदेव मेरे कर्ण, नयन, हृदयस्थ ज्ञान और यह मन सब ही चारों तरफ भाग रहे हैं। मैं कैसे आपके गुण गाऊं। कैसे मनन करूं। हे भगवन्। आशीर्वाद करो जिससे मेरे सब इन्द्रिय समाहित हों और उनके द्वारा आपकी परम विभूतियां देखूं।

हमारे कर्म ईश्वरके अर्पण हों।

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे। त्वे अपि क्रतुर्मम॥ ऋ. ७।३१।५॥

हे सर्वद्रष्टा परमात्मन्! जिस हेतु आप (अर्यः) सबके शासक स्वामी हैं इस हेतु जो (निदे) निन्दक हैं (वक्तवे च) जो परुष वाक्यों के प्रवक्ता हैं और जो (अराव्णे) धनदान, विद्यादान, अन्नदान इत्यादि दानोंसे रहित उपकारशून्य, कृतघ्न और अपकारी हैं ऐसे ऐसे पुरुषोंके अधीन (नः) हम उपासकोंको (मा रन्धीः) मत कीजियेगा। हे भगवन्! (अपि) और (मम क्रतु) मेरे निखिल यागादि शुभ कर्म (त्वे) केवल आपके निमित्त ही हुआ करें अर्थात् हे स्वामिन् इन्द्र! जो परुष वाक्य बोलते हैं जो निन्दा

करते हैं और जो दान नहीं देते हैं उनके वशीभूत हमको न कीजियेगा। हे भगवन्! हमारे सकल मंगल कर्म आपकी कामना की पूर्तिके लिये ही हों आपकी ही आज्ञाएं पूर्ण हों।

हम मतिहीन न हों।

मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः।
मागोतायै सहसस्पुत्र मा निदेऽप द्वेषांस्या कृधि ॥

ऋ. ३।१६।५॥

(अग्ने) हे तेजोमय देव! (सहसः पुत्र) हे सूर्यादि निखिल तेजोरक्षक जगत्‌विधायक भक्तजनपवित्रकारक भगवन्! (अमतये) शत्रुभूत मतिहीनता के अधीन (मा रीरधः) हम को मत कर (अगोतायै) गवादि पशु सम्पत्ति विहीनता की ओर (मा) हम को न ले जाइए (निदे) निन्दक पुरुषों के वशीभूत (मा) हम को न कीजिये (द्वेषांसि) हमारे प्रति सकल अपराध निमित्तक द्वेषोंको (अपा कृधि) निवारण कीजिये अर्थात् मतिहीनता, अवीरता गवादि पशुहीनता इत्यादि हीनताएं हमें प्राप्त न हों। निन्दक पुरुषों से हम दूर हों और हे भगवन्! यदि हम से कोई अपराध आपके निकट अज्ञान और भ्रमवश हो गया हो तो उस पर आप ध्यान देकर उस से हमारा मुख मोड़ दीजिये।

आशय—मतिहीनता, अवीरता, और गवादि पशुहीनता इत्यादि महापाप हैं। इस लिये यदि हम मनुष्यता को सफल करना चाहें तो हम बुद्धिमान् बनें। सदैव वीर होवें और पश्वादि धन संग्रह करें। हम जगत् में निन्दक, धूर्त, वञ्चक, पिशुन और अपकारी एवंविध न होवें और सदैव अपने पापों और अपराधों को देखते रहें। उन को छोड़ने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञा करें। तब ही ईश्वर के आशीर्वाद हम पर विराजमान होंगे और तब ही हम स्वयं सुखी होकर दूसरों को सुख पहुंचानेमें समर्थ भी होंगे।

"बृहद्वदेम विदथे सुवीराः"

"हम स्वय वीर हों और सुवीर पुत्र पौत्रादिकों से युक्त हों। यज्ञशालामें बैठकर उस परमात्मा का बृहत् यशोगान और कीर्तन सदैव किया करें।"

इस वाक्य के सम्बन्ध में दो चार मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं।

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे
सुवीराः। ऋ. २।११।२१॥

(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा परमात्मन् ! (ते) आपकी (दक्षिणा) जो दक्षिणा अपने स्तुतिपाठकों को देने योग्य (मघोनी) बहु धनधान्य सहित विद्यमान है वह (जरित्रे) स्तुतिपाठक के लिये सम्पादन कीजिये (मा) वैसी दक्षिणा (स्तोतृभ्य) स्तुतिपाठक लोगोंको (शिक्ष) दीजिये किञ्च आप (भग) परम भजनीय हैं (नः) हम लोगों की कामनाओं को (मा धक) अपूर्ण मत करें। हे भगवन् ! आपकी कृपासे (सुवीराः) हम लोग अच्छे वीर होवें और सुवीर पुत्रपौत्रादिक से युक्त होकर (विदथे) इस पवित्र यज्ञशाला में (बृहत्) तुम्हारे परम महान् यशोगान (वदेम) किया करें तुम्हारे उद्देश से ही हमारे सब शुभ कर्म हुआ करें।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि
सत्य। वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा
वदेम। ऋ. २।१२।१५॥

(इन्द्र) हे इन्द्र ! आप (दुध्रः) अत्यन्त अविज्ञेय हैं, तथापि (यः) जो आप (सुन्वते) शुभ कर्म में आसक्त और (पचते) अकिंचन पुरुषों को पका कर देने वाले के लिये (वाजम्) बहुत से अन्न और बल को (आ दर्दर्षि) सदैव दिया करते हैं (स किल) वह आप (सत्यः असि) सत्यस्वरूप हैं। हे इन्द्र ! (ते प्रियासः) तुम्हारे प्रिय हम होवें। (सुवीरासः) और तुम्हारी कृपा से हम अच्छे वीर हों और सुवीर पुत्रपौत्रादिकों से युक्त हों (वयं) हम उपासक गण (विश्वह) सब दिन (विदथम्) पवित्र यज्ञीय स्तोत्र (अविदम) बोला करें।

अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः समर्थयस्व बहु ते
वसव्यम्। इन्द्र यच्चित्रं श्रवस्या अनु द्यून् बृहद्-
वदेम विदथे सुवीराः। ऋ. २।१३।१३॥

(वसो) हे सर्व वासप्रद ! (इन्द्र) हे परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! (अस्मभ्यम्) हम उपासकों को (तत् राधः) वह धन (दानाय) दान और भोग के लिये (समर्थयस्व) दीजिये (यत्) जो धन

(अनु द्यून) प्रतिदिन (अवस्या) भोग के लिये आप दिया करते हैं (ते) आप का धन (बहु) बहुत (वसव्यम्) वास योग्य (विश्वम्) नानाप्रकार का है और आप की कृपा से (सुवीराः) हम सुवीर हों और सुवीर पुत्र-पौत्रादि से युक्त हों (विदथे) पवित्र यज्ञशाला में (बृहत्) बृहत्स्तोत्रादिक और आपका गान (वदेम) किया करें।

पश्चात्ताप

—०—

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो वि-

पृच्छम्। समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं

वरुणो हृणीते। ऋ. ७।८६।३॥

(वरुण) हे हृदयंगम अन्तर्यामिन् देव! (तत् एनः) उस अपराध को (पृच्छे) आप से पूछता हूं जिस से आप मुझ से असन्तुष्ट हो रहे हैं। (दिदृक्षु) मैं आप का दर्शन चाहता हूं। पाप के कारण आप का दर्शन मुझ को नहीं मिलता (विपृच्छम्) अनेक प्रकार से प्रश्न करने को (चिकितुषः) विज्ञानी भक्तों के (उपो एमि) निकट जाता हूं। (कवयः चित्) वे सब महाज्ञानी हैं वे (मे) मुझ से (समानं इत्) समान ही (आहुः) कहते हैं अर्थात् उन सबके कथन में कोई विभेद नहीं होता। वे यह कहते हैं (अयं ह वरुणः) यह वरुण देव ही (तुभ्यं ह) तेरे उपर (हृणीते) क्रुद्ध है। तेरे अपने इष्टदेव ही तुमसे बिगड़े हुए हैं उनको ही प्रसन्न कर। हे देव! मैं नहीं जानता कि मैंने कौनसा पाप किया कि जिससे आप मुझ से असन्तुष्ट हैं। आप से ही दर्शनाभिलाषी होकर मैं पूछता हूं।

हमको ज्योति मिले।

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो

अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि।

ऋ, ७।३२।२६॥

(इन्द्र) हे सर्वद्रष्ट ईश्वर! (नः) हम उपासकों को (क्रतुम्) शुभ कर्मकी, प्रज्ञाकी तथा उद्योगकी ओर (आ भर) ले चल। (यथा) जैसे (पिता) शिक्षक और शुभेच्छु पालक पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये नाना उद्योग रचता और उनको कल्याण मार्ग की ओर ले जाता है। तद्वत (पुरुहूत) हे

बहुपूज्य ! हे बहुतों से आहूत ईश्वर ! (नः शिक्ष) हम को अपना अभिप्रेत वस्तु दीजिये और देखिये आपकी कृपासे (अस्मिन् यामनि) इस जीवन यात्रा में अथवा इस जीवनयज्ञ में (जीवाः) हम जीवगण अथवा सुख से जीते हुए हम (ज्योतिः अशीमहि) आपकी कल्याणी ज्योति प्रतिदिन प्राप्त करें ।

हम सब से उत्तम उपासक हों ।

प्र यद्भंदिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ऋ. १।९७।३॥

हे भगवन् ! आपकी कृपा से (एषाम्) इन मनुष्यों के मध्य में (यद्) जिस प्रकार और जिन उपायों से (प्र भंदिष्ठ) अच्छा उपासक और आप की आज्ञाओं का अनुगामी होऊं (च) और (आस्माकास.) हमारे (सूरयः) विद्वान् पुत्रपौत्रादिक तथा बन्धुबान्धव सब ही (प्र) विशेषरूप से आप के उपासक हों वैसा आशीर्वाद दीजिये । आप की कृपा से (न :घं अप शोशुचत्) हमारा सब पाप विनष्ट हो ।

हम उस के होवें ।

ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह ।

इषं स्वश्च धीमहि । ऋ. ७।६६।९॥

(वरुणदेव) हे अतिशय स्वीकरणीय देव ! (ते स्याम) हम आपके ही होवें । हम आप के ही भक्त पूजक, स्तुतिगायक और मानने हारे होवें (मित्र) हे सर्वमित्र ! केवल हम ही नहीं किन्तु (सूरिभिः सह) विद्वानों और अन्यान्य बान्धवों के साथ हम आप के होवें । जिस से आप की कृपाद्वारा (इषम्) अभिलषित धन (स्वः च) ज्ञान और मोक्षानन्द (धीमहि) प्राप्त करें ।

ईश्वर को मत त्यागें ।

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।

न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥

ऋ. ८।१।५॥

(अद्रिव.) हे अद्रिवन् ! हे विश्वधारक (वज्रिवः) हे वज्रिवन् ! वज्रधारिन् ! हे परमज्ञानिन् देव ! (महे च शुल्काय) महान् मूल्य के लिये भी (त्वाम् न परा देयाम) आप को न बेचूं, (न शताय) न सैकड़ो के बदले (न सहस्राय) न हजार के बदले और (न अयुताय) न दसों हजारों के बदले भी आप को त्यागू। ऐसा सामर्थ्य मुझ मे दो कि आप को कदापि न त्यागूं।

अद्रिव'—अद्रि। ग्रावा। गोत्र आदि नाम मेघ के हैं। निघण्टु १। १० और पर्वतवाची प्रसिद्ध ही है।

यह ब्रह्माण्ड ही पर्वत है। ईश्वर इसका स्वामी है। अत वह "अद्रिवान्" है। न्याय ही इसका वज्र है। वह न्याय इसके हाथ में है। अतः वह "वज्री वा वज्रिवान् है।

शत—यह बहुनाम है। निघण्टु ३। १। व्याकरण और कोश की प्रक्रियाएं विद्वान् स्वयं विचार लें। क्यों कि इस से ग्रन्थविस्तार हो जायगा।

जो कामवश, लोभवश, भयवश, मोहवश होकर ईश्वर को त्यागते हैं वे जगत् में बड़े हानिकारी होते हैं।

अनु०—हे विश्वव्यापक ! हे सर्वज्ञ ! हे सकल धनेन्द्र ईश ! अमूल्य धन के लिये भी आपको न बेचूं।

ईशके निकट प्रतिज्ञा।

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय। स्तोतारमिद्दिधिषेय
रदावसो न पापत्वाय रासीय। ऋ. ७।३२।१८॥

(इन्द्र) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न देव ! (यावत) जितने धन के (त्वम्) आप स्वामी हैं (एतावत्) उतने धन का (यत्) यदि (अहम्) मैं भी (ईशीय) स्वामी होऊं यदि आप की ऐसी कृपा हो तब (रदावसो) हे धनदाता ईश्वर ! (स्तोतारम् इत्) आपके गान करने वाले भक्त जन को ही वह धन (दिधिषेय) दिया करूंगा। हे देव ! किन्तु (पापत्वाय न रासीय) पाप कर्मों के लिये अथवा आप से विमुख नास्तिक पापी जनको वह धन न दूंगा। और न पापकर्मों में उसको खर्च करूंगा। अतः मुझे धन दीजिये।

भगवान् के अनन्त दान ।

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत ।

सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः । ऋ. १।११।८॥

(स्तोमाः) हमारे स्तोत्र, स्तव, प्रार्थना, गीत, गान इत्यादि सकल व्यापार (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्ययुक्त परमात्मा को ही (अभि+अनूषत) सब प्रकार से दिखलानेवाले हों जो इन्द्र (ओजसा) बल और ज्ञान पूर्वक (ईशानम्) इस जगत् का नियामक हो रहा है अर्थात् जो बल पूर्वक इस सकल संसार को अपने नियम में रखकर शासन कर रहा है । (यस्य रातयः) जिसके दान (सहस्रम्) हज़ारों हैं (उत वा) अथवा सहस्र संख्या से भी जिस के (भूयसीः सन्ति) अधिक दान हैं ।

आशय—हे मनुष्यो ! हम और तुम सब मिलकर उसी परमात्मा के यशोगान करें जो इस जगत् का ईश है और जिस के दान हम लोगों को सुख पहुंचाने के लिये अनन्त हैं । देखो इस पृथिवी पर कितने प्रकार के अन्न, फल, कन्द, मूल, वृक्ष, लता, औषधियां विद्यमान हैं । कितने दूध देने वाले पशु, इनके अतिरिक्त नदी, समुद्र, पर्वत, इत्यादि तथा आकाश में सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु, मेघ इत्यादि शतशः पदार्थ हमको सुख दे रहे हैं । अतः वही एक देव उपास्य है ।

सकर्मा ही अन्न पाता ।

तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।

आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्र्वम् ॥

ऋ. ७।३२।२०॥

हे ईश !(तरणिः इत्) स्तुत्यादि कर्मोंमें शीघ्रता करनेवाले निरन्तर सुकर्म सेवी जनही (युजा) सदा सहायक (पुरन्ध्या) महती बुद्धि और क्रियाद्वारा (वाजम्) उत्तमोत्तम धन (सिषासति) प्राप्त करते हैं । (पुरुहूतम्) बहुतों से आहूत (वः इन्द्रम्) आप इन्द्र को (गिरा) स्तुतिद्वारा (आ नमे) नमस्कार करूं अपने ओर करूं । यहां दृष्टान्त देते हैं (तष्टा इव) जैसे वर्द्धकी= बढ़ी, सुहार, (सुद्र्वम्) शोभन दारुयुक्त (नेमिम्) चक्रवलय को नम्र करता है तद्वत् ।

सुखी कीजिये ।

—:o:—

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।

मृळा सुक्षत्र मृळय । ऋ. ७।८९।१॥

(वरुण) हे सर्वपूज्य महेश्वर ! (राजन्) हे परम शोभायमान ! हे जगन्नियन्ता ईश ! आप की कृपा से (अहम्) मैं (मृन्मयम्) मृत्तिकादि निःसार वस्तुओं से निर्मित (गृहम्) गृह को (मो षु गमम्) कदापि प्राप्त न करूं किन्तु सुशोभन सुवर्णमय ही गृह मुझको प्राप्त हो (सुक्षत्र) हे सर्व शक्तिमान् ! (मृड) सुखी कीजिये (मृडय) सुखी कीजिये ।

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः ।

मृळा सुक्षत्र मृळय । ऋ. ७।८९।२॥

(अद्रिवः) हे सर्वायुधसंपन्न ! हे दण्डविधायक देव ! आपका कृपापात्र मैं उपासक (ध्मात) वायुप्रेरित (दृतिः न) मेघ के समान (यत्) जब जब (प्रस्फुरन् इव) आप के भय से कम्पायमान होता हुआ (एमि) आप के निकट पहुंचूं तब तब अवश्यमेव (सुक्षत्र) हे सर्व शक्तिमय ! (मृड मृडय) सुखी कीजिये सुखी कीजिये ।

ईश्वर के निकट भयभीत होकर पहुंचना चाहिये । क्षत्र नाम बलका है । अतः सुक्षत्रका अर्थ सर्वशक्तिमान् है ।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे ।

मृळा सुक्षत्र मृळय । ऋ. ७।८९।३॥

(समह) हे सर्वैश्वर्य पूजित ! (शुचे) हे परमशुद्ध ! हे परमपवित्र ईश ! (दीनता) दीनता और अशक्तता के कारण (क्रत्वः) कर्त्तव्यों से (प्रतीपम्) प्रतिकूल (जगम) सदा चला करता हूं इस में सन्देह नहीं तथापि पिता के निकट पुत्रवत् आपसे निवेदन करता हूं (सुक्षत्र) हे सर्व शक्तिमन् ! (मृड मृडय) मुझ पर दया कीजिये दया कीजिये ।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।

मृळा सुक्षत्र मृळय । ऋ. ७।८९।४॥

(अपा मध्ये) जल के मध्य (तस्थिवांसम्) स्थित भी (जरितारम्) आप के स्तोत्रपाठक जन को (तृष्णा) जलतृष्णा (अविदत्) प्राप्त है हे (सुक्षत्र) सर्वशक्तिमन्! दया कीजिये दया कीजिये।

माधुर्य्य याचन

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। ऋ. १।६०।६॥

(ऋतायते) जिसके सब ही कार्य सत्य युक्त हैं उसको ऋतायन् कहते हैं उस सत्यमय पुरुष के लिये (वाताः) वायुगण (मधु क्षरंति) मधु वर्षण करते हैं। (सिन्धव) समस्त नदियां (मधु) मधु क्षरण करती हैं (नः) हम उपासकों के लिये (ओषधीः) शालि, गेहूं जौ, कोद्रव, श्यामाक मुद्ग इत्यादि सब ही खाद्य पदार्थ (माध्वी) माधुर्योपेत (सन्तु) होवें।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता। ऋ. १।६०।७॥

हमारे लिये (नक्तं मधु) रात्रि मधु हो (उत) और (उषस) प्रातः काल मधु हो (पार्थिवं रजः) पृथिवी सम्बन्धी ग्रामादिक (मधुमत्) माधुर्योपेत हो (नः) हमारे लिये (पिता) वृष्टि प्रदान से सब को पालने हारा (द्यौ मधु अस्तु) द्युलोक मधु हो।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवंतु नः। ऋ. १।६०।८॥

(नः) हमारे लिये (वनस्पतिः) वनस्पति (मधुमान्) माधुर्ययुक्त हो (सूर्य मधुमान् अस्तु) कर्मों में लगाने हारा सूर्य मधुमान् हो (गावः) गौएं (न) हमारे लिये (माध्वीः भवन्तु) मधुरता युक्त हों।

हम सत्य के अधीन होवें।

—o:o—

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः।
ऋ. ७।६६।१३॥

हे मनुष्यो ! जो आप (ऋतावानः) सत्य के ही पक्षपाती (ऋतजाताः) सत्य की रक्षा के लिये ही जिनका जीवन और उद्योग है (ऋतावृधः) सर्वदा सत्य को ही बढ़ाने, स्थापन करने और बचाने में लगे रहते हैं जो (घोरासः) अतिशय घोररूप धारण कर (अनृतद्विषः) असत्य से द्वेष करते और उसके विनाश के लिये अतिशय घोर रूप से प्रयत्न करते हैं अर्थात् जो सर्वदैव और सर्व अवस्थाओं में सत्य के पक्षपाती सत्य के लिये मरने तक तैयार और असत्य के घोर विद्वेषी हैं (तेषां वः) उन आप मनुष्यों को (सुम्नेऽर्दिष्मे) सुखकारी (सुम्ने) शरण में (नरः स्याम) हम सब मनुष्य होवें (ये च सूरयः) और जो विद्वान् हैं वे भी आप की छाया में निवास करें।

पाप विनाश प्रार्थना

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।

अप नः शोशुचदघम्॥ ऋ. १।९७।१॥

(अग्ने) हे ज्योतिर्मय देव ! (नः अघम्) हमारा विनाशकारी महापाप (अपशोशुचत्) स्वयं शोकान्वित होकर विनष्ट हो जाय। हे देव ! (रयिम्) ज्ञानादिक धन (आ शुशुग्धि) सब प्रकार से हम को दीजिये हम जिससे पाप न करें (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारा अघ विनष्ट हो।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।

अप नः शोशुचदघम्॥ ऋ. १।९७।२॥

हे परमात्मन् ! (सुक्षेत्रिया) सुशोभनीय क्षेत्र के लिये (सुगातुया) सुशोभनीय मार्ग के लिये और (वसूया च) सुशोभनीय धन के लिये (यजामहे) हम आप के उद्देश से यज्ञ करते हैं (अप नः शोशुचत् अघम्) हमारा पाप नष्ट होवे।

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।

अप नः शोशुचदघम्॥ ऋ. १।९७।४॥

(अग्ने) हे ज्योतिर्मय महादेव ! यह प्रसिद्ध है कि (यत्) जिस हेतु (ते सूरयः) आप के पूजक और आप के भक्तजन सदैव (प्र) विविध प्रकार

से जगत् प्रसिद्ध होते हैं अतः (ते वयम्) आप के सेवक हम भी (जायेमहि) आप की कृपा से पुत्रपौत्रादि रूप से बहुत होकर विख्यात हों । (अप नः अघं शोशुचत्) हमारा पाप विनष्ट हो ।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप नःशोशुचदघम् ॥ ऋ. १।९७।७॥

(विश्वतोमुख) हे विश्वतोमुख ! हे सर्वद्रष्ट ! हे सर्वशुभाशुभकर्मनिरीक्षक नाथ ! (नावा इव) जैसे नौकाद्वारा लोग नदी पार होते हैं । तद्वत् (नः) हम को (द्विषः) शत्रुओं से (अति पारय) अतिशय पार कर दीजिये । हे नाथ ! शत्रु रहित देश में हमारा वास कीजिये (नः अघं अप शोशुचत्) हमारा पाप नष्ट हो ।

स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ऋ. १।९७।८॥

पूर्वोक्त विषय को दृढता के लिये पुनः कहते हैं । हे नाथ ! (सः) वह सर्वव्यापक सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी आप (सिन्धु इव) जैसे नदी से (नावया) नौका द्वारा पार होता है । तद्वत् (स्वस्तये) कल्याण के लिये (नः) हम लोगों को (अति पर्ष) शत्रुओं से दूर और पार कर पालिये । आपकी कृपासे (नः अघ अप शोशुचत्) हमारा पाप नष्ट हो ।

निष्पाप होने की अभिलाषा ।

न पापासो मनामहे नारायासो न जळ्हवः ।
यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ॥

ऋ. ८।६१।११॥

(पापास:) पापी अर्थात् ब्रह्मचर्य्यादि रहित होकर हम (न मनामहे) उस परमात्मा को नहीं मानते, किन्तु पापरहित और ब्रह्मचर्य्ययुक्त होकर ही उस की उपासना हम करते हैं । (अरायास:) दानादि शुभ कर्मों से शून्य होकर (न) उस की आराधना नहीं करते किन्तु दानादि शुभकर्म करते ही उस की उपासना प्रार्थना करते हैं । (नः जळ्हवः) अग्निहोत्रादि से रहित होकर भी हम उसकी प्रार्थना नहीं करते । (यत् इत्) जिस हेतु (नु) हम

समय (वृषणम्) सकल कामनाओं के वर्षा करने वाले (इन्द्रम्) परमैश्वर्य-युक्त सर्वद्रष्टा परमात्मा को (सुते सचा) यज्ञ कर्म में हम सब सम्मिलित होकर (सख्यायम्) मित्र (कृणवामहै) बनाते हैं।

आशय—जो कोई पापी दानादिरहित और अग्निहोत्रादि कर्मों से शून्य हैं वे कदापि ईश्वर को नहीं जान सकते और नहीं जान सकते हैं। इस लिये यदि उस परमात्मा को अपना मित्र बनाना चाहते हो तो निखिल दुष्कर्मों और व्यसनों से पृथक् होकर उस की स्तुति प्रार्थना करो तब ही वह हमारा सखा होगा।

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥ ऋ. ७।८६।५॥

(वरुण) हे सर्वपूज्य महेश ! (मनुष्या) हम मनुष्य हैं हम में समस्त मनुष्यसम्बन्धी दौर्बल्य दोष और अपराध विद्यमान हैं। उस स्वभाव के कारण (यत् किंच) जो कुछ (इदम्) यह अपराधसमूह हम (दैव्ये जने) दिव्य जन के निकट (चरामसि) किया करते हैं तथा (अचित्ती) अज्ञान और प्रमाद से (तव धर्मा) तुम्हारे विहित जिन धर्मों=नियमों (युयोपिम) को लुप्त करते हैं। (देव) हे देव (तस्मात् एनसः) उस पाप के निमित्त (न मा रीरिषः) हम को पीड़ित न कर यह आप से प्रार्थना है।

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृण-
वत्सखा ते। मा त एनस्वन्तो यक्षिन्भुजेम यन्धि
ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥ ऋ. ७।८८।६॥

(वरुण) हे वरुण ! (यः) जो (नित्य) ध्रुव (आपि) आपका बन्धु है जो (प्रिय सन्) आप का प्रिय होकर भी (त्वाम्) आपके (आगांसि) बहुत से अपराध (कृणवत्) किया करता है। हे भगवन् ! (ते सखा) वह पुनरपि आपका मित्र हो। ईश्वर का मित्र तब ही हो सकता जब उस की आज्ञा पर चले। (यक्षिन्) हे यजनीय देव ! (ते) आप के शरणागत हम उपासक (एनस्वन्तः) पापी होकर (मा भुजेम) मत भोगविलास करें। पापीजन को उचित नहीं है कि वह स्वामी के धन को पापमय कार्य में लगावे। किन्तु पापरहित होकर ही हम भोगों को भोगें। हे देव ! आप (विप्रः) सर्वज्ञ और

सर्व सुखप्रद हे अत (स्तुवते) अपने स्तुतिपाठक को (वरूथम्) उत्तमोत्तम वरणीय हिरण्यादिकके धन (यन्धि स्म) देवें ।

यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाचित्तिभिश्चकृमा कच्चि-
दागः । कृधीष्वस्माँ अदितेरनागान्व्येनांसि शिश्रथो
विष्वगग्ने ॥ ऋ. ४।१२।४॥

(यविष्ठ) हे निखिलदुरितनिवारक ! हे अखिल मंगलप्रदायक सर्वान्तर्यामी देवाधिदेव भगवन् ! (यत् चित् हि) यद्यपि (पुरुषत्रा) मानव दौर्बल्य के कारण (ते) आप के यथार्थ भाव को न जान तथा आपकी आज्ञा न पालन कर आप के भक्तपुरुषों के मध्य (अचित्तिभिः) अज्ञानों से हम उपासक (कच्चित् आगः) कोई न कोई अपराध अवश्यमेव (चकृम) किया करते हैं तथापि (अग्ने) हे ज्योतिर्मय देव ! (अस्मान्) हम को (अदितेः) हमारे मंगलके लिये (अनागान्) पापरहित (सुकृधि) कीजिये । एवं (विष्वक्) सर्वत्र विद्यमान (एनांसि) असत्कृत पापों को (विशिश्रथः) विशेषरूप से शिथिल कीजिये ।

आशय—मनुष्यजाति में आन्तरिक दौर्बल्य और अज्ञान बहुत है । इसी लिये हम मनुष्य ईश्वर के निकट सर्वदैव अपराधी बने रहते हैं और उसी दुर्बलता के कारण अपराध-क्षमा के लिये प्रार्थना भी करते हैं । किन्तु वे पाप अथवा अपराध क्षन्तव्य नहीं हो सकते जब तक कि उन का फल हम प्राप्त नहीं करते । यद्यपि कहीं कहीं विशुद्धज्ञानोदय से पापविनाश का वर्णन आता है तथापि वैसे वचन को ज्ञानप्रशंसा मात्र के लिये समझना चाहिये । यदि दण्डभोग बिना अपराधमोचन हो तो ईश्वर के राज्य में अन्याय बहुत बढ़ जाय ।

निन्द्य कर्मके लिये प्रार्थना-निषेध ।

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य ।
न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया ॥
ऋ. ८।१९।२६॥

(वसो) हे सब को वास देनेहारे सब के धनस्वरूप ईश्वर ! (त्वा) आप को (अभिशस्तये) मिथ्यापवाद और हिंसादि दोषों की निवृत्ति के लिये (न रासीय) मैं न पुकारूं और न प्रार्थना करूं (सन्त्य) सब संभजनीय

देव ! (पापत्वाय) अपने कृतपापों को मिटाने के लिये भी (न) आप को न मनाऊं और (न) न। मे स्तोता) मेरे सम्बन्धी भी आप को पाप प्रणोदन के लिये प्रार्थना करें। (अग्ने) हे ज्योति स्वरूप! मेरा (अमतीवा) दुर्मति (दुर्हिन) शत्रु भी (न) न हो और (पापया) पापमयी बुद्धि से मुझ को वह बाधा (न) न पहुंचावे।

आशय—मनुष्य अपने स्वभाववश मारण, मोहन, उच्चाटन इत्यादि अभिचार कर्म सदैव किया करते हैं। कृतपापोंको दूर करने के लिये भी अपने अभीष्ट देव से प्रार्थना करते हैं। किन्तु प्रभु इन कर्मों से रोकते हैं ताकि ऐसे कुत्सित कर्म कभी न करें, जिससे समाज की हानि हो।

पापी आदमियों से बच कर रहना।

मा नो अग्नेऽव सृजो अघायाविष्यवे रिपवे दुच्छुनायै। मा दत्वते दशते मादते नो मा रीषते सहसावन्परा दाः ॥ ऋ. १।१८९।५॥

(अग्ने) हे ज्योति स्वरूप परमात्मन्! (नः) हम लोगों को (अघाय) हिंसक (अविष्यवे) भक्षक, विनाशक (दुच्छुनायै) दुःखकारी (रिपवे) शत्रु के निकट (मा अव सृज) समर्पित न कर। अर्थात् शत्रु के अधीन मत करें। (दत्वते दशते) दांतों से पीड़ा देने वाले तथा डंक मारने वाले और (अदते) अदन्तक=शृंगादि से हनन करनेवाले पशुओं के निकट (मा नः) हम लोगों को समर्पित न कर। (सहसावन्) हे तेजोमय देव! (रीषते) हिंसक शत्रु के निकट (मा परा दाः) हम लोगों को मत फेंक।

आशय—इस पृथिवी पर मंगल, अमंगल, मृदु, तीव्र, साधु, हिंसक इत्यादि सब प्रकार के प्राणी विद्यमान हैं। अति विषधर सर्प, वृश्चिकादि, अतिशय हिंसक व्याघ्रादि सब ही विद्यमान हैं। इन से बच कर मनुष्य को रहना चाहिये। यदि विचार किया जाय तो मनुष्य समस्त प्राणियों के महाशत्रु बन गए हैं। अति गंभीर समुद्रस्थ मत्स्यादि और आकाश में उड़नेवाले विहगादिक प्राणी भी मनुष्य के हाथ से कदापि नहीं बचते। इससे सिद्ध है, कि मनुष्य अति क्रूर, अति हिंसक, अति दुच्छुन हैं तथापि सर्पादिक और व्याघ्रादिक हिंसक समझे जाते हैं, वास्तव में सर्पादिक की सृष्टि इस पृथिवी पर न होती तो मनुष्य जाति इससे भी अधिक निर्भय होकर नास्तिक

बन जाती। इस हेतु सब प्रकार की सृष्टि हुई है। ताकि प्रत्येक मनुष्य अपना सदाचार और विचार ऐसा बना रक्खे, कि वह स्वयं किसी का शत्रु और हिंसाकारी न बने इत्यादि शिक्षा इस मन्त्र से दी गई है। प्रत्येक मंत्र का आशय यह है कि मनुष्य जाति शुद्ध और पवित्र हो।

उत वा यः सहस्य प्रविद्वान् मर्तो मर्तं मर्चयति

द्वयेन। अतः पाहि स्तवमान स्तुवन्तमग्ने माकिर्नो

दुरिताय धायीः। ऋ. १।१४७।७॥

(उत या) अथवा (सहस्य) हे सर्वशक्तिमन्! जगदुत्पादक देव! आप हम जीवों पर ऐसी कृपा कीजिये (यः) जो (विद्वान्) जानता और समझता हुआ भी (मर्त) मनुष्य (द्वयेन) द्विविध मानस और वाचिक मन्त्रों से अर्थात् विचारों से (मर्तम्) मनुष्य जाति को (मर्चयति) अतिशय हानि पहुंचाता है। (स्तवमान) हे स्तुति योग्य भगवन्! (अतः) ऐसे दुर्जन से (पाहि) हम को बचाइये। हम कदापि स्वयं ऐसा दौर्जन्य न करें और न ऐसे दुर्जनों का साथ ही रहें (अग्ने) हे अग्ने! (स्तुवन्तम्) ऐसे दुर्जन से दूर रहने के लिये प्रार्थी पुरुष को भी बचा दे। (न) हमको (दुरिताय) पाप के लिये (माकिः धायी) समर्थ न कीजिये। हे देव! हम दुरितभाजन न बनें, यह विनीत प्रार्थना आप से है।

घातक विनाश प्रार्थना।

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।

मृळा च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ

द्विबर्हाः॥ ऋ. १।११४।१०॥

(क्षयद्वीर) धर्मवीर, युद्धवीर, परोपकारवीर, निर्भय निर्विकार तथा एवंविध मनुष्यों के रक्षक परमात्मन्! (ते) आप की ही सृष्टि में विद्यमान जो (गोघ्नम्) गौवों के मारनेवाले (उत) और (पुरुषघ्नम्) भद्र पुरुष को हानि पहुंचाने वाले हैं उन्हें (आरे) आप हम लोगों से दूर देश में फेंक दीजिये (अस्मे) हम लोगों में (ते सुम्नम् अस्तु) आपका सुखमय पदार्थ विद्यमान हो, (च नः मृड) और हमको सदैव सुखी कीजिये। (च अधिब्रूहि)

हे अन्तर्यामि देव ! हम लोगों को उपदेश दीजिये (देव) सकल गुणाधार सूर्यचन्द्रादिक प्रकाशक देव ! (अध च) और (न) हमको (शर्म यच्छ) कल्याण दीजिये क्योंकि (द्विबर्हा:) आप इस लोक और उस लोक दोनों के स्वामी और रक्षक है इस लिये आप से ही हम याचना करते हैं । हे देव ! आप को छोड़ किस दूसरे देव से याचना करें ।

आशय—यद्यपि सब पशु दया पात्र हैं तथापि गोजाति सब से प्रथम अहिंसनीय पशु पंक्ति में गिनी जाती है क्योंकि वह मातृवत् मनुष्यों की दुग्धादि से रक्षा करती है। इस लिये हम लोगों में कोई भी गोघ्न न हो। जो कोई गोमेध यज्ञ में गोहिंसा विहित समझते हैं, वे इस मंत्र पर ध्यान दें। अत मनुष्य समाज में गोघ्न और पुरुषघ्न कोई न रहने पावे। तब ही ईश्वर का सत्य आशीर्वाद हम मनुष्यों में विराजमान होगा। और तब ही हम सुख से दिवस बिता सकते हैं इस लिये स्वार्थ सिद्धि के लिये समर सर्वथा निषिद्ध जानना चाहिये।

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् । भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणाहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ अ० १७।१।१९॥

(असति) प्रकृति में (सत् प्रतिष्ठितं) आत्मा रहा है। (सति)आत्मा में (भूतं प्रतिष्ठितं) भूतकालीन सब कुछ रहा है। (भव्ये) भविष्य में (भूतं) भूत (ह) निश्चय (आहितं) रखा है। (भव्यं) भविष्य (भूते प्रतिष्ठितं) भूत में रखा है। हे (विष्णो) व्यापक देव ! (तव इत्) तेरे ही ये (बहुधा) बहुत प्रकार के (वीर्याणि) पराक्रम हैं । (त्वं) तू (न) हमको (विश्वरूपै पशुभि) विविध रंग रूप वाले पशुओं से (पृणीहि) भर पूर कर। (परमे) परम (व्योमन्) रक्षक (सुधायां) उत्तम धारणाशक्ति में (मा) मुझे (धेहि) रख ।

(१) प्रकृति में आत्मा का कार्य हो रहा है, (२) आत्मा में भूतकालीन बातें संस्कार रूप से रहती हैं, (३) भूतकालीन कर्मों के संस्कार भविष्य काल के पुरुषार्थ में दिखाई देते हैं, अर्थात् (४) भविष्य कालीन स्थिति में मानो भूतकालीन स्थिति ही प्रतिबिंबित होगी, (५) जो इस सृष्टि में चमत्कार दिखाई देते हैं वे सब व्यापक परमात्मा के ही हैं, (६) उसकी कृपा से हमें सब भोग मिलेंगे और (७) हमें अपनी धारणा शक्ति का विकास कर उसके साथ रहेंगे और निश्चय से परमआनंद प्राप्त करेंगे ।

परमेश्वर की अनुकूलता

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानाम-
भिश्रीः । इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो
यतते सूर्येण ॥ ऋ. १।६८।१॥

(वैश्वानरस्य) विश्व के अंदर जो पुरुष है उसकी (सुमतौ स्याम) उत्तम बुद्धि में हम रहें। वह (भुवनानां राजा) भुवनों का राजा सब की (कं) आनन्दप्रद (अभिश्रीः) शोभा है। वह (जातः) प्रकट होते ही (इतः) इस विश्व में (विचष्टे) प्रकाशित होता है। (वैश्वानरः सूर्येण) यह विश्व व्यापक पुरुष सूर्य के साथ (यतते) कार्य करता है।

प्राकृतिक जगत् के अंदर एक व्यापक पुरुष है। उस के अनुकूल व्यवहार करके उसकी सुबुद्धि लेनी चाहिये। वही संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है और इस सूर्य के द्वारा भी वही कार्य करता है।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे
वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुर-
दब्धः स्वस्तये ॥ ऋ. १।८९।५॥

(वय) हम सब (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (तं) उस (जगतः तस्थुषः पतिं) जंगम और स्थावर के पति, (धियं जिन्वं) बुद्धि के प्रेरक (ईशानं) ईश्वर की (हूमहे) प्रार्थना करते हैं। (यथा) जैसे वह (पूषा) पोषक ईश्वर (नः) हमारे (वेदसां वृधे) धनों तथा ज्ञानों की वृद्धि करने के लिये होता है तथा हमारे (स्वस्तये) कल्याण के लिये रक्षणकर्ता तथा (अदब्धः पायु) न दबने वाला संरक्षक (असत्) होवे।

स्थावर जंगम जगत् के एक ईश्वर की ही हम उपासना करते हैं, इस लिये कि वह हमारी बुद्धियों को प्रेरणा देवे और हमारा उत्तम रक्षण करे।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभि
स्वरन्ति । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा
धीरः पाकमत्रा विवेश ॥ ऋ. १।१६४।२१॥

(सुपर्णाः) अनेक पक्षी अर्थात् अनेक जीवात्मा (यत्र) जहां (अमृतस्य भागं) अमृत के भाग के प्रति (अनिमेषं) बंद रहित होकर

(विद्या) ज्ञान के साथ (अभिस्वरंति) पहुंचते हैं, वह (विश्वस्य भुवनस्य) संपूर्ण जगत् का (इनः) स्वामी और (गोपाः) रक्षक है। (सः धीरः) वह धीर वीर महाज्ञानी परमात्मदेव (अत्र पाकं मा) मुझ पकने योग्य भक्त में (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है।

सब जीवात्मा उसी ईश्वर में अमृत के भाग को प्राप्त करते हैं। वही भुवन का रक्षक ईश्वर मेरे अन्दर है, यह बात सदा ध्यान में धरने योग्य है।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं

श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो

अदितये स्याम ॥ ऋ. १।२४।१५॥

हे (वरुण) श्रेष्ठदेव! हमारे (उत्तमं पाशं) ऊर्ध्वभाग स्थित पाशको तथा (अधमं) निम्न भाग के पाशको और (मध्यमं) मध्यभाग के पाशको (उत् अव विश्रथाय) शिथिल कर। हे (आदित्य) प्रकाशमान ईश्वर! (वयं) हम (तव व्रते) तेरे नियममें रहते हुए (अन्-आगसः) निष्पाप बन कर (अदितये स्याम) स्वतंत्रता=बन्धनरहितता=मुक्ति के लिये योग्य हो जायंगे।

स्थूल सूक्ष्म और कारण देह के पाश अधम, मध्यम, और उत्तम नाम से क्रमशः कहे गये हैं। परमेश्वर की भक्ति से और पुरुषार्थ करने से तथा परमात्मा के नियम पालन करने से मनुष्य निष्पाप होकर स्वतंत्रता-मुक्ति के लिये योग्य होता है। इसी लिये उसी एक अद्वितीय प्रभु की भक्ति हर एक को करनी चाहिये।

धन प्रार्थना।

दा नो अग्ने धिया रयिं सुवीरं स्वपत्यं सहस्य

प्रशस्तम्। न यं यावा तरति यातुमावान् ॥ ऋ. ७।१।५॥

हे (सहस्य अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव! तू (धिया) बुद्धि से युक्त (सुवीरं) वीर्य्य से युक्त (स्वपत्यं) सन्तति से युक्त (प्रशस्तं) प्रशंसित (रयिं) धन (न दा) हमें दे (यं) जिस धन को (यातुमा-वान् यावा) दुष्ट शत्रु (न तरति) छीन नहीं सकता।

धन ऐसा प्राप्त करना चाहिये कि जिसके साथ उत्तम बुद्धि, उत्तम शौर्य, उत्तम सन्तान हो और जो चोर के हाथ में न लगे।

त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवोऽवस्युर्नाम भिक्षते ॥

ऋ. ७।३२।१७॥

(त्वं) तू (विश्वस्य) सब का (धनदाः) धन देने वाला (असि) है। (ये आजय) जो युद्ध यहां (भवन्ति) होते हैं (ईं) उनमें भी (श्रुत) तेरा यश होता है। हे (पुरुहूत) प्रशंसित प्रभो! (अयं) यह (विश्वः) सब (पार्थिवः) पृथिवी पर रहने वाला (अवस्युः) अपनी रक्षा करने का इच्छुक मनुष्य (तवनाम) तेरे पास ही (भिक्षते) याचना करता है।

परमेश्वर सब को सब प्रकार का ऐश्वर्य देने वाला है इस लिये सब मनुष्य उसी की याचना करते हैं।

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥

ऋ. ८।९९।४॥

(इन्द्रस्य) इन्द्र के (रातय') दान (भद्रा) कल्याणकारक ही हैं। (अन्-अर्श-रातिं) जिसका दान हानिकारक नहीं है, ऐसे (वसु-दां) धन दाता की (उपस्तुहि) प्रशंसा करो, जो (अस्य) इस के (कामं) इच्छा के अनुसार (विधत) कार्य करता है, उस पर (स) वह (न) (रोषति) क्रोध नहीं करता और वह (मनः) मन (दानाय) दान के लिये (चोदयन्) प्रेरित करता है।

रक्षा प्रार्थना।

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेररावणः ॥
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥

ऋ. १।३६।१५॥

हे (बृहद्भानो) विशेष प्रकाशमान (यविष्ठ्य) बलवान् (अग्ने) तेजस्वी प्रभो! (नः) हमें (रक्षसः) राक्षसों से (पाहि) बचाओ। (धूर्ते

अराव्णः) धूर्त स्वार्थियों से (पाहि) बचाओ। तथा (जिघांसन) हनन करनेवाले शत्रु से (पाहि) बचाओ और (रीषत) विनाश करने वाले शत्रु से (पाहि) रक्षा करो।

क्रूर, राक्षस, धूर्त, स्वार्थी, घातक और विनाशकों से अपना बचाव करना चाहिये।

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य याच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व। यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु॥ ऋ. ३।५३।२१॥

हे (इन्द्र) इन्द्र! (अद्य) आजही (बहुलाभिः ऊतिभिः) अनेक रक्षणों से (नः) हम सबका रक्षण करो। हे (मघवन्) धनवान्! हे (शूर) शूर! हम सबको (श्रेष्ठाभिः) श्रेष्ठताओं के साथ (यात्) गमन करने वालों से (जिन्व) आगे बढ़ाओ। (यो नो द्वेष्टि) जो हम सबसे द्वेष करता है, (स) उसको (अधरः) नीचे (पदीष्ट) दबाओ। हम सब (यं उ द्विष्मः) जिसका द्वेष करते हैं (तं उ) उसको (प्राण जहातु) प्राण छोड़ देवे।

तवाहमग्न ऊतिभिर्मित्रस्य च प्रशस्तिभिः। द्वेषोयुतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम्॥ ऋ. ५।९।६॥

हे (अग्ने) तेजस्वी देव! (मित्रस्य तव) मित्ररूप तेरे (प्रशस्तिभिः ऊतिभिः) प्रशंसनीय संरक्षणों से सुरक्षित होकर (द्वेष युतः न) द्वेषी लोगों के समान अहित करने वाले (मर्त्यानां) दुष्ट मनुष्य के (दुरिता अहं तुर्याम) दुष्ट कर्मों से दूर सुरक्षित रहूं।

हे ईश्वर! तू हमारा मित्र है और हमारा उत्तम संरक्षण करता है। तेरे अद्भुत संरक्षण से सुरक्षित होते हुए हम दुष्ट मनुष्यों के कर्तूतों से अपने आपको बचावें। क्योंकि जो मनुष्य तेरी रक्षा में आ जाता है, उसको डरानेवाला जगत् में कौन है?

विशां कविं विश्पतिं शश्वतीनां नितोशनं वृषभं चर्षणीनाम्। प्रेतीषणिमिषयन्तं पावकं राजन्तमग्निं यजतं रयीणाम्॥ ऋ. ६।१।८॥

(शश्वतीनां विशां कविं) सनातन प्रजाओं का कवि अथवा वाणी का प्रेरक, (विश्-पतिं) प्रजापालक (नितोशनं) शत्रुनाशक (चर्षणीनां वृषभं)

मनुष्यों को बलवर्धक, (प्रतीरणि) प्रेरक (इषयंत) अन्नादि की सिद्धता करने वाला (पावकं) पवित्रता करनेवाला (रयीणां यजतं) धनों के दाता (राजन्तं अग्नि) प्रकाशमान तेजस्वी देव की हम उपासना करते हैं।

ईश्वर-उपासना के समय इन गुणों का मनन करना चाहिए। ईश्वर के रक्षण में सुरक्षित होकर, मन की कामना परिपूर्ण करके, वीरों के साथ रहनेवाला धन प्राप्त करने के पश्चात् अन्नादि और यश प्राप्त करना चाहिये।

नाना ह्यंऽग्नेऽवसे स्पर्धन्ते रायो अर्यः। तूर्वन्तो

दस्युमायवो व्रतैः सीक्षन्तो अव्रतम्॥ ऋ. ६।१४।३॥

हे (अग्ने तेजस्वी देव!) (रायः अर्यः) धनके स्वामी (नाना) अनेक प्रकार से (अवसे स्पर्धन्ते) धनकी स्वामिता लिये स्पर्धा करते हैं। (आयवः) मनुष्य (दस्युं तूर्वन्त) शत्रुओं का नाश करते हुए (व्रतैः) स्वकीय नियमों से (अव्रतं) नियम न पालनेवाले को (सीक्षन्ते) पराभूत करते हैं।

हे ईश्वर! शत्रु के धन मानो अनाथ होकर रक्षा के लिये उनके पास जाने की इच्छा करते हैं, कि जो सज्जन उत्तम नियमों का स्वय पालन करके उत्तम सत्कर्मों के द्वारा पुरुषार्थ हीन दुराचारी शत्रु का पराभाव करते हैं।

सुवीरं रयिमा भर जातवेदो विचर्षणे।

जहि रक्षांसि सुक्रतो॥ ऋ. ६।१६।२९॥

हे (जातवेद विचर्षणे) ज्ञानमय सर्वद्रष्टा! (सुवीरं रयिं) उत्तम वीरों से युक्त धन (आभर) दो। और (सुक्रतो) हे उत्तम कर्म करनेवाले! (रक्षांसि जहि) दुष्टों का नाश कर।

वीरता के साथ रहनेवाला धन प्राप्त करना चाहिये। और दुष्टों को दूर करना चाहिये।

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे

स्याम। स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद्द्वेषः

सनुतर्युयोतु॥ ऋ. ६।४७।१३॥

(तस्य यज्ञियस्य सुमतौ) उस पूजनीय परमेश्वर की सुमति में (अपि) तथा (भद्रे सौमनसे) उत्तम मन के अंदर (वयं) हम (स्याम) होवें। अर्थात् हमारे विषय में उसका मन उत्तम भाव धारण करे। वह (सुत्रामा)

उत्तम रक्षक (स्ववाँ) आत्मशक्ति से युक्त (इन्द्र) प्रभु (द्वेष) शत्रुओं को (अरात्) दूर से ही (सनुतः युयोतु) अंदर ही अंदर से नष्ट करे।

हम ऐसा योग्य आचरण करें, कि जिससे परमेश्वर हमें प्रेम से अपने पास करे। और अपना उत्तम भावमय मन हमारे ऊपर सदा रखे। और हमारे शत्रुओं को दूर करे।

पाहि नो अग्ने रक्षसो अजुष्टात्पाहि धूर्तेररुषो
अघायोः। त्वा युजा पृतनायूँरभि ष्याम्॥ ऋ. ७।१।१३॥

हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर ! (अजुष्टात् रक्षसः) हीन राक्षसों अथवा अप्रेमी जनों से (न पाहि) हमारी रक्षा कर। (अररुष धूर्ते) अदाता धूर्त से, तथा (अघायो) पापी से हमें (पाहि) सुरक्षित रख। (त्वा युजा) तेरे साथ रहकर (पृतनायून्) सैन्य लेकर चढ़ाई करनेवालों का (अभिष्याम्) पराभव करें।

हे ईश्वर ! सब दुष्ट दुर्जनों से हमारा बचाव कर। तेरी शक्ति से सुरक्षित होते हुए हम शत्रुसेना पर चढ़ाई करके उनको पराजय करें।

त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात् पुर इन्द्र नि पाहि
विश्वतः। आरे अस्मत्कृणुहि दैव्यं भयमारे हेतीः-
रदेवीः। ऋ. ८।६१।१६॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वं) न (पश्चात्) पीछे से, (अधरात्) नीचे से, (उत्तरात्) ऊपर से और (पुर) आगे से तात्पर्य (विश्वत) सब ओर से (नः नि पाहि) हमारी रक्षा कर। (दैव्यं भयं) आधिदैविक भीति को (अस्मत् आरे कृणुहि) हम से दूर कर। और (अदेवीः हेती) राक्षसी शस्त्र भी हम से (आरे) दूर रहें।

परमेश्वर ही सब प्रकार से हमारी रक्षा कर सकता है।

अवशसा निःशसा यत् परा शसोपारिम जाग्रतो
यत्स्वपन्तः। अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे
अस्मद्दधातु। ऋ. १०।१६४।३॥

(जाग्रतः) जागते हुए अथवा (स्वपन्तः) स्वप्न में जो २ पाप हमने (अवशसा) बुरी इच्छा से (निःशसा) बुरी कल्पना से अथवा (परा-शसा)

बुरी अवस्था के कारण (उपआरिम) किये हों, (अ-जुष्टानि) जो निन्दनीय (दुष्कृतानि) दुराचार हुए हों (विश्वानि) उन सब के कारणों को (अग्निः अस्मत् आरे दधातु) परमेश्वर हम सब से दूर करे।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि।
प्रचेता न आंगिरसो दुरितात्पात्वंहसः । ऋ. ८।४५।३॥

(इन्द्र) हे प्रभो ! (ब्रह्मणस्पते) ज्ञान के स्वामिन् ! (यत्) जो (मृषा चरामसि) झूठे करतूत हमारे से हुए हों, (प्रचेता) सर्व ज्ञानी प्रभु (आंगिरस) प्राणप्यारा उन सब से (अपि) तथा अन्य (दुरितात् अंहस) दुरित पाप से (न) हमें (पातु) बचावे।

गमद्वाजं वाजयन्निन्द्र मर्त्यो यस्य त्वमविता भुवः ।
अस्माकं बोध्यविता रथानामस्माकं शूर नृणाम् ॥
ऋ. ७।३२।११॥

हे (शूर) शूर पापनाशक (इन्द्र) प्रभो ! तू (यस्य अविता) जिसका रक्षक (भुव) होता है वह (मर्त्य) मनुष्य (वाजयन्) बलिष्ठ होता हुआ (वाजं) बलको (गमन) प्राप्त करता है। इस लिये (अस्माकं) हमारे रथों का और (नृणां) मनुष्यों का (अविता) रक्षक तू (बोधि) हो।

परमेश्वर जिसका रक्षक होता है वह बलवान् बन कर श्रेष्ठ हो जाता है इस लिये हे ईश ! तू हमारा रक्षक हो जिस से हम बलवान् बन जायं।

अदब्धेभिस्तव गोपाभिरिष्टेऽस्माकं पाहि त्रिषधस्थ
सूरीन् । रक्षा च नो ददुषां शर्धो अग्ने वैश्वानर प्र
च तारीः स्तवानः ॥ ऋ. ६।८।७॥

हे (इष्टे त्रिषधस्थ) यजनीय तीनों=पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ स्थानों में रहने वाले देव ! (तव) अपनी (अदब्धेभि. गोपाभि) न दबनेवाली रक्षाओं के द्वारा (अस्माकं सूरीन् पाहि) हमारे ज्ञानियों की रक्षा कर। हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! (नः ददुषां शर्धः) हम दाताओं का बल (रक्ष) सुरक्षित रख। हे (वैश्वानर) सब के चालक (स्तवान) स्तुति किया हुआ तू हमें दुःख के (तारी) पार ले जा।

हे प्रभो ! तू अपने अद्भुत रक्षणों से हमारी पूर्ण रूप से रक्षा कर और हम में बल स्थापित करके हमें संपूर्ण दुःखों के पार ले चल।

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ ऋ. १।५।४॥

(यस्य संस्थे) जिसकी संस्था में रहने वाले (हरी) कार्य भार का हरण करने वाले उच्च और साधारण इन दोनों से (समत्सु) युद्धों में (शत्रवः) शत्रु भी (न वृण्वते) स्पर्धा नहीं कर सकते, (तस्मै इन्द्राय) उस प्रभु की (गायत) स्तुति कीजिये ।

जो प्रभु के भक्त, जनसेवा रूपी प्रभु कार्य में अपने आप को समर्पित करते हैं, वे समर्थ हों या न हों, उनका मुकाबला शत्रु भी नहीं कर सकता । यह सामर्थ्य जिस प्रभु की शक्ति से प्राप्त होता है उसी एक प्रभु की उपासना कीजिये ।

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः
कृणोतु ॥ ऋ. १०।४२।११॥

(बृहस्पतिः) ज्ञान का स्वामी ईश्वर (नः) हमें (पश्चात्, उत्तरस्मात्, उत अधरात्) पीछे से, आगे से, और नीचे से, (अघायोः) पापी से (पातु) बचावे । (सखा) मित्र (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् प्रभु (पुरस्तात् उत मध्यतः) परे से और बीच में से (नः) हमारे (सखिभ्यः) मित्रों को तथा हमको (वरिवः कृणोतु) श्रेष्ठ धन देवे ।

ज्ञानी ईश्वर हमारा सब प्रकार से बचाव करे और पापी को हम से दूर रखे । हमारा सच्चा मित्र प्रभु ईश्वर हमें और हमारे मित्रों को सब प्रकार का धन देवें ।

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ऋ. १।४।६॥

हे (दस्म) शत्रुनाशक प्रभो ! (उत) निश्चय से (अरिः) शत्रु भी (नः) हमको (सुभगान्) उत्तम भाग्यवान् कहेगा, फिर (कृष्टयः) हमारे मित्रभूत मनुष्य तो (वोचेयुः) कहेंगे ही । इसमें क्या आश्चर्य है ? तथापि हम (इन्द्रस्य) प्रभु की (शर्मणि) सुखमय रक्षा में (स्याम) रहेंगे ही ।

अपना आचरण ऐसा शुद्ध और पवित्र होना चाहिये कि जिस से शत्रु के मुख से भी प्रशंसा निकल आये । अपनी सब अवस्था इतनी उच्च होनी

चाहिये कि जिससे शत्रु को भी अचंभा होवे। अपने मित्र तो हमारी तारीफ करेंगे ही। उस में कोई विशेषता नहीं है। इतनी अवस्था श्रेष्ठ होने पर भी परमेश्वर भक्ति से विमुख नहीं होना चाहिये।

विश्वे त इन्द्र वीर्यं देवा अनु क्रतुं ददुः। भुवो
विश्वस्य गोपतिः पुरुष्टुत भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ ऋ. ८।६२।७॥

हे (इन्द्र) परम समर्थ प्रभो! (विश्वे देवा) सब सूर्यादि देव (ते वीर्य्यं) तेरे सामर्थ्य तथा (क्रतुं अनु) कर्म और ज्ञान के अनुकूल (क्रतुं ददुः) अपनी क्रिया करते हैं। हे (पुरुष्टुत) अनन्त स्तुतियों वाले। तू (विश्वस्य) सारे संसार का (गोपतिः) रक्षक (भुवः) है। तुझ (इन्द्रस्य) प्रभु के (रातय) दान (भद्रा) कल्याणकारक हैं।

सूर्य चन्द्र आदि समस्त पदार्थ परमात्मा की रचना होनेके कारण उसी की व्यवस्था के अनुसार चल रहे हैं॥

अभय प्रार्थना।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे
इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं
नो अस्तु। अ. १९।१५।५॥

(नः) हम सब के लिये (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष (अभय करति) अभय साधक होवे और (इमे उभे द्यावापृथिवी) ये दोनों द्यावा—पृथिवी (अभयं) भय दात्री न हों। (पश्चात् अभयं) पीछे से अभय, आगे से, (पुरस्तात् अभयं) सामने से अभय और (उत्तरात् अधरात् अभयं न अस्तु) ऊपर से और नीचे से हम सब के लिये अभय होवे।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो
यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम
मित्रं भवन्तु। अ. १९।१५।६॥

(मित्रात् अभयं) मित्र से अभय (अमित्रात् अभयं) शत्रु से अभय (ज्ञातात् अभय) ज्ञात पदार्थ से अभय और (य पुर, अभयं) अज्ञात पदार्थ से हम सब के लिये अभय होवे। (नक्तं अभयं) रात्री के समय अभय और (दिव न. अभयं) दिन के समय हम सब निर्भय होकर रहें। और (सर्वाः आशा मम मित्रं भवन्तु) सब दिशा में रहने वाले हमारे मित्र बनकर रहें।

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।

मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि।

ऋ. ८।६१।१३॥

(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा प्रभो परमात्मन्! (यत) जिस जिस सिंहादि प्राणी से (भयामहे) हम डरते हैं (तत) उस उस से (न) हमको (अभयं कृधि) अभय दान दीजिये क्योंकि (मघवन्) हे सकलैश्वर्यसम्पन्न देव! (शग्धि) आप समर्थ हैं (तत्) इस हेतु (तव ऊतिभि॰) आप अपनी रक्षाओं से (न॰ द्विप॰) हमारे आन्तरिक और बाह्य द्वेषकारी शत्रुओं को (विजहि) विनष्ट कीजिये। (मृधः) मनुष्यों को धोखा देने वाले, कपटी वञ्चक पुरुषों को (वि जहि) विनष्ट कीजिये।

आशय—मनुष्य जाति नाना कुसंस्कारों और विविध पापों से युक्त होने के कारण सदैव भयभीत रहती है, और मनुष्य परस्पर एक दूसरे के महान् शत्रु हैं. यह प्रत्यक्ष देखा आता है। इस लिये कल्याणेच्छु पुरुष सदैव इन कर्मों से दूर रहें, तब ही उनको भद्र और मंगल पहुंच सकते हैं। और सर्वदा परमात्मा की उपासना किया करें, क्योंकि परमेश्वर सबसे बलवान् होने के कारण हमें आन्तरिक तथा बाह्य सब प्रकार के रिपुओं से बचा सकता है॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु

विश्ववेदाः। बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य

पतयः स्याम॥ ऋ. ६।४७।१२॥

(सुत्रामा) उत्तम रक्षक (स्ववान्) आत्मशक्ति से युक्त (सुमृळीक) उत्तम सुख देने वाला (विश्ववेदा) सर्वज्ञ (इन्द्र) प्रभु (अवोभि॰) अपनी रक्षाओं के साथ हमारा रक्षण करनेवाला (भवतु) होवे। (द्वेषः बाधतां) शत्रुओं का नाश करे, हमें (अभयं कृणोतु) अभय करे, और हम (सुवीर्यस्य पतयः) उत्तम वीर्य=सामर्थ्य के स्वामी (स्याम) होवें।

परमात्मा सबका उत्तम रक्षक स्वकीय आत्मशक्ति से युक्त सर्वज्ञ है, वह

अपनी रक्षक शक्ति से हमारी पूर्ण रक्षा कर, हमारे शत्रुओं को दूर कर, हमें पूर्ण रीति से निर्भय करे, और उत्तम वीर्य हमारे पास सदा जागृत रहे।

यतोयतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ य. ३६।२२॥

(यतः यतः) जिस जिस स्थान में तू (सं ईहसे) कर्म करता है उस उस स्थान में (न.) हमारे लिये (अ-भयं) अभय दान (कुरु) कर। (न प्रजाभ्यः) हमारी प्रजा के लिये (शं अभयं) कल्याण कारक अभय (कुरु) करो और (नः पशुभ्य) हमारे पशुओं को भी (अभयं) अभयदान कर।

हे ईश्वर ! जिस जिस स्थान में तुम्हारा कर्म चलता है, उस उस स्थान से हमारे लिये, हमारी प्रजाओं और पशुओं के लिये, कल्याणमय अभय दान करो।

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥ ऋ. १।११।२॥

हे (शवस पते इन्द्र) शक्ति के स्वामी प्रभो ! (ते सख्ये) तेरी मित्रता में हम (वाजिनः) बलवान् होने के कारण किसी से भी (मा भेम) नहीं डरते। (जेतारं) विजयी और (अ-पराजितं) अपराजित होने के कारण (त्वां) तुझे ही (अभिप्रणोनुम) हम नमन करते हैं।

प्रभु के भक्तों में ऐसा विलक्षण बल आता कि किसी से भी डरते नहीं, क्योंकि जिनका रक्षक स्वयं प्रभु होवे, उनको डरानेवाले कौन हो सकते हैं ? वही प्रभु सदा अपराजित और हमेशा विजयी है, इस लिये उसी को नमन करना योग्य है

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता
नः कृणोतु। अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं सप्तऋषीणां च
हविषाऽभयं नो अस्तु ॥ अ. ६।४०।१॥

(द्यावापृथिवी) द्यावा-पृथिवी से (इह) यहां (न) हम सबको (अभयं अस्तु) अभय हो, (सोम. सविता) सोम और सविता (न) हम सब के लिये (अभयं कृणोतु) अभय करे। (उरु अन्तरिक्ष न अभयं अस्तु) महान् अन्तरिक्ष हम को भय न देवे। (च सप्त ऋषीणां हविषा न अभयं अस्तु) और सप्त ऋषियों इन्द्रियों के हवि=विषयों से हम सब को अभय प्राप्त हो।

प्राण की निर्भयता।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ अ. २।१५।१॥

(यथा) जिस प्रकार (द्यौ) द्युलोक (च) और (पृथिवी) पृथिवी (न बिभीत) डरते नहीं (च) और इस लिये (न रिष्यत) हिंसित नहीं होते,(एव) इसी प्रकार हे (मे प्राण) मेरे प्राण (मा बिभेः) तू भी मत डर।

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ अ. २।१५।२॥

(यथा) जिस प्रकार (अहः) दिन (च) और (रात्री) रात्री (न बिभीत) नहीं डरते, (च) और इस लिये (न रिष्यत) हीन नहीं होते, (एव मे प्राण! मा बिभे) इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू मत डर।

यथा सूर्यश्च चंद्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ अ. २।१५।३॥

(यथा) जिस प्रकार (सूर्य्य) सूर्य (च) और (चन्द्र) चंद्र (न बिभीत) डरते नहीं, (च न रिष्यत) इस लिये हानि को नही प्राप्त होते, इसी प्रकार (एव) हे मेरे प्राण! तू मत डर।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ अ. २।१५।४॥

यथा जिस प्रकार (ब्रह्म) ज्ञान और ज्ञानी (क्षत्रं) शौर्य और शूर वीर (न) नहीं डरते, इस लिये नष्ट भ्रष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू मत डर।

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ अ. २।१५।५॥

यथा जिस प्रकार (सत्यं) सत्य और (अन्-ऋतं) अत्यंत सरलता, ये कभी (न) डरते नहीं, इस लिये विनष्ट नहीं होते इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू मत डर।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ अ. २।१५।६

यथा जिस प्रकार (भूतं) भूत और (भव्यं) भविष्य (न ...) डरता नहीं, इस लिये नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू मत डर।

इस सूक्त में स्पष्ट कहा है, कि डर ही नाश का हेतु है। इसी लिये हर एक को निर्भय होकर धर्म-कार्य करना चाहिये। डरने से शक्ति की क्षीणता होती है और निर्बलता आती है। अर्थात् जो बारंबार डरते हैं, उनका मन अत्यंत कमजोर होता है। और मन अशक्त होने पर उस पुरुष में बल बढ़ने की संभावना ही नहीं है।

वैदिक धर्मी स्त्री पुरुषों का यह सूक्त मनन करने योग्य है। यह सूक्त कहता है, कि, "देखो! पृथिवी और द्युलोक, सूर्य और चंद्र, आदि सब इस लिये बलवान् हैं, कि वे नहीं डरते। यदि उन में भीति उत्पन्न होगी, तो उनकी स्थिति नहीं रहेगी। इस प्रकार जो ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं डरते हैं, वे ही शक्तिशाली होते हैं, परंतु जो डरते हैं, वे क्षीण बल हो जाते हैं। इस लिये प्रत्येक मनुष्य निडर होकर धर्म-कार्य करे, आगे बढ़े और उन्नति प्राप्त करे।" तात्पर्य यह है, कि वैदिक धर्मी मनुष्य को सत्य धर्म के पालन के लिये निडर होना चाहिये। अतः गृहस्थी स्त्री पुरुषों को उचित है, कि वे अपने बाल-बच्चों को बालकपन में ऐसी शिक्षा दें, कि वे निडर होकर बढ़ें और उनके मन में किसी प्रकार का डरपोकपन न रहे।

विजय प्रार्थना

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्।
सासह्याम पृतन्यतः॥ ऋ. १।८।४॥

हे (इन्द्र) इन्द्र! (वयं) हम (त्वया युजा) तेरे साथ रहकर तथा (अस्तृभि) अस्त्रों का प्रयोग करनेवाले शूरवीरों के साथ रहके (पृतन्यत) सेना से हमला करने वाले शत्रु का (सासह्याम) पराभव करेंगे।

वीर मनुष्य को उचित है कि वह स्वयं परमेश्वर की भक्ति करे और परमात्मा को अपना रक्षक माने। तथा शस्त्रास्त्रों का उत्तम उपयोग करने में प्रवीण शूर वीरों को साथ लेकर शत्रु का पराभव करे। तात्पर्य विजय प्राप्त

करने के तीन साधन हैं (१) परमेश्वर पर दृढ़ विश्वास, (२) अपने सैनिकों के शस्त्रास्त्रों की उत्तम तैयारी, तथा (३) सैनिकों का उग्र शौर्य ।

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे । अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज ॥ ऋ. १।१०२।४॥

हे (मघवन्) ऐश्वर्यसंपन्न प्रभो ! (त्वया युजा) तेरे साथ युक्त होकर (वृतं) घेरे हुए शत्रु के ऊपर (वयं जयेम) हम विजय प्राप्त करें, (भरे भरे) युद्ध में (अस्माकं अंशं) हमारे भाग का (उदव) रक्षण कर । हे (इन्द्र) प्रभो ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (वरिव सुगं कृधि) धन सुगमता से प्राप्त होने वाला कर, (शत्रूणां) शत्रुओं के (वृष्ण्या) बल (प्ररुज) नष्ट भ्रष्ट कर।

परमेश्वर के साथ रहने वाले सदा विजय प्राप्त करते हैं, प्रत्येक युद्ध में वे विजयी होते हैं । धनादि भोग्य पदार्थ भी उनको सुगमता से प्राप्त होते हैं, उनके शत्रु निर्बल होते जाते है ।

त्वे इन्द्राप्यभूम विप्रा धियं वनेम ऋतया सपन्तः । अवस्यवो धीमहि प्रशस्तिं सद्यस्ते रायो दावने स्याम ॥ ऋ. २।११।१२॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! हम (विप्राः) ज्ञानी लोग (त्वे अभूम) तेरे अंदर मन स्थिर रख कर रहेंगे और (ऋतया सपन्त) सीधे मार्ग से व्यवहार करते हुए (धियं वनेम) बुद्धि और कर्म की सिद्धि प्राप्त करें । (अवस्यवः) अपने रक्षण करने वाले हम (प्रशस्तिं धीमहि) तेरा वर्णन तेरे गुण-मन में धारण करें और (सद्यः) तत्काल (ते रायः दावने) तेरे धन के दान के लिये हम योग्य (स्याम) हों ।

ज्ञानी लोग ईश्वर में ही दत्तचित्त हों, सीधे मार्ग से व्यवहार करके कर्म सिद्धि प्राप्त करें, अपना रक्षण करते हुए, ईश्वर के गुणों का चिंतन करें और अपने आपको उसकी दया के योग्य बनावें ।

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् । यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ ऋ. २।१२।१॥

(यः प्रथमः देवः) जो पहिला देव (जात एव) प्रकट होते ही (मनस्वान्)

मनन शक्ति से श्रेष्ठ होकर (क्रतुना) अपने पुरुषार्थ से (देवान्) सब सूर्यादि देवों को (पर्यभूषत्) सुशोभित करता रहा (यस्य शुष्माद्) जिसके बल से (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी (अभ्यसेतां) कांपते हैं हे (जनासः) लोगो! (नृम्णस्य मह्ना) मानसिक शक्ति के महत्व से युक्त (सः) वह देव (इन्द्रः) इन्द्र अर्थात् प्रभु ही है।

सबसे पहिला देव जो सब अन्य देवों को तेजस्वी करता है, जिसके बल से सब डरते हैं। जिसकी आत्मिक और मानसिक शक्ति अद्वितीय है वही सब का एक प्रभु है।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे
हवन्ते। यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स
जनास इन्द्रः॥ ऋ. २।१२।९॥ अ. २०।३४।९॥

हे (जनासः) लोगो! (यस्मात् ऋते) जिसको छोड़कर (जनासः) लोग (न विजयन्ते) विजय को नहीं प्राप्त होते, और (युध्यमानाः) लड़ने वाले (अवसे) रक्षण के लिये (यं हवन्ते) जिसकी प्रार्थना करते हैं। और (यः) जो (विश्वस्य प्रतिमानं) विश्व का निर्माता (बभूव) है और जो (अच्युतच्युत्) स्वयं न हिलता हुआ दूसरों को हिलाता है हे (जनासः) लोगो! (सः इन्द्रः) वह इन्द्र अर्थात् सब जगत् का एक राजा है।

अस्माकमग्ने मघवत्सु धारयानामि क्षत्रमजरं सुवी-
र्यम्। वयं जयेम शतिनं सहस्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने
तवोतिभिः॥ ऋ. ६।८।६॥

हे (वैश्वानर अग्ने) वैश्वानर अग्ने! हमारे (मघ-वत्सु) धनिकों में (अनामि सुवीर्यं अजरं क्षत्रं) उत्तम वीर्ययुक्त अविनाशी क्षात्र तेज (धारय) धारण कर (तव ऊतिभिः) तेरे संरक्षण से हे (अग्ने) प्रभो! (वयं शतिनं सहस्रिणं वाजं जयेम) हम सब सौ अथवा हजारों सैनिकों के साथ हमला करने वाले शत्रु को भी पराजित करें।

मानव संघ के प्रेम से लड़ने वालों को इस प्रकार बल प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। जो अपने राष्ट्रहित के लिये जागते हैं, उनमें ही राष्ट्र की उन्नति होती है।

वर्चसप्रार्थना।

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदꣳ हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाऽविशतादु माम्॥ य. ३४।५०॥

(इदं हिरण्यं) यह सुवर्ण आदि धन मेरे लिये (आयुष्यं) दीर्घ आयुष्य देने वाला (वर्चस्यं) तेज बढ़ाने वाला, (राय पोष) राजन्य का पोषण करने वाला, (औद्भिदं) उन्नति देने वाला और (वर्चस्वत्) शान्ति देने वाला होकर (जैत्राय) विजय के लिये (मा) मुझे (आविशतात् उ) प्राप्त होवे ही।

अर्थात् उस धन से ऐसे कर्म करने चाहियें। जिससे दीर्घ आयुष्य तेज ऐश्वर्य उन्नति अभ्युदय बल और विजय प्राप्त होता रहे। ऐसे कर्म नहीं करने चाहिये, कि जिनसे आयु आदि न्यून होकर अवनति होजाय।

जो मनुष्य धनी है, उनको योग्य पुरुषार्थ करके दीर्घ आयुष्य, तेजस्विता पुष्टि, उन्नति शक्ति, और विजय प्राप्त करना चाहिये। यदि धन प्राप्त होने मे इन गुणों की न्यूनता हो जाय तो वह योग्य धन ही नहीं है। इन गुणों की वृद्धि करने वाला ही धन योग्य धन है।

अश्वा॑वन्तं र॒थिनं॑ वी॒रव॑न्तं सह॒स्रिणं॑ श॒तिनं॒ वाज॑-
मिन्द्र । भ॒द्रवा॑तं॒ विप्र॑वीरं स्व॒र्षाम॒स्मभ्यं॑ चि॒त्रं
वृष॑णं र॒यिं दा॑: ॥ ऋ. १०।४७।५॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (अश्वावन्तं) घोड़ों से, (रथिनं) रथों से और (वीरवंतं) वीरों से युक्त. (सहस्रिणं शतिनं) सहस्रों प्रकार के (वाजं) बल और अन्न को पास रखनेवाला (भद्रवातं) कल्याण कारक समाज को साथ रखने वाला (विप्रवीर) विशेष ज्ञानी और वीरों से सदा युक्त (स्वा सा) सब को स्वीकारने योग्य, (चित्रं रयिं) विलक्षण बल युक्त धन (अस्मभ्यं दाः) हमें दो।

उक्त प्रकार का धन प्राप्त करना चाहिये।

स॒न॒द्वाजं॒ विप्र॑वीरं॒ तरु॑त्रं धन॒स्पृतं॑ शूशु॒वांसं॑ सु॒दक्ष॑म् ।
द॒स्यु॒हनं॑ पू॒र्भिद॑मिन्द्र स॒त्यम॒स्मभ्यं॑ चि॒त्रं वृष॑णं र॒यिं दा॑: ॥

ऋ. १०।४७।४॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (सनद्वाजं) जिस से धन प्राप्त होता है, (विप्रवीरं) ज्ञानी वीर जिसके साथ होते हैं, (तरुत्रं) जो तारण करने वाला होता है, (धनस्पृतं) धन की पूर्ति करने वाला (शूशुवांसं) बढ़ाने वाला, (सुदक्षं) दक्षता से युक्त, (दस्युहनं) शत्रु का नाश करनेवाला (पूर्भिदं) शत्रु के किलों-दुर्गों का भेदन करनेवाला, (सत्यं) सच्चे (चित्रं वृषणं) विलक्षण बलवान् (रयिं) धन को (अस्मभ्यं दा) हमें दें।

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र ।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥
ऋ. १०।४७।३॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (सुब्रह्माणं) उत्तम ज्ञान से युक्त (देववन्तं) दिव्य गुणों से युक्त (बृहन्तं) बड़े शक्तिशाली (उरुं गभीरं)) बड़े गंभीर (पृथुबुध्नं) विस्तृत आश्रय से युक्त (श्रुत ऋषिं) ऋषियों के ज्ञान का विस्तार करने वाला (उग्रं) उग्रता से युक्त शूरता युक्त (अभिमाति-साहं शत्रुका पराजय करनेवाले (चित्रं) विलक्षण (वृषणं रयिं) बलवान् धन को (अस्मभ्यं दाः) हमें दो।

उक्त गुण जिसके साथ रहते हैं, ऐसा ही धन कमाना चाहिये। अर्थात् धन के साथ उक्त गुणों की वृद्धि करनी चाहिये। घोड़े, रथ, वीर, शूर, बलिष्ठ पुरुष, ज्ञानी, आदि उस धन के साथ रहें। ऐसा धन न हो, जिस के पास कोई वीर और ज्ञानी न हो। धन के साथ स्वसंरक्षणका तारक गुण हो और आत्मनाशका मारक गुण न रहे, धन के साथ दक्षता बढ़े और शत्रु के नाश करने का पराक्रम वृद्धिगत होजाय। तात्पर्य यह है, कि धनी लोग निर्बल और निर्वीर से होते हैं, वैसे न रहें। परंतु धनी स्वयं ऐसे वीर पुरुष बनें, कि जो अपने धन की स्वयं रक्षा कर सकें और दूसरों को भी लाभ पहुंचावें।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप निलयन्ताम् ॥
ऋ. १०।८४।७॥

(उभयं) व्यक्ति विषयक और समाज विषयक दोनों प्रकार का (धनं) धन (अस्मभ्यं) हम सब के लिये (सं सृष्टं) उत्पन्न और (सं आकृतं) इकट्ठा करके (मन्युः वरुण.) तेजस्वी श्रेष्ठदेव (दत्तां) देवें। हम सब के (शत्रव) शत्रु (हृदयेषु) अपने अन्तःकरणों में (भियं दधाना) भय को धारण करते हुए (पराजितास.) पराजित होकरे (अप निलयन्ताम्) भाग जावें।

व्यक्ति के संबंध का एक धन होता है और जातिका=समाज का अथवा राष्ट्र का एक धन होता है, वैयक्तिक धन और सामुदायिक धन इस प्रकार के दो धन हैं। व्यक्ति को वैयक्तिक धन और जाति को जातीय धन कमाना अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों धनों को प्राप्त करने का प्रयत्न हर एक को करना चाहिये। इन दोनों धनों को प्राप्त करने के पुरुषार्थ में ऐसा

विलक्षण शौर्य दिखाना चाहिये, कि जिससे सब शत्रु भयभीत होकर दूर भाग जावें। इसी से पूर्ण विजय प्राप्त होता है।

वर्च आ धेहि मे तन्वां३सह ओजो वयो बलम्।

इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥

अ. १९।३७।२॥

(मे तन्वां) मेरे शरीर में (वर्चः) तेज, (सह) शक्ति, (ओज) पराक्रम, (वयः) पौरुष, (बलं) बल, (आधेहि) धारण कर। (इन्द्रियाय कर्मणे वीर्य्याय) इंद्रिय, कर्म, और वीर्य तथा (शत शारदाय) सौ वर्ष की आयु के लिये (त्वा प्रतिगृह्णामि) तेरा स्वीकार करता हूं।

हर एक मनुष्य को अपने शरीर में तेज, शक्ति, स्फूर्ति, पराक्रम, पौरुष बल आदि धारण करके बढ़ाने चाहियें। इंद्रियशक्ति, पुरुषार्थ, वीर्य और दीर्घ आयुष्य की वृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इनकी वृद्धि से ही मनुष्य की योग्यता बढ़ जाती है, और इनके घटने से मनुष्य की योग्यता घट जाती है। इस लिये जितना शक्य हो, उतना प्रयत्न करके मनुष्य को उक्त शक्तियां अपने अन्दर विकसित करनी चाहिये। वर्च-शब्द तेजस्विता का बोध कराता है। सह-शब्द से शत्रुओं को पराजित करने की शक्ति का भाव ज्ञात होता है। ओजः-शब्द शारीरिक शक्तिके पुरुषार्थ करने का भाव बताता है। वयः-का अर्थ पौरुष-प्रयत्न है। बलं-शब्द सब प्रकार से, शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बलों का बोध कराता है।

मनुष्य की योग्यता (१) इन्द्रियशक्ति, (२) उत्साहमय वीर्यशक्ति, (३) कर्मशक्ति और (४) दीर्घ आयुपर अवलम्बित होती है। इनमें से कोई शक्ति कम हो जाए तो योग्यता कम हो जाती है और अधिक होने से योग्यता बढ़ जाती है। इसलिये हर एक मनुष्य को इन की वृद्धि करने के पुरुषार्थ में पराकाष्ठा करनी चाहिये।

शिवसंकल्प मन।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसं-

कल्पमस्तु ॥ य. ३४।१॥

(यत्) जो (जाग्रतः) जागृत अवस्था में (दूरं उदैति) दूर दूर भागता है और (सुप्तस्य) सुप्त अवस्था में भी (तथैव) वैसा ही (एति) जाता है,

(तत्) वह (दूरंगमं) दूर दूर पहुंचने वाला (ज्योतिषां ज्योति) ज्योतियों का भी ज्योतीरूप-प्रधान इन्द्रिय (एकं) एक मात्र (दैवं मे मन) दिव्य शक्ति से युक्त मेरा मन (शिवसंकल्पं) शुभ संकल्पमय (अस्तु) होवे।

मन जागृत, स्वप्न और निद्रा में दूर दूर भागता है, और भटकता है, वह किंचित् काल भी स्थिर रहता नहीं है। वह सदा चंचल रहता है। परन्तु उसके अन्दर अद्भुत दैवी बल रहता है। वह मन अत्यत वेगवान् है और तेज स्वियों का भी प्रकाशक है। इस प्रकार का यह मन शुभ संकल्प युक्त होना चाहिये। अन्यथा इसकी जो अद्भुत शक्ति है, वही मनुष्य के घात का हेतु हो सकती है।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु ॥ य. ३४।२॥

(येन) जिस मन से (अपस) पुरुषार्थी (धीराः) बुद्धिमान् (मनी षिण) मन का संयम करने वाले लोग (यज्ञे) सत्कर्म में और (विदथेषु) युद्धादि के स्थानों में भी (कर्माणि कृण्वन्ति) कर्म करते हैं, (यत्) जो मन (प्रजानां अन्तः) प्रजाओं के बीच में (अपूर्वं यक्षं) अपूर्व पूज्य है, (तत् मे मन) वह मेरा मन (शिवसंकल्पं अस्तु) शुभ संकल्प युक्त होवे।

सब लोक अपने मन के द्वारा ही सब कर्म करते है। शांति के समय के कर्म और युद्धादि के अशांति के उद्योग भी उक्त मन द्वारा ही किये जाते हैं, इस लिये सिद्ध होता है, कि मन के शुद्ध होने से कर्म शुद्ध होंगे, और अशुद्ध होने से कर्म भी अशुद्ध होंगे। यह अपूर्व शक्तिशाली मन प्रजाओं के बीच में अंतःकरण के स्थान में रहता है। यह मन सदा शुभ संकल्प करे। क्योंकि यदि यह मन शुभ संकल्प करेगा, तभी यह उत्तम निर्दोष कर्म कर सकता है, अन्यथा यही दोषयुक्त कर्म करके मनुष्य को भी दोषी बनायेगा। अतः मन को शिव संकल्प युक्त बनाना आवश्यक है।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु ॥ य. ३४।३॥

(यत्) जो मेरा मन (प्रज्ञानं) ज्ञान (उत) तथा (चेतः) चिंतन शक्ति (च) और (धृतिः) धैर्यसे युक्त है तथा जो (प्रजासु अंतः) प्रजाओंमें (अमृतं) अमृतरूप और

(ज्योति) तेजोरूप है, (यस्मात् ऋते) जिस मन के विना (किंचन कर्म) कोई भी कर्म (न क्रियते) किया नहीं जाता, (तत् मे मन शिवसंकल्पं अस्तु) वह मेरा मन शुभ विचार करने वाला होवे।

मन के अंदर ज्ञान शक्ति, चिंतन शक्ति और धैर्य शक्ति रहती है, और यह मन प्रजाओं में अमृतमय और तेजोमय है। यह इतना शक्ति-शाली है कि इसके विना मनुष्य कोई भी कर्म कर नहीं सकता। सब कार्य्य इसकी सहायता से किये जाते है। इस लिये इसको शुभ संकल्पमय बनाना चाहिये।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्प-
मस्तु॥ य. ३४।४॥

(येन अमृतेन) जिस अमर मन ने (इदं भूतं भविष्यत् भुवनं) यह भूत भविष्य वर्तमान (सर्वं) सब कुछ (परिगृहीतं) स्वीकृत किया है, जान लिया है, (येन) जिस मन द्वारा (सप्तहोता यज्ञ) सात ऋत्विजों द्वारा होने वाला यज्ञ (तायते) फैलाया जाता है, (तत् मे मन शिवसंकल्पं अस्तु) वह मेरा मन शुभ संकल्पयुक्त होवे।

भूत, भविष्य, वर्तमान काल में जो कुछ बनता है, वह मन द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। अर्थात् मन द्वारा वह घेरा जाता है, तात्पर्य मन की शक्ति उससे बढ़कर है। पंच ज्ञानेंद्रिय और अहंकार तथा बुद्धि द्वारा जो यह जीवन यज्ञ चलाया जा रहा है, वह मनके अधिष्ठातृत्व में ही चल रहा है। इस प्रकार जो मन सब कार्यकारी इंद्रियगण का मुख्याधिष्ठाता है, वह मन सदा शुभ संकल्प करने वाला बने और कदापि अशुभ संकल्प न करे।

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभावि-
वाराः। यस्मिँश्चित्तᳬ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः
शिवसंकल्पमस्तु॥ य. ३४।५॥

(यस्मिन) जिस मन में (ऋच) ऋचाए=वेदका पद्यभाग और (यस्मिन् साम यजूंषि) जिसमे साम-वेद का गीति भाग तथा यजु=गद्य भाग तात्पर्य सब वेद (रथनाभौ आरा इव) रथनाभि में आरों के समान (प्रतिष्ठिता) स्थिर हो गये है, (प्रजाना सर्वं चित्तं) सब प्रजाओं का चित्त (यस्मिन्) जिसमें (ओतं) ओतप्रोत भरा है, (तत् मे मन शिवसंकल्प अस्तु) वह मेरा मन शिव संकल्प होवे।

मन के अन्दर सम्पूर्ण वेद और सब शास्त्र तथा अन्य सब ज्ञान ओत प्रोत भरा रहता है, अर्थात् ज्ञानी के मन में यह सब ज्ञान रहता है। मन की शक्ति ऐसी है कि जिसमें यह सब ज्ञान रह सके। सब प्राज्ञ लोग इसी से मनन करते हैं। इस प्रकार का यह शक्तिशाली मन सदा शुभ विचार से युक्त होवे।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ य. ३४।६॥

(इव) जिस प्रकार (सु सारथि) उत्तम सारथि (अश्वान्) घोड़ों को चलाता है (इव) उस प्रकार (यत्) जो (मनुष्यान्) मनुष्योंके इन्द्रियरूपी (वाजिनः) अश्वोंको (अभीशुभि) लगामोंद्वारा (नेनीयते) चलाता है और (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठं) हृदय में रहता हुआ, (अजिरं) अजर और (जविष्ठं) वेगवान् है, (तत् मे मन शिवसंकल्पं अस्तु) वह मेरा मन उत्तम शुभ संकल्प युक्त होवे।

रथ का सारथी जिस प्रकार घोड़ों को चलाता है, उसी प्रकार यह मन इन्द्रियों को चलाता है। इसी लिये इसका संकल्प शुभ होना चाहिये। नहीं तो यह इंद्रियों को किसी गढ़े में गिरा देगा। यह मन हृदय में रहता हुआ अनंत गति के साथ चलता है। इस प्रकार का शक्तिशाली मन सदा शुभ संकल्प से युक्त होवे। मनुष्यों को उचित है कि वे इस उपदेश के अनुसार अपने मन को शुभ संकल्प बनावें और अपनी उन्नति सिद्ध करें।

धारणावती बुद्धि

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥२॥ अ. ६।१०८।

(अहं) मैं (ब्रह्मण्वतीं) ज्ञानयुक्त (ब्रह्मजूता) ज्ञानियों द्वारा सेवित (ऋषि-स्तुतां) ऋषियों से स्तुति की गई (ब्रह्मचारिभि प्रपीतां) ब्रह्मचारियों से पान की गई (प्रथमां) विशाल (मेधां) धारणायुक्त बुद्धि को (देवानां अवसे) देवां इन्द्रियों और ज्ञानियों की रक्षा के लिये (हुवे) प्राप्त करता हूं।

जिस प्रकार की धारणावती बुद्धि की प्रशंसा सब विद्वान कर रहे हैं उसकी धारणा की उन्नति अपने अन्दर करनी चाहिये। धारणावती बुद्धि को मेधा कहते हैं। जिससे मन के अन्दर ज्ञानादि की धारणा होती है, उस शक्ति का नाम मेधा है। यह मेधा शक्ति जितनी प्रबल होगी उतनी बुद्धि की विशालता मनुष्य दिखा सकता है। इसलिये हर एक मनुष्य को उचित है, कि वह अपने अन्दर इस धारणावती बुद्धि को बढ़ावे।

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि ॥३॥

अ. ६।१०८॥

(यां मेधां) जिस मेधा को (ऋभव विदु) ज्ञानी जानते हैं, (यां) जिस (मेधां) बुद्धि को (असु-राः) प्राण विद्या निष्णात (विदु) जानते हैं, अथवा प्राप्त करते हैं और (यां) जिस (भद्रां) कल्याणमयी (मेधा) बुद्धि को (ऋषय) ऋषि (विदु) जानते हैं, (तां मय्यावेशामसि) उस श्रेष्ठ बुद्धि को अपने अन्दर स्थापित करता हूं।

सब ज्ञानी जिस धारणावती बुद्धि का अनुभव करते हैं, वह हरएक को प्राप्त करनी चाहिये।

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥४॥ अ. ६।१०८॥

हे (अग्ने) अग्ने! (यां मेधा) जिस मेधा बुद्धि को (मेधाविनः भूत-कृतः) ज्ञानी और पुरुषार्थी (ऋषयः) ऋषि (विदुः) अनुभव करते रहे, हे (अग्ने) प्रभो! (तया मेधया) उस मेधा बुद्धि से (मेधाविनं) बुद्धिमान् (मां कृणु) मुझे कर।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यंदिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥५॥ अ. ६।१०८॥

(साय) सायंकाल, (प्रातः) प्रात काल, और (मध्यं दिनं) दिन के मध्य में (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य के किरणों के साथ तथा (वचसा) अपनी वाक् शक्ति के साथ (मधां) मेधा नामक धारणवती बुद्धि को (वेशयामहे) धारण करते हैं।

मेधा बुद्धि की वृद्धि के लिये हरएक को प्रतिदिन सुबेशाम प्रयत्न करना चाहिये। दृढ़ता से प्रयत्न करने पर ही इसकी वृद्धि होती है।

इंद्रियों की शांति

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता ।

ययैव ससृजे घोरं तयैव शांतिरस्तु नः ॥ अ. १९।९।३॥

(या इय) जो यह (ब्रह्म-संशिता) ज्ञान से तीक्ष्ण बनी हुई (परमेष्ठिनी वाग्देवी) परमात्मा में सम्बन्ध रखनेवाली वाग्देवी है (यया) जिससे (घोर ससृजे) भयकर प्रसंग उत्पन्न होता है, (तया एव) उससे (न शांति अस्तु) हमें शांति प्राप्त होवे ।

वाणी आत्मा की प्रेरणा से उत्पन्न होती है, इस वाणी के दुरुपयोग से अनत झगड़े खड़े होते हैं और सदुपयोग से अनन्त उपकार भी होते हैं। इस लिये वाणी के सदुपयोग द्वारा हमें उत्तम शांति प्राप्त हो,यह प्रार्थना इस मन्त्र में है, जो सूचित करती है कि, हरएक मनुष्य वाणी का सदुपयोग करके शांति स्थापन करने में अपने से जो हो सकता है करे।

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् ।

येनैव ससृजे घोरं तेनैव शांतिरस्तु नः ॥ अ. १९।९।४॥

(इदं) जो (ब्रह्मसंशितं) ज्ञान से तीक्ष्ण बना हुआ (परमेष्ठिन) परमात्मा से सम्बन्ध रखनेवाला (मन) मन है, (येन एव) जिससे घोरं (भयकर परिणाम होता है, उससे हमें शांति प्राप्त हो ।

हमारे अन्दर मन है जो आत्मा की शक्ति से यहां कार्य कर रहा है । इस मन के दुरुपयोग से बड़े भयानक दुष्परिणाम होते हैं, परन्तु यदि वह मन अपने वश में रहा, तो अत्यन्त उन्नति प्राप्त होती है । इसलिये मन से कदापि बुरे विचार करने नहीं चाहिये, परन्तु अच्छे पोषक विचार करके श्रेष्ठ बनने का ही यत्न हरएक को करना चाहिये ।

इमानि यानि पंचेंद्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा

संशितानि । यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शांतिरस्तु नः ॥

अ. १९।९।५॥

(इमानि) ये (पञ्च-इन्द्रियाणि) पांच ज्ञानेंद्रियां (मन षष्ठानि) जिनमें मन छठवां है, (ब्रह्म-संशितानि) ज्ञान से सुतीक्ष्ण बनकर मेरे हृदय में रहने

हैं, (यैः एव) जिनसे (घोरं") भयंकर परिणाम भी होती है, उनसे भी हमें शांति प्राप्त होवे।

मन, और इंद्रियां यदि बिगड़ बैठें, तो मनुष्य को कितनी आपत्ति में डालती है, यह बात प्रसिद्ध है। परन्तु वश में रहें, तो उनसे बहुत उन्नति होता है। इसलिये उनको वश में रखकर उनके उत्तम उपयोग द्वारा ही शांति स्थापित करनी चाहिये।

बलवती वाणी।

निर्दुरर्मण्यं ऊर्जा मधुमती वाक्॥ अ. १६।२।१॥

(ऊर्जा) शक्ति वाली, (मधुमती) मीठी (वाक्) वाणी (निः दुरर्मण्यः) दुष्टभाव से युक्त न हो।

वाणी में बड़ी शक्ति है, इस लिये उस वाणी का प्रयोग कदापि बुरे भाव के साथ नहीं करना चाहिये। कई लोग मीठे शब्द बोलते हैं, परन्तु उनका भाव बड़ा कड़ुआ होता है। इस प्रकार बर्ताव कदापि कोई भी न करे।

मीठी वाणी।

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम्॥ अ. १६।२।२॥

प्रजाजनो! तुम (मधुमती स्थ) मीठे स्वभाव से युक्त हो, मैं (मधुमतीं वाचं) मीठा भाषण (उदेयम्) बोलूं।

सम्पूर्ण प्रजाजनों के साथ मीठा भाषण करना उचित है, क्योंकि उसी से अहिंसामय शांति सर्वत्र स्थापित होकर मीठे व्यवहार से ही जगत् वश में आ सकता है।

कल्याण का उपदेश सुननेवाले कान।

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्॥

अ. १६।२।४॥

मेरे (कर्णौ) कान (सुश्रुतौ) उत्तम उपदेश श्रवण करनेवाले हैं, मेरे (कर्णौ) कान (भद्रश्रुतौ) कल्याण की बात सुननेवाले हैं। इस लिये मैं (भद्रं श्लोकं) कल्याण मय यश के विषय में उपदेश (श्रूयासं) सुनूं।

कानों से ऐसा उपदेश श्रवण करना चाहिये, कि जिससे अपना सदैव कल्याण हो, अपना यश बढ़े।

तीक्ष्ण दृष्टि।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं
चक्षुरजस्रं ज्योतिः॥ अ. १६।२।५॥

(सुश्रुतिः) उत्तम बात श्रवण करना और (उपश्रुति) उसका अंगीकार करना, ये दो गुण (मा) मुझे (मा हासिष्टां) न छोड़ें, (सौपर्णं चक्षुः) गरुड़ के समान तीक्ष्ण दृष्टि मेरी होवे, और (अजस्रं ज्योतिः) सतत तेजस्विता मुझ में वास करे।

उत्तम उपदेश सुनना, उत्तम उपदेश के अनुसार अपना आचरण करना, सूक्ष्म दृष्टि का उदय, और तेजस्विता ये चार गुण मनुष्य को अपने अन्दर बढ़ाने चाहियें।

ऋषियों का प्रचारक।

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय॥ अ.१६।२।६॥

तू (ऋषीणां) ऋषियों का (प्रस्तरः) प्रसारक है। तुझ (दैवाय प्रस्तराय) दिव्य प्रचारक के लिये (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

ऋषियों के दिव्य ज्ञान का प्रचारक ऋषि संतान है। जो दिव्य ज्ञान का श्रेष्ठ प्रचारक होगा उसका सत्कार करना उचित है।

शांत हृदय।

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि
विधर्मणा॥ अ. १६।३।६॥

(मे हृदयं) मेरा हृदय (असंतापं) संताप रहित होवे। (गव्यूति) इंद्रियों की गति (उर्वी) बड़ी हो। (त्रिधर्मणा) विविध धर्म नियमों के पालन करने के कारण मैं (सम्-उत्-द्रः अस्मि) सम्यक् रीति से उत्कर्ष के लिये गति उत्पन्न करने वाला बनूं। अथवा समुद्र के समान गंभीर बनूं।

हृदय में शांति रखनी चाहिये। इंद्रियों और अवयवों का बल बढ़ाना चाहिये, और उन्नति प्राप्त करने के लिये सदा प्रयत्न करना चाहिये।

समान लोगोंमें श्रेष्ठ।

मूर्धाऽहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम्॥ अ. १६।३।१॥

(अहं) मैं (रयीणां मूर्धा) धनोंका सिर और (समानानां मूर्धा) समान विद्वानों में सिर स्थानीय (भूयासं) हो जाऊं।

हरएक मनुष्यको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, कि जिससे उनके पास बहुत धन संग्रह हो सके और ज्ञान भी ऐसा हो, कि जिससे उसकी योग्यता विद्वानोंमें भी उच्च बन जाय।

विद्या और धन का एकत्र निवास होना इष्ट है। सरस्वती और लक्ष्मी एकत्र रहें, इसीसे मनुष्यकी उन्नति होगी।

धनों का केंद्र।

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम्॥

अ. १६।४।१॥

(अहं) मैं (रयीणां नाभिः) धनों का केंद्र और (समानानां) समान लोगों का (नाभि.) मध्य (भूयासं) होजाऊं।

अपने चारों ओर धन धान्य हों, और समान विचार वाले लोक भी चारों ओर रहें, तथा मैं उक्त प्रकार सबका केंद्र बन कर रहूं, यह इच्छा हर एक मनुष्य को मन में धारण करनी चाहिये।

मर्त्यों में अमर।

स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा॥ अ. १६।४।२॥

तू (सु—आसन्) उत्तम अवस्था से युक्त, (सूषाः) उत्तम उषा-कालों

से युक्त, और (मर्त्येषु आ अमृतः) मर्त्यों में सर्वथा अमर (असि) है।

(१) अपनी अवस्था उत्तम करनी चाहिए, (२) प्रात काल उठ कर उषा-काल के पूर्व अपना कार्य करने को सिद्ध होने का नाम उत्तम-उषःकाल वाला होना है, (३) तथा मरने वालों में अमर भाव अर्थात् मनुष्यों में दैवी शक्ति से युक्त मन प्रकाशित रखना चाहिये।

स्थिर प्राण और अपान।

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्। अ. १६।४।३॥

(प्राणः) प्राण (मां) मुझे (मा हासीत्) न छोड़े और (अपान उ) अपान भी मुझे (अवहाय) छोड़ कर न (परा गात्) दूर न जावे।

प्राण और अपान मेरे अंदर उत्तम बलवान् बन कर रहें।

आज ही विजय करेंगे।

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम्। अ.१६।६।१॥

(अद्य अजैष्म) आज हमने जीत लिया है, (अद्य) आज हमने (असनाम) धन प्राप्त किया है। (वय) हम (अनागस) पाप रहित (अभूम) हो गये हैं।

(१) विजय प्राप्त करना (२) धनादि भोग प्राप्त करना और (३) निष्पाप बनना चाहिये। हर एक मनुष्य के ये उद्देश्य होने चाहिये। इन उद्देश्यों के अनुकूल हर एक को प्रयत्न करना चाहिये।

मन आदि संपूर्ण शक्तियों की पूर्व उपदेशानुसार उन्नति करने से ही अपना विजय होगा। इस लिये अपनी सर्वांगीण उन्नति करने के लिये हर एक को परमपुरुषार्थ करना चाहिये। इस विषय में निम्न लिखित सूक्त देखिये—

अपने उदयका क्रम

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥१॥
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः ॥२॥
तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय ।
स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥१॥
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥१॥
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥२॥

अथर्व. कां. १९ सू. ६०,६१,६२,६३ ॥

(मे) मेरे (आसन्) मुख में पूर्ण आयु की समाप्ति तक (वाक्) उत्तम वक्तृत्वशक्ति रहे, (नसोः प्राण) नासिका में प्राण शक्ति संचार करती रहे, (अक्ष्णोः चक्षुः) आंखों में दृष्टि उत्तम प्रकार से रहे (कर्णयोः श्रोत्रम्) कानों में श्रवण शक्ति रहे (अ-पलिताः केशाः) मेरे बाल सफेद न हों (अ-शोणाः दन्ताः) मेरे दांत मलीन न हों, मेरे (बाह्वो बहु बल) बहुओं में बहुत बल रहे, मेरी (उर्वो) उरुओं में (ओजः) शक्ति रहे, (जंघयोः) जांघों में (जवः) वेग रहे, (पादयोः) पाओं के अन्दर (प्रतिष्ठा) स्थिरता और दृढ़ता रहे, (मे सर्वा) मेरे सब अवयव (अरिष्टानि) हृष्ट-पुष्ट हों, मेरा (आत्मा) आत्मा सदा (भृष्टः) उत्साहपूर्ण रहे, (मे तनू) मेरे शरीर के सब अवयव (तन्वा) उत्तम अवस्था में रहें। (दत) दुष्टों के शत्रु को (सहे) सहन करने की शक्ति मेरे अन्दर रहे। मैं (सर्वं आयुः) पूर्ण दीर्घ आयु (अशीय) प्राप्त करूं। पूर्ण

आयु की समाप्ति तक मेरे सब अवयव हृष्ट पुष्ट रहें, (मे) मुझे (स्योनं) सुख (सीद) प्राप्त हो, (पुरु पृणस्व) बहुत पूर्णत्व प्राप्त हो, मैं (पवमान) शुद्ध होकर (स्वर्गे) स्वर्ग में-अर्थात् उत्तम लोक में-प्रसन्नता से रहूंगा।

हे प्रभो! (मा देवेषु प्रियं कृणु) मुझे ब्राह्मणों का प्यारा बनाओ (राजसु मा प्रियं कृणु) क्षत्रिय समुदाय में मुझे प्रियता प्राप्त कराओ (उत शूद्रे) और शूद्र समाज में (उत अर्थे) तथा वणिग्वर्ग में प्यारा बनूं, इतना ही नहीं अपितु (सर्वस्य पश्यत प्रियं) सब देखनेवाले=प्राणीमात्र का मुझे प्रिय कीजिए।

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञान के स्वामिन् (उत्तिष्ठ) हमारी उन्नति कर। और (यज्ञेन) सत्कर्म के द्वारा (देवान् बोधय) विद्वानों में जागृति उत्पन्न कर। तथा (आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं च यजमानं) आयु, जीवन, संतति, पशु पालन, कीर्ति तथा सत्कर्म करनेवालों का (वर्धय) बल बढ़ाओ।

इन सूक्तों के मंत्रों में मनुष्य के अभ्युदय का स्वरूप उत्तम रीति से वर्णन किया है, (१) प्रथमतः अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की उन्नति करनी चाहिये। जिसका शरीर कमजोर है, मन निर्बल है, और बुद्धि क्षीण है, वह परोपकार के पुरुषार्थ भी उत्तमता से कर नहीं सकता। इस लिये वैयक्तिक उन्नति का प्रयत्न सब से प्रथम होना चाहिये। (२) तत्पश्चात् दीर्घ आयुष्य प्राप्त करने के लिये मानसिक और आत्मिक समता प्राप्त करनी चाहिये। इस समता से ही मनुष्य जनता के उपयोगी महत्कार्य करने योग्य बनता है। समता का भाव मन में स्थिर न रहा, तो वह मनुष्य सार्वजनिक कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। मानसिक समता और स्थिरता से शारीरिक आरोग्य और दीर्घ आयुष्य भी प्राप्त होता है। अल्पायु मनुष्य तथा अस्थिर चित्त का मनुष्य जनता के हित के काम कैसे कर सकता है? चालीस पचास वर्ष तक मनुष्य अनुभव प्राप्त करता है और पश्चात् की आयु में वह अनुभव लोगों को देता है। जो मनुष्य अल्पायु होता है, वह अनुभव प्राप्त करने की आयु में ही मरता है, इस लिये उस से कोई विशेष कार्य जनता के लाभ के लिये होना अशक्य है। अतः पुरुषार्थी मनुष्य को उचित है, कि वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के साथ अपनी दीर्घ आयु बनाने का यत्न करे। (३) इतनी योग्यता के पश्चात् वह जनता के हित के कार्य कर सकता है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के उपयोगी महत्कार्य करके, उनकी प्रीति संपादन कर सकता है। तात्पर्य सर्व जन हितकारी पुरुषार्थ करने से सब जनता उस पर प्रेम करती है, और वह लोक प्रिय बन जाता है। (४) इस समय उस के कार्य केवल जनता को संतुष्ट

करना ही नहीं होता, प्रत्युत जनता को योग्य कर्तव्य बनाने के लिये उसे उत्तम बोध भी प्राप्त करना होता है ।

अस्तु, इस प्रकार मनुष्य की क्रम से उन्नति होती है। यह मानवी उदय के स्वरूप का उपदेश इन सूक्तों का विचार करने से पाठकों को प्राप्त हो सकता है।

शुभ कर्म करने की प्रतिज्ञा।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

ऋ. १।८९।८॥

(कर्णेभि) कानों से (भद्र शृणुयाम) कल्याणमय उपदेश ही सुनें, (अक्षभि) आखों से (भद्रं पश्येम) कल्याण कारक दृश्य ही देखें। हे (यजत्रा देवा) याजक विद्वान् लोगो ! (स्थिरैः अंगैः स्थिर अंगों से युक्त (तनूभि) शरीर से (तुष्टुवांस) ईश्वर की प्रशंसा करते हुए (देवहित आयु) देवों के हित करने के लिये अपनी आयु (व्यशेम) प्राप्त करें ।

शरीर के संपूर्ण अवयवों से श्रेष्ठों की सेवा और उनका सत्कार करते हुए तथा संपूर्ण श्रेष्ठ कर्तव्यों को पूर्ण करते हुए, हम पूर्ण आयु प्राप्त करें। इस मंत्र में यद्यपि कान और आखों का ही उल्लेख है, तथापि सब अन्य अवयवों के विषय में इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये। अर्थात् अपने हर एक अवयव से शुभ कर्म करने की प्रतिज्ञा इस समय करनी चाहिये। और दक्षता के साथ व्यवहार करके उक्त प्रतिज्ञा की पूर्णता करनी चाहिये । अपने शरीर के हर एक अवयव से इस प्रकार शुद्ध कर्म करने की दक्षता जो बनायेंगे; वे ही उन्नत हो सकते हैं।

मनुष्य शरीर की कृतकृत्यता उक्त प्रकार कर्म करने से ही हो सकती है। प्रत्येक अवयव को शुभ कर्म में प्रवृत्त करने से उन्नति और अशुभ कर्म में प्रवृत्त करने से अवनति होती है, यह नियम ध्यान में रखने से मनुष्य की सदा उन्नति ही होती रहेगी।

संस्कार-प्रकरण

गर्भाधान-संस्कार

(अथर्ववेद काण्ड ६ सूक्त ८१)

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥१॥

हे पुरुष ! तू (यन्तासि) नियमों के चलाने वाला या गर्भनाशक विघ्नों का नियमन अर्थात् नाश करनेवाला है । तू (हस्तौ) अपने दोनों हाथों को (यच्छसे) सहायता के लिये देता है और (रक्षांसि) राक्षसों अर्थात् विघ्नों को (अप सेधसि) हटाता है (प्रजां) प्रजा (च) और (धन) अन्न को (गृह्णानः) प्राप्त करता हुआ (अयं) यह तू (परि हस्त) हाथ का सहारा देनेवाला (अभूत्) हो ।

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥२॥

हे (परिहस्त) हाथ का सहारा देनेवाले पुरुष ! (गर्भाय धातवे) गर्भ की पुष्टि के लिये (योनिं) स्त्री की योनि की (वि धारय) विशेष प्रकार से रक्षा कर । (मर्यादे) हे मर्यादा युक्त पत्नी ! (पुत्र) गर्भस्थ संतान को (आ धेहि) भली प्रकार पुष्ट कर । (त्व) तू (त) उस सतान को (आगमे) योग्य समय पर । (आगमय) उत्पन्न कर ।

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या ।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥३॥

(पुत्रकाम्या) उत्तम सन्तान की कामनावाली (अदिति) अखंडव्रता स्त्री ने (यं) जिस (परिहस्त) हाथ का सहारा देनेवाले पति को (अबिभः) धारण या स्वीकार किया है । (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमात्मा (तं) उस पति

को (अवभात्) नियमवद्ध करे, जिस से वह पत्नी (पुत्रं) संतान को (जनाद् इति) उत्पन्न करे।

(अथर्ववेद काण्ड ६ सूक्त १७)

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।

एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे ॥१॥

(यथा) जैसे (इयं) यह (मही) बड़ी (पृथिवी) भूमि (भूतानां) प्राणियों के (गर्भं) गर्भ को (आदधे) भली प्रकार धारण करती है (एवा) इसी प्रकार (ते) तेरा (गर्भ) गर्भ (सूतुं) सन्तान को (अनुसवितवे) अनुकूलता से उत्पन्न करने के लिये (ध्रियतां) स्थिर हो।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्।

एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे ॥२॥

(यथा) जिस प्रकार (इयं) यह (मही) बड़ी (पृथिवी) भूमि (इमान्) इन (वनस्पतीन्) वृक्षादि को धारण करती है (एवा) इत्यादि .. पूर्ववत्।

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन्।

एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे ॥३॥

जिस प्रकार यह बड़ी भूमि (पर्वतान्) पहाड़ों और (गिरीन्) पहाड़ियों को (दाधार) धारण करती है (एवा) इत्यादि पूर्ववत्।

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।

एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे ॥४॥

जिस प्रकार यह बड़ी भूमि (विष्ठितं) विविध प्रकार से स्थित (जगत्) जगत् को धारण करती है (एवा ते) इत्यादि पूर्ववत्।

(अथर्ववेद काण्ड ५ सूक्त२५)

पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम्।

शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥१॥

(शेप) जननेन्द्रिय (गर्भस्य) गर्भ में (रेतोधा) वीर्य का धारण करने वाला है। जननेन्द्रिय (योने) वीर्य के कारण रूप (पर्वतात्) मेरुदण्ड (दिव) मस्तिष्क और (अंगादंगात्) प्रत्येक अंग से (समाभृतम्) इकट्ठे

हुए वीर्य को (सरौ) बाण में (पर्णे इव) पंख की तरह (आदधत्) योनि में धारण कराता है ।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥२॥

जिस प्रकार यह बड़ी पृथ्वी भूतों के गर्भ को धारण करती है उसी प्रकार (ते) तेरा (गर्भं) गर्भ को (आदधामि) यथावत् स्थापित करता हूं । (तस्मै) उस गर्भ के लिए (अवसे) रक्षा करने के लिए (त्वां हुवे) तुझे बुलाता हूं ।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥३॥

(सिनीवालि) हे बड़ी बड़ी स्फिच या जंघावाली ! (सरस्वति) हे उत्तम ज्ञानवाली ! (गर्भं धेहि गर्भं धेहि) गर्भ को ठीक प्रकार धारण कर । (पुष्कर स्रजा) पुष्टि देनेवाले (उभा) दोनों (अश्विना) रज और वीर्य (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को (आ धत्तां) भली प्रकार पुष्ट करें ।

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥४॥

(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें । (देवः बृहस्पतिः) प्रकाशमान बड़े बड़े लोकों की रक्षक बुद्धि (गर्भं) गर्भ को (दधातु)पुष्ट करे । (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् आत्मा या मन तेरे गर्भ को पुष्ट करे । (च) और (धाता) धारण करने वाला (अग्नि) जाठराग्नि भी तेरे गर्भ को पुष्ट करे ।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥५॥

(विष्णु) सर्व व्यापक परमेश्वर (योनिं) गर्भाशय को (कल्पयतु) समर्थ करे । और वही (त्वष्टा) विश्वकर्मा ईश्वर (रूपाणि) गर्भ के आकारों को (पिंशतु) बनावे । (धाता) सबका पालन करने वाला (प्रजापति) प्रजाओं का रक्षक परमात्मा (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को (आ सिञ्चतु) सब प्रकार से सींचे और (दधातु) पुष्ट करे ।

यद्वेद राजा वरुणो यद्वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद्गर्भकरणं पिब ॥६॥

(राजा वरुण) दीप्तिमान् वरुण=योग्य पति (यद्वेद) जिस औषध को जानता है (यद्वा) अथवा जिस औषध को (देवी) दिव्य गुणवती (सरस्वती) ज्ञानवती पत्नी (वेद) जानती है (यत्) जिस औषध को (वृत्रहा) शत्रु वा रोग का नाश करने वाला (इन्द्र) ऐश्वर्यवाला वैद्य (वेद) जानता है (तत्) उस (गर्भकरणं) गर्भ जनक औषध का (पिब) पान कर ।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।

गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥७॥

हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन ! तू (ओषधीनां) औषधियों का (गर्भ) स्तुति योग्य गर्भ है, तू (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (गर्भ) ग्रहण करने योग्य आश्रय है और (विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणिमात्र का (गर्भ) आधार (असि) है (स) सो तू (इह) इस में (गर्भ) गर्भ शक्ति को (आधाः) अच्छी प्रकार धारण कर ।

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।

वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥८॥

(वृष्ण्यावन्) हे वीर्यवान् पुरुष ! (वृषासि) तू ओजस्वी है (अधि स्कन्द) उठ कर खड़ा हो (वीरयस्व) उद्यम कर और (योन्या) योनि में (गर्भ) गर्भ को (आधेहि) स्थापित कर । (प्रजायै) उत्तम सन्तान के लिये (त्वा) तुझे (आनयामसि) हम समीप लाते हैं ।

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् ।

अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥९॥

(बार्हत्सामे) हे अत्यन्त प्रिय कर्म करने वाली पत्नी ! तू (वि जिहीष्व) विशेष प्रकार से उद्योग कर । (गर्भ) गर्भ (ते) तेरे (योनिं) योनि में (आशयाम्) स्थापित हो । (सोमपः) अमृत पान करने वाले (देवा) उत्तम गुण वालों ने (उभयाविनम्) माता पिता दोनों की रक्षा करनेवाला (पुत्र) पुत्र (अदु.) दिया है ।

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।

पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥१०॥

हे (धात) पोषक परमात्मन् ! (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ (रूपेण) रूप के साथ (अस्यां) इस (नार्या) नारी की (गवीन्यां) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में

(पुमांसं पुत्रं) सन्तान को (दशमे मासि) दसवें महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (आधेहि) अच्छे प्रकार स्थापित कर ।

त्वष्टः श्रेष्ठेन०... .. ..॥११॥

हे (त्वष्ट) विश्वकर्मा परमात्मन्! (श्रेष्ठेन) इत्यादि ...पूर्ववत् ।

सवितः श्रेष्ठेन० .. . .॥१२॥

हे (सविता) सर्वोत्पादक परमात्मन्! (श्रेष्ठेन) इत्यादि पूर्ववत् ॥

प्रजापते श्रेष्ठेन०. .. . .॥१३॥

हे (प्रजापते) सृष्टि पालक जगदीश्वर! (श्रेष्ठेन) इत्यादि पूर्ववत् ।

पुंसवन संस्कार ।

(अथर्ववेद काण्ड ३ सूक्त २३)

येन वेहद्बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ।

इदं तदन्यत्र त्वदपदूरे निदध्मसि ॥१॥

हे सुभगे स्त्री! (येन) जिस कारण तू (वेहत्) वन्ध्या (बभूविथ) हो गई है, (तत्) उस कारण को हम (त्वत्) तुझ में से (नाशयामसि) नष्ट करते हैं, और (तदिद) उस वन्ध्यापन को (त्वत्) तुझ से (अप) हटा कर (दूरे) दूर (निदध्मसि) कर देते हैं ॥ १ ॥

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥२॥

हे स्त्री! (ते) तेरी (योनिं) योनि में (पुमान्) रक्षा करनेवाला (गर्भ) गर्भ (एतु) इसी प्रकार आवे, (इव) जैसे कि (बाण) तीर (इषुधिं) तरकस में। और (ते) तेरी (वीरः) पराक्रमी (दशमास्य) दस मास तक गर्भ में रही हुई (पुत्र) सन्तान (जायताम्) उत्पन्न हो–पैदा हो ॥ २ ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।

भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥३॥

हे स्त्री! तू (पुमांस) रक्षा करनेवाली (पुत्रं) सन्तान को (जनय) उत्पन्न कर और फिर (तमनु) उस के बाद भी (पुमान्) पुत्र (जायताम्)

पैदा हो। और तू (जातानां) उत्पन्न हुई वर्तमान और उन सन्तानों की (यान्) जिन्हें कि तू (जनया) भविष्य में पैदा करेगी (माता) माता (भव) हो ॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥४॥

हे स्त्री ! (यानि) जिन (भद्राणि) उत्तम (बीजानि) सन्तानों को (ऋषभा) वृषभ के सदृश बलवान् पुरुष (जनयन्ति) पैदा करते है, (तै) उन मनुष्यों के द्वारा तू भी (पुत्रं) उत्तम संतान की (विन्दस्व) प्राप्ति कर। और तू (प्रसू) उत्तम सन्तान को उत्पन्न करने वाली (धेनुका) गाय की तरह (भव) हो ॥ ४ ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते । विन्दस्व
त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥५॥

हे स्त्री ! मैं (ते) तेरा (प्राजापत्यं) सन्तानोत्पत्ति कर्म-पुंसवन संस्कार (कृणोमि) करता हूं, जिससे (ते) तेरा (गर्भ) गर्भ (योनिं) योनि में (आ एतु) आ जावे। हे (नारि) नारि ! (त्व) तू ऐसी (पुत्रं) सन्तान को (विन्दस्व) प्राप्त कर (य) जो (तुभ्यं) तुझे (शम्) शान्ति (असत्) दे और (त्वं) तू भी (तस्मै) उसके लिए (शम्) शान्ति देनेवाली (भव) हो ॥ ५ ॥

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥६॥

हे स्त्री ! (यासां) जिन (वीरुधां) औषधियों का (द्यौ पिता) द्युलोक पिता है, (पृथिवी माता) पृथिवी लोक माता और (समुद्र मूलं) समुद्र मूल आधार (बभूव) है, (ता) उन औषधियों को मैं तुझे (पुत्र-विद्याय) पुत्र लाभ के लिये देता हूं। वे (दैवी) दिव्य गुणवाली (ओषधय) औषधियां तेरी (प्र अवन्तु) रक्षा करें ॥ ६ ॥

(अथर्व वेद काण्ड ६ सूक्त ११)

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥

(अश्वत्थ.) घोड़े के सदृश बलवान् मनुष्य (शमीं) शान्त स्वभाव

वाली स्त्री [illegible] ([illegible]है) आरोहण कर चुका है, (तत्र) इस लिये यह (पुंसवन [illegible] (पुमवे [illegible] (माम [illegible])कार (कृतम्) किया गया है। (तत् वै) यह संस्कार ही [illegible] स्य वेदनं) [illegible]ज्ञान प्राप्ति कराने वाला है। (तत्) वही संस्कार हम (स्त्रीषु) स्त्रियों का (आभरामसि)करते हैं ॥ १ ॥

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते।

तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥

पहले (रेत) वीर्य पुसि) मनुष्य में (वै) ही (भवति) होता है, (तत्) वह (अनु) पीछे स (स्त्रिया) स्त्री में (षिच्यते) सींच दिया जाता है। (तत् वै) वह ही (पुत्रस्य) सतान की (वेदनं) प्राप्ति करानेवाला होता है (तत्) ऐसा (प्रजापति) प्रजापति परमात्माने (अब्रवीत्) कहा है ॥ २ ॥

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्।

स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥३॥

(प्रजापति) प्रजाओं का स्वामी परमात्मा (स्त्रैषूय) स्त्री प्रसव सबंधी निमित्त को (अन्यत्र) और स्थान पर (उ) और (पुमास) उत्पादक शक्ति को (इह) मनुष्य में (दधत्) धारण करता है। और फिर गर्भ को (अनुमति) पति की आज्ञा के अनुसार चलनेवाली और (सिनीवाली) स्नेह करने वाली स्त्री (अचीक्लृपत्) अपने अन्दर बनाती है ॥३॥

सीमन्तोन्नयन संस्कार

(ऋग्वेद मण्डल २ सू० ३२ मंत्र ४)

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा

बोधतु त्मना। सीव्यत्वपः सूच्याऽच्छिद्यमानया

ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥

(अहं) मैं (राकां) दान देनेवाली (सुहवां) अच्छी प्रकार से बुलाए जाने योग्य स्त्री को (सुष्टुती) अच्छी स्तुति द्वारा (हुवे) बुलाता हूं और वह

(सुभगा) उत्तम ऐश्वर्य वाली (नः शृणोतु) मेरे आह्वान को सुने और (त्मना) अपने आत्मा से (बोधतु) मुझे अच्छी प्रकार समझे। और वह हमारे (अप) प्रजनन कर्म को (अच्छिद्यमानया सूच्या) बारीक सुई से जैसे वस्त्र के छिद्रों को सींकर पूरा कर लेते है ऐसे ही वह भी इसे (सीव्यतु) अच्छे प्रकार सी दे और (वीरं) बलवान् (शतदायं) सैकड़ों प्रकार से दानादि देनेवाले (उक्थ्यम्) प्रशसनीय पुत्र मुझे (ददातु) दे।

जातकर्म संस्कार।

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः।

एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः॥ ऋ. ५।७८।७॥

हे वधू! (यथा) जैसे (वातः) वायु (सर्वत) सब तरफ से (पुष्करिणीं) नदी आदि को (समिङ्गयति) अच्छी तरह चलाता है (एवा) ऐसे ही (ते गर्भ) तेरा गर्भ (एजतु) हिले, चले तथा फिर और ईश्वर करे कि (दशमास्य) दशमास का होकर (निरैतु) बाहर निकले।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।

एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥ ऋ. ५।७८।८॥

हे (दशमास्य) दसमास तक रहने वाले गर्भस्थ जीव! (यथा वातः) जैसे स्वतंत्रता से वायु (एजति) चलता है (यथा वनं) जैसे वन सेवनीय होता है, (यथा समुद्र) जैसे समुद्र गाम्भीर्य और धैर्य के साथ चलता है, (एवा) ऐसे ही (त्वम्) तू (जरायुणा) जरायु=गर्भ के ढकने वाले चमड़े के साथ (अवेहि) प्राप्त हो।

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।

निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥ ऋ.५।७८।९॥

हे परमात्मन्! (दशमासान्) दस महीने तक (अधि मातरि) माता के उदर में (शशयान) सोनेवाला (कुमार जीव) सुकुमार जीव (जीव) प्राण धारण करता हुआ (जीवन्त्या अधि) जीती हुई अपनी माता से (अक्षतः) विना किसी दुःख के अर्थात् सुख पूर्वक (निरैतु) बाहर निकले।

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥ य. ८।२८॥

(दशमास्य) दश मास रहने वाला (गर्भ) गर्भ (जरायुणा सह) जरायु के साथ (एजतु) बढ़े। (यथा) जैसे (अयं वायु) यह वायु (एजति) चलता है और (यथा समुद्र एजति) जैसे समुद्र चलता है (एव) ऐसे ही (अयम्) यह (दशमास्य) दस मास रहनेवाला गर्भ (जरायुणा सह) जरायु के साथ (अस्रत) उत्पन्न हो।

(अथर्व वेद काण्ड १ सू० ११)

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥१॥

हे (पूषन्) सब के पालन करनेवाले परमेश्वर! (अस्मिन्) इस (सूतौ) पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर (अर्यमा) न्यायकारी, श्रेष्ठ पुरुषों का मान करने वाला और (वेधा) अत्यन्त बुद्धि सपन्न (होता) ऋत्विक (ते) तेरे लिये (वषट्) सुन्दर आहुति (कृणोतु) देवे। हे परमेश्वर! (ऋत प्रजाता) सत्य गर्भवाली अथवा पूर्ण गर्भवाली (नारी) स्त्री सुखपूर्वक (वि सिस्रताम्) गर्भ का मोचन करे। (उ) और (सूतवे) सन्तान के उत्पन्न करने के लिये, इस के (पर्वाणि) सब अंगों के जोड़ (वि जिहताम्) कोमल और ढीले हो जावें॥१॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे॥२॥

(दिव) आकाश की (चतस्र) चारों (उत) और (भूम्या) पृथिवी की (चतस्र) चारों (प्रदिश) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुणवाले [अग्नि, वायु आदि] देवों ने इस (गर्भ) गर्भ को (समैरयन्) बनाया और पुष्ट किया है, वे सब दिशाएं और देव (तं) उस पुष्ट गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) जरायु से मुक्त करें।

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज॥३॥

(सूषा) सन्तान उत्पन्न करने वाली नारी, अपने अंगों को (व्यूर्णोतु) भली भांति कोमल करे और हम उस के लिये (योनिं) प्रसूति के गृह को (विहापयामसि) प्रस्तुत करते हैं। हे (सूषणे) हे बालक को उत्पन्न करने वाली नारी! तू (श्रथय) प्रसन्न हो, हे (विष्कले) वीर स्त्री! तू (अवसृज) सन्तान को पैदा कर।

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम्। अवैतु
पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥४॥

(वह जरायु) (नेव) न तो (मांसे) मास में (न) नहीं (पीवसि) शरीर की मोटाई बढ़ाने वाली वस्तु से, और (नेव) नहीं (मज्जसु) मज्जामें (आहतम्) बंधी हुई है। वह (शेवल) सेवार अर्थात् काई घास के समान (पृश्नि जरायु) सफेद जरायु (शुने) कुत्ते के (अत्तवे) खानेके लिये (अव) नीचे (एतु) आवे (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे।

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातॅरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाऽव जरायु
पद्यताम् ॥५॥

प्रसूता के प्रति धायी कहती है, कि हे बच्चा देनेवाली स्त्री! मैं (ते) तेरे (मेहनम्) गर्भ मार्गको (वि) विशेष कर और तेरी (योनिम्) गर्भाशय को (वि) विशेष कर तथा तेरे (गवीनिके) योनि के पार्श्ववर्तिनी दोनों नाड़ियों को (वि) विशेष कर (भिनद्मि) विदारण करती हूं, ताकि गर्भ सरलता से बाहर निकल जावे। (च) और (जरायुणा) जरायु से (मातरम्) माता को (च) और (कुमारम्) अत्यन्त सुकोमल (पुत्रम्) पुत्र को (विवि-भिनद्मि) विशेष कर अलग करती हूं, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे अर्थात् संपूर्ण जरायु गर्भाशय से बाहर निकल जावे ॥ ५ ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु
पद्यताम् ॥६॥

गर्भ को शीघ्राति शीघ्र निकलना चाहिये, इस बात को दृष्टान्तों द्वारा वेद भगवान् समझाते हैं—

(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु (शीघ्र चलता है) और (यथा) जैसे (मनः) मन शीघ्र चलता है और (यथा) जिस प्रकार (पक्षिणः) पक्षी अति शीघ्र आकाशमें (पतन्ति) उड़ते हैं, (एव) वैसे ही, हे (दशमास्य) दस मास गर्भ वाले बालक ! (त्वं) तू (जरायुणा) जरायु के (साकं) साथ (पत) शीघ्र नीचे आ, (जरायु) अब (नीचे) पद्यताम् गिर जावे ॥ ६ ॥

इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य

मध्ये । उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सद-

नमा विशस्व ॥ य. १७।८७॥

हे (अग्ने) अग्नि तुल्य तेजस्वी बालक ! तू (सरिरस्य मध्ये) लोगों अर्थात् सम्बन्धियों के बीच में वर्तमान होकर (अपां प्रपीनम्) जलीय रसों से स्थूल हुए (ऊर्जस्वन्तं) बल देनेवाले (इमं स्तनम्) इस स्तन को (धय) पी। (मधुमन्तं उत्सं) सुस्वादु पदार्थ के तुल्य इस स्तन को समझ कर (जुषस्व) सेवन कर, इसके सेवन से (अर्वन्) हे शक्तिशील होनेवाले बालक ! (समुद्रियम्) समुद्र अन्तरिक्ष लोक सम्बन्धी (सदनम्) सब ज्ञान को तू (आ विशस्व) ईश्वर की कृपा से प्राप्त कर ।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः

सुदत्रः । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति

तमिह धातवेऽकः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ य. ३८।४॥

हे (सरस्वति) बहुत ज्ञान संपन्न स्त्री ! (ते यः स्तनः) तेरा जो स्तन (शशयः) शरीर में वर्तमान है (यः मयोभूः) जो सुख देनेवाला है (येन) जिस स्तन से (विश्वा वार्याणि) बालकके समस्त स्वीकरणीय अगों को तू (पुष्यसि) पुष्ट करती है (यः रत्नधाः) जो दुग्ध रूप रत्न का धारण करनेवाला है, (वसुविद्) दुग्ध रूप धन को बालक के लिये प्राप्त कराता है (यः सुदत्रः) जो बालक को दुग्ध का उत्तम दान देनेवाला है (तम्) उस बालोपकारी स्तन को (धातवे) बालक के पीने के लिये (अकः) कर ।

नामकरण संस्कार ।

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।

यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ।

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬसुवीरो वीरैः

सुपोषः पोषैः ॥ य. ७।२६॥

हे बालक ! (कोऽसि) तू प्रकाशरूप हो, (कतमोऽसि) अतिशय प्रकाशरूप हो, (कस्यासि) परमात्माका है, (को नामासि) तू आत्मनामवाला है, (यस्य ते) जिस तेरे (नाम) नाम को हम (अमन्महि) जानते हैं, (यं त्वा सोमेन) जिस तुझको शान्तिदायक पदार्थोंसे (अतीतृपाम) हम तृप्त करते हैं, [परमात्मा करे कि तू भी हमें तृप्त करे, यह शेष है] (भू , भुव , स्व) अनेक गुणयुक्त परमात्माकी कृपासे (प्रजाभि) सन्तानोंसे, मैं (सुप्रजाः) सुन्दर सन्तान वाला (स्याम्) होऊं, (वीरैः) वीर सन्तानोंसे, (सुवीरः) अच्छे वीरोंसे युक्त होऊं (पोषैः) अन्य पोषणीय भृत्यादिसे (सुपोषः) सुन्दर पोषण, रक्षा करने वाला होऊं।

निष्क्रमणसंस्कार ।

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ ।

शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे । शिवा

अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ अ. ८।२।१४॥

हे बालक ! (ते) तेरे निष्क्रमण कालमें (द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा पृथिवी लोक (शिवे) कल्याणकारी (असन्तापे) दुःख न देनेवाले तथा (अभिश्रियौ) शोभा और ऐश्वर्य देनेवाले होवें। (सूर्यः) सूर्य (ते) तेरे लिये (शं आतपतु) कल्याण का प्रकाश करे। (वात) वायु (ते हृदे) तेरे हृदयके लिये=मनकी अनुकूलता के लिये (शं वातु), कल्याण कारी होकर बहे। (दिव्या पयस्वती आपः) दिव्य गुणयुक्त और स्वादु जल (त्वा) तेरे प्रति (शिवा) कल्याण कारी होकर (अभि क्षरन्तु) बहें।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां

पृथिवीमभि । तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसा-

वुभा ॥ अ. ८।२।१५॥

हे बालक ! (ते) तेरे लिये (ओषधयः) औषधियँ (शिवा) कल्याणकारी हों ! (उत्) और (त्वा) तुझ को (अधरस्या भूम्याः) अन्दर से (उत्तरस्यां पृथिवीमभि) बाहर (आहार्षम्) लाया हूं । (आदित्यौ) प्रकाशमान् (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (उभौ) दोनों (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें ॥

अन्नप्राशनसंस्कार ।

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ अ. ८।२।१८॥

हे बालक ! (ते) तेरे लिए (व्रीहियवौ) जौ और चावल (शिवौ) कल्याणकारी (अबलासौ) बलकारी और (अदोमधौ) मधुर स्वाद वाले (स्तां) हों । (एतौ) ये जौ और चावल (यक्ष्म) रोग को (विबाधेते) नहीं होने देते, तथा (अंहस) रोग से प्राप्त दुःख से (मुञ्चत) छुड़ा देते हैं; उसे दूर कर देते हैं ।

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥अ.८।२।१९॥

हे बालक ! (यत् कृष्या धान्यं) जो कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न तू (अश्नासि) खाता है, तथा (यत्पय पिबसि) जो पेय पदार्थ पीता है। (यदाद्यं) जो भक्ष्य है, तथा पुराना होने से जो (अनाद्यं) अभक्ष्य भी है (सर्वं ते अविषं कृणोमि) वह सब तेरे लिये रोग रहित होकर अमृत हो।

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥
य. ११।८३॥

हे (अन्नपते) अन्न के स्वामी परमात्मा ! (अनमीवस्य) रोग रहित (शुष्मिणः) बलकारक (अन्नस्य) अन्न को (नः) हमारे लिए (देहि) दीजिए, (प्र तारिष) बढ़ाइये, (नः) हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) भृत्यों और गो आदि पशुओं के लिए भी (ऊर्जं) बल कारक अन्न को (धेहि) दीजिए ।

मुंडनसंस्कार।

(अथर्व वेद का० ६ सू० ६८)

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य
राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥१॥

(अयम्) यह (सविता) सर्व प्रकार के साधनों से युक्त नापित (क्षुरेण) उत्तम छुरे को लेकर (आ+अगन्) आ पहुंचा है। हे (वायो) शीघ्र गति वाले पुरुष! शीघ्रता से (उष्णेन उदकेन) गर्म जल लेकर (एहि) आ। (आदित्याः) ज्ञान के प्रकाशक (रुद्रा) दुष्टों को रुलाने वाले तथा (वसवः) ऐश्वर्य से युक्त (प्रचेतस) विद्वान् लोग (सचेतस) अपने अनुकूल चित्त वाले (सोमस्य) शान्त आत्मा वाले तथा (राज्ञ) दीप्ति युक्त बालक का (वपत) मुंडन करावें ॥ १ ॥

अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥२॥

(अदितिः) अखण्डित अर्थात् तेज़ छुरा (श्मश्रु) केशों को (वपतु) काटे। (आपः) जल (वर्चसा) वेग युक्त स्वभाव से (उन्दन्तु) केशों को गीला करे। (प्रजापति) सन्तान का पालक पिता (दीर्घायुत्वाय चक्षसे) इस बालक के दीर्घ जीवन तक देखने के लिए (चिकित्सतु) रोग को निवृत्त करे।

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य
विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववा-
नयमस्तु प्रजावान् ॥३॥

(येन) जिस प्रकार के (क्षुरेण) छुरे से (सोमस्य राज्ञः) शान्त स्वभाव राजा का तथा (वरुणस्य) श्रेष्ठ गुण युक्त पुरुषों का (सविता विद्वान्) सब प्रकार के साधनों से संपन्न और वपन क्रिया को अच्छी प्रकार जानने वाला नाई मुण्डन करता है (तेन) उसी तरह छुरे से हे (ब्रह्माण) ब्राह्मणो! (अस्य) इस बालक के (इदं) इन केशों को (वपन) कटवाओ (अयं) यह बालक (गोमान् अश्ववान्, प्रजावान्) गाय घोड़ा इत्यादि पशु एवं समृद्धि

युक्त तथा उत्तम सन्तान वाला (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

कर्णवेधसंस्कार।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्य-
जत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देव-
हितं यदायुः ॥ य. २५।२१॥

(यजत्राः) हे संग करने वाले (देवाः) विद्वानो ! हम (कर्णेभिः) कानों से (भद्रम्) अच्छे वचन को (शृणुयाम) सुनें, (अक्षभिः) आंखों से (भद्रम्) कल्याण को (पश्येम) देखें, (स्थिरैः) दृढ़ (अंगैः) अंगों से (तुष्टुवांसः) स्तुति करते हुए (तनूभिः) शरीरों से (यत्) जो (देव हितम्) विद्वानों के लिये सुखकारी (आयुः) अवस्था है उसको (व्यशेमहि) प्राप्त हों।

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳसखायं परिष-
स्वजाना। योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वन् ज्या इय-
ꣳसमने पारयन्ती ॥ य. २९।४०॥

हे वीर पुरुषो ! (अधि धन्वन् वितता) पार लगाने वाली (इयं ज्या) यह प्रत्यंचा (वक्ष्यन्ति इव इत्) जैसे कुछ कहती हुई भी है वैसे (कर्णं) कर्ण को (आगनीगन्ति) प्राप्त होती है, और (प्रियं सखायं) प्यारे पति को (परिषस्वजाना) आलिंगन करने वाली (योषा इव) योषा की भांति (शिङ्क्ते) कुछ अव्यक्त शब्द करती है।

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्त्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ अ. ६।१४१।२॥

(लोहितेन स्वधितिना) धातु के शस्त्र से (कर्णयो मिथुनं कृधि) दोनों कानों को छेद, (अश्विना) वैद्य (लक्ष्म) उस शोभावर्धक कार्य्य को (अकर्त्ताम्) करें, (तत्) वह (प्रजया बहु अस्तु) प्रजा के कल्याण का निर्वाह करने वाला हो।

उपनयनसंस्कार ।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति
देवाः ॥ अ. ११।(५)७।३॥

इसका अर्थ ब्रह्मचर्य प्रकरण में देखिए ।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् ।
यथेह पुरुषोऽसत् ॥ य. २।३३॥

हे (पितर) विद्या दान से रक्षा करने वाले पुरुषो ! तुम (यथा) जिस प्रकार यह ब्रह्मचारी (इह) इस संसार या हमारे कुल में शारीरिक और आत्मिक बल प्राप्त कर विद्या और पुरुषार्थ युक्त (पुरुष असत्) मनुष्य होवे, उस प्रकार (गर्भं) गर्भ के समान कोमल, (पुष्करस्रजम्) विद्या ग्रहण के लिये पुष्पों की माला धारण किये हुए इस (कुमारं) ब्रह्मचारी को (आधत्त) स्वीकार करो ॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो
युयोज । यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमि-
च्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥ अ. ६।१३३।१॥

(य देव) जिस विद्वान् आचार्य ने (नः) हमारे (इमा) यह (मेखला) मेखला (आबबन्ध) अच्छी प्रकार बांधी है (य संननाह) जिसने सजाई है (उ) और (य युयोज) जिसने सयुक्त की है (यस्य देवस्य) जिस विद्वान् के (प्रशिषा) उत्तम शासन से (चरामः) हम विचरते हैं (स) वह (नः) हमें (पारम्) पार (इच्छात्) लगावे (स उ) वह ही कष्ट से (विमुञ्चात्) मुक्त करे ॥

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ अ. ६।१३३।२॥

(मेखले) हे मेखला ! तू (आहुता) यथा विधि दान की गई (असि) है (ऋषीणाम्) धर्ममार्ग बताने वाले ऋषियों का (आयुधम्) शस्त्र रूप

(असि) है । (व्रतस्य) उत्तम व्रत वा नियम के (पूर्वा) पहिले (प्राश्नती) व्याप्त होने वाली और (वीरघ्नी) वीरों को प्राप्त होने वाली तू (भव) हो ।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ अ. ६।१३३।३॥

(भूतात्) प्राप्त (मृत्योः) मृत्यु से (पुरुषं) इस पुरुष आत्मा को (निर्याचन्) बाहर निकलता हुआ (अहं) मैं (यमाय) नियम पालन के लिए (यत्) जो (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अस्मि) हूं (तं) वैसे (एनं) इस आत्मा को (ब्रह्मणा) वेदज्ञान, (तपसा) तप योगाभ्यास और (श्रमेण) परिश्रम के साथ (अनया मेखलया) इस मेखला से (अहं) मैं (सिनामि) बांधता हूं ।

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव । सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ अ. ६।१३३।४॥

यह मेखला (श्रद्धाया) श्रद्धा [आस्तिक बुद्धि विश्वास] की (दुहिता) पूरण करने हारी यहा पुत्री समान प्रिय (तपसः) तप=योगाभ्यास से (अधि) अच्छे प्रकार (जाता) उत्पन्न हुई (भूतकृताम्) सत्य कर्मी (ऋषीणां) ऋषियों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने हारी अथवा बहिन के समान हितकारिणी (बभूव) हुई है । (सा) सो तू (मेखले) हे मेखला ! (नः) हमें (मतिं) मनन शक्ति और (मेधां) निश्चयात्मिका बुद्धि (आ) सब ओर से (धेहि) दान कर (अथो) और भी (नः) हमें (तपः) योगाभ्यास (च) और (इंद्रियम्) इन्द्र का चिन्ह=पराक्रम वा ऐश्वर्य (धेहि) दान कर ॥ ४ ॥

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे ।
सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥
अ. ६।१३३।५॥

(यां त्वा) जिस तुझको (पूर्वे) पहिले (भूतकृत) सत्यकर्मी (ऋषयः) ऋषियों ने (परि बेधिरे) चारों ओर बांधा था, (सा त्वं) सो तू (मेखले) हे मेखले ! दीर्घायु के लिये (मां) मुझ से (परि) सब ओर से (ष्वजस्व) चिपट जा ॥ ५ ॥

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा

पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोका-

स्तपसा पिपर्ति ॥ अ. ११।७।४॥

(इयं) यह पहिली (समित्) समिधा (पृथिवी) पृथिवी, (द्वितीया) द्वितीय दूसरी समिधा (द्यौ) द्युलोक, (उत) और (अंतरिक्षं) अंतरिक्ष को तीसरी (समिधा) समिधा से (पृणाति) वह पूर्ण करता है। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) समिधा से=यज्ञानुष्ठान से, (मेखलया) मेखलासे=कटिबद्ध होने से, और (श्रमेण) परिश्रम से तथा तप से (लोकान्) सब लोगों को (पिपर्ति) पालता है।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।

सनिं मेधामयासिषᳬस्वाहा। य. ३२।१३॥

(सदसस्पतिं) समूह वा ज्ञान के पति को (अद्भुतं) आश्चर्य रूप (प्रियं) आनन्द रूप (इन्द्रस्य काम्यं) जीव मात्र के अभिलषणीय ईश्वर को तथा (सनिं) विवेचना शक्ति देनेवाली (मेधां) शुद्ध बुद्धि को मैं (अयासिषम्) प्राप्त होऊं

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवि-

तम्। शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव

शचीपतिः ॥ अ. ६।१३४।१॥

(अयं) यह धारण किया (वज्र) दण्ड-कामक्रोधादि युक्त शत्रु को मारने वाला (ऋतस्य) ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ के सामर्थ्य से (तर्पयताम्) तृप्त होवे अर्थात् इसकी शक्ति का पराभव कोई न कर सके (स वज्र) वह मेखला दण्ड (अस्य) काम क्रोधादि युक्त पुरुष के (राष्ट्रं) राज्य को (अपहन्तु) नष्ट करे और (ग्रीवा शृणातु) गले की हड्डियों को छिन्नभिन्न करे (उष्णिहा) उत्स्नात स्थान में रहने वाली धमनि को (प्रशृणातु) छिन्नभिन्न करे। (इव) जिस प्रकार (शचीपति) बुद्धिमान् मनुष्य (वृत्रस्य) क्रोधादि युक्त पुरुष को ब्रह्मचर्य के द्वारा नाश करता है।

अधरोधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत्।

वज्रेणावहतः शयाम् ॥ अ. ६।१३४।२॥

(उत्तरेभ्यो) उत्कृष्टतर मनुष्यों से (अधरोधरः) अत्यन्त निकृष्ट

आदमी (गूढ़ः) छिपा हुआ पृथिवी के अन्दर निमग्न हुआ उस (पृथिव्या) पृथिवी के पास से (मा उत्सृपत्) पुनः ऊपर न उठे। (वज्रेण) इस दण्ड से (अवहत) चूर चूर कर दिया गया (शयाम्) सो जाय अर्थात् मर जावे। इस मेखला दण्ड के सामर्थ्य से काम क्रोधादि शत्रुओं का बिलकुल नाश कर दे।

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥

अ. ६।१३४।३॥

(यः) जो शत्रु=कामक्रोधादि (जिनाति) हानि पहुंचाता है, [हे वज्र] हे दण्ड ! तू (तं) उस शत्रु को (अन्विच्छ) उसकी खोज कर। तथा (यो जिनाति) जो हानि पहुंचाता है, (तं इत्) उस को ही (जहि) मारो। (जिनतः) हानि पहुंचाने वाले शत्रु के (सीमन्तम्) शिर के मध्य देश को (अन्वञ्चम्) अनुकूल गतियुक्त करके (अनुपातय) गिरा दो।

समावर्तनसंस्कार ।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि सं
यन्ति देवाः ॥ अ. ११।(५)७।३॥

इस मन्त्र के अर्थ ब्रह्मचर्य प्रकरण में देखिए।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो
दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोका-
न्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ अ. ११।(५)७।६॥

(समिधा समिद्धः) तेज से प्रकाशित (कार्ष्णं वसानः) कृष्ण चर्म धारण करता हुआ (दीक्षित) व्रत के अनुकूल आचरण करने वाला, और (दीर्घश्मश्रुः) बड़ी बड़ी मूछों वाला (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है। (सः) वह (लोकान् संगृभ्य) लोगों को इकट्ठा करता हुआ, (मुहुः)

बारम्बार उनको (आचरिकत्) उत्साह देता है और (पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रं) पूर्व से उत्तर समुद्र तक (सद्य एति) शीघ्र ही पहुंचता है।

तानि कल्पद्ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्
तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां
बहु रोचते ॥ अ. ११।(५)७।२६॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तानि) उनके विषयमें अर्थात् चक्षु श्रोत्र आदि की न्यूनता के विषयमें किये गये प्रश्नों के विषय (कल्पत्) योजना करता है, उन प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर देता है। अथवा इन सब अंगों की कमियों को पूर्ण करता हुआ ब्रह्मचारी (सलिलस्य पृष्ठे) नदीके किनारे (तप अतिष्ठत्) तप करता है। (सः स्नात) वह ब्रह्मचारी समावर्तन स्नान करके (बभ्रु) धारण-शक्तिसंपन्न और (पिंगल) दीप्तिमान् होकर (समुद्रे तप्यमान) ज्ञान समुद्र में तपस्या करने के कारण (पृथिव्या बहु रोचते) पृथिवी में बहुत शोभित होता है।

बभ्रु =धारण करने की शक्तिवाला। पिङ्गलः=दीप्त, बलवान।

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति
जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३-
मनसा देवयन्तः ॥ ऋ. ३।८।४॥

जो पुरुष (परिवीत) सब ओर से यज्ञोपवीत, ब्रह्मचर्य सेवन से उत्तम विद्या और शिक्षा से युक्त (सुवासा) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ (युवा) पूर्ण ज्वान होकर विद्या ग्रहण कर गृहाश्रम में (आगात्) आता है (स उ) वही दूसरे विद्याजन्म में (जायमान) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त, मंगलकारी (भवति) होता है (स्वाध्य) अच्छे प्रकार ध्यान युक्त (मनसा) विज्ञान से (देवयन्त) विद्या वृद्धि की कामना करने वाले (धीरास) धैर्य युक्त (कवयः) विद्वान् लोग (तं) उसी पुरुष को (उन्नयन्ति) उन्नति-शील करते हैं।

विवाहसंस्कार।

ब्रह्मचर्येण कन्या३युवानं विन्दते पतिम्।

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥

अ. ११।५(७)१८॥

(ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचारिणी (कन्या) कुमारी (युवानं पतिं विन्दते) ब्रह्मचर्य्यसंपन्न युवा पति को प्राप्त करती है। (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य्य बलसे संपन्न होने पर ही (अनड्वान् अश्वः) वृषभ और अश्व सञ्ज्ञक पुरुष (घासं जिगीर्षति) भोग्य पदार्थों का भोग कर सकते हैं।

(ऋ० मंडल १० सू० १८३)

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो

विभूतम् । इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व

प्रजया पुत्रकाम ॥१॥

हे वर ! (चेकितानं) ज्ञान युक्त (तपसो जातम्) ब्रह्मचर्यरूपी तप से उत्पन्न अर्थात् ब्रह्मचारी (तपसो विभूतम्) ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा शरीर-सौन्दर्यादिविभूतिमान् (त्वाम्) तुझ को मैंने अपने (मनसा) मन से (अपश्यम्) देख लिया है, तुझे प्राप्त करने की मेरी इच्छा है। हे (पुत्रकाम) सन्तान चाहने वाले वर ! (इह प्रजाम्) इस लोक में सन्तान और (रयिं) धन का (रराणः) आनन्द लेता हुआ (प्रजया प्रजायस्व) सन्तान रूप में पैदा हो अर्थात् सन्तानोत्पत्ति कर।

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये

नाधमानाम् । उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व

प्रजया पुत्रकामे ॥२॥

हे वधू ! (दीध्यानां) सौन्दर्य युक्त (स्वायां तनू) अपने शरीर का (ऋत्व्ये नाधमानाम्) ऋतु कालीन संयोग चाहती हुई (त्वाम्) तुझ को (मनसा अपश्यम्) मैं मन से चाहता हूं। हे (पुत्रकामे) सन्तान चाहने वाली वधू ! (उच्चा युवति) अत्यन्त तरुणावस्था सम्पन्न तू (मामुप बभूया) मुझे विवाह द्वारा प्राप्त कर और (प्रजया प्रजायस्व) सन्तानोत्पत्ति कर।

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः । अहं

प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥३॥

ईश्वर कहता है कि (अहं ओषधीषु गर्भमदधाम्) मैंने वनस्पतियों में फल आदि के लिए गर्भ स्थापन किया है। (अहं विश्वेषु भुवनेषु अन्त)

सब लोकों में मैंने ही गर्भ स्थापित किया है। (अहम् पृथिव्यां प्रजा अजनयम्) पृथिवी पर प्रजायें मैंने ही उत्पन्न की हैं। तथा (अभिभ्य) प्रजनन किया द्वारा (अपरीषु पुत्रान् अजनयम्) स्त्रियों में पुत्र उत्पन्न कराता हूं। अर्थात् हे मनुष्यो! तुम अपनी शक्तियों से ही सन्तानोत्पत्ति किया करो ॥३॥

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥ ऋ. १०।२७।१२॥

(वधूयो) विवाह करने की इच्छा वाले (मर्यत) मनुष्य के (वार्येण) श्रेष्ठ (पन्यसा) स्तुति या यश से (कियती योषा) कितनी स्त्रियां (परिप्रीता) आकृष्ट हो जाती हैं, (यत्=या) जो (वधू) स्त्री (भद्रा) कल्याण चाहने वाली तथा (सुपेशाः) सुन्दर रूपवाली (भवति) होती है (सा चित्) वह (जने चित्) जन समुदाय या सभा के बीच में (मित्रं) अपने स्नेही पति को (वनुते) चुनती है ॥

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः। नव्या नव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ऋ. ३।५५।१६॥

(अप्रदुग्धाः) जो दुही नहीं हैं ऐसी (धेनव) गौओं की तरह अविवाहित, (अशिश्वीः) बालकावस्था से रहित (सबर्दुघाः) सब उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करने वाली (शशया) कुमारावस्था को उल्लंघन कर (युवतय) यौवनावस्था को प्राप्त (भवन्ती) होती हुई (नव्या नव्या) नवीन २ शिक्षासे युक्त (देवानां एकं महत् असुरत्वम्) विद्वानों द्वारा दिए गये विज्ञान को प्राप्त-पूर्ण शिक्षित युवतियां (आधुनयन्ताम्) गर्भ धारण करें। युवा वस्था में ही स्त्रियों का विवाह होना चाहिए।

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः। अ.१४।१।१७॥

(सुबन्धुम्) उत्तम बन्धु (पतिवेदनम्) रक्षक पति के समान ज्ञान कराने वाले या देनेवाले अथवा रक्षा करने वाले, दवाई को देनेवाले (अर्यमणं) न्यायकारी परमात्मा को (यजामहे) हम पूजते हैं। (उर्वारुकमिव) खरबूजा जैसे (बन्धनात्) लता बन्धन से पक कर बिना प्रयत्न से अलग

होजाता है । वैसे वधू को (इत) पितृकुल से (प्रमुञ्चामि) छुड़ाता हूं (अमुत) इस पतिगृह से (न) नहीं छुड़ाता ।

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।

यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ अ. १४।१।१८॥

(इत) इस पितृगृह से इस वधू को (प्रमुञ्चामि) छुड़ाता हूं । (अमुत) उस पतिगृह से (न) नहीं । (अमुत सुबद्धां करम्) पति गृह से अच्छी तरह बद्ध करता हूं । (यथा) जिससे (मीढ्व) हे सुख की वर्षा करने हारे (इन्द्र) परमेश्वर ! (इयं) यह वधू (सुपुत्रा) अच्छी सन्तान वाली और (सुभगा) बड़े ऐश्वर्य वाली (असति) होवे ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।

उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ य. ३।६०॥

(सुगन्धिं पतिवेदनम्) उत्तम बन्धु और रक्षक स्वामी को देने वाले (त्र्यम्बकं) सब के अध्यक्ष परमात्मा की हम (यजामहे) निरन्तर पूजा करते हैं । (उर्वारुकमिव ... मा अमुत) यह इस स्त्री को ला तावन्धन से पके खरबूजे की तरह पितृगृह से छुड़ाता है और पतिगृह से नहीं छुड़ाता ॥

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टि-र्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गा-र्हपत्याय देवाः ॥ अ. १४।१।५०॥

हे वरानने ! मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये तेरे (हस्तं) हाथ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (जरदष्टिः) वृद्धावस्था तक सुख पूर्वक (असः) निवास कर । (भग) ईश्वर (पुरन्धि) सब का धारण करने हारा (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सबका उत्पादयिता परमात्मा तथा (देवाः) ये सभा मण्डप में स्थित विद्वान् आज (त्वा) तुझे (मह्यं) मेरे लिये (अदु) समर्पित करते हैं ।

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ अ. १४।१।५१॥

हे वरानने ' (भग) ऐश्वर्य युक्त मैं (ते हस्तं अग्रहीत्) तेरे हाथको ग्रहण कर चुका हूं । (सविता ......अग्रहीत्) धर्म युक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे हाथ को ग्रहणकर चुका हूं । (त्वं) तू (धर्मणा) धर्म से (पत्नी असि) मेरी

पत्नी है। और (अहं) मैं (तव) तेरा (गृहपति) स्वामी हूं।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः।

मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥ अ. १४।१।५२॥

(इयं) इस पत्नी का (मम पोष्या अस्तु) मैं पालन करता हूं। (बृहस्पति) पुरोहित ने (त्वा) तुझको (मह्य) मुझे दिया है। हे (प्रजावति) सुसन्तानवाली (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शरदः शतम) सौ वर्ष तक (सं जीव) कल्याण पूर्वक जीती रह।

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा

कवीनाम्। तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव

परि धत्तां प्रजया ॥ अ. १४।१।५३॥

(बृहस्पतेः) पुरोहित की (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) आज्ञा से (त्वष्टा) शिल्पी ने (वास) वस्त्र और (शुभे) सुन्दर आभूषण (कं) सुख के लिये बनाये हैं, (तेन) उन वस्त्र भूषणादि से युक्त (इमां नारीं) इस नारी को (सविता) धर्म कार्योंमें प्रेरित करनेवाला और (भगः) ऐश्वर्य शाली पति (सूर्यामिव) सूर्य किरण की तरह (प्रजया) सुसन्तान सहित (परि धत्ताम्) धारण करे॥

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो

अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं

प्रजया वर्धयन्तु ॥ अ. १४।१।५४॥

हे सम्बंधियो! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और अग्नि (द्यावापृथिवी) आदित्य और भूमि (मातरिश्वा) वायु (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान तथा (भग) ऐश्वर्य (उभा) दोनों (अश्विनौ) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (बृहस्पतिः) न्यायकारी राजा (मरुत) सब मनुष्य (ब्रह्म) परमात्मा (सोम) चन्द्रमा सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे (इमां) इस (नारीं) स्त्री को (प्रजया) सुसन्तान से (वर्धयन्तु) बढ़ने का आशीर्वाद दो।

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसः

कुलायम्। न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रश्नाना

नो वरुणस्य पाशान् ॥ अ. १४।१।५७॥

जैसे (मनसा) मनसे (कुलायं) कुलवृद्धिको (पश्यन्) देखता हुआ (अहं) मैं (अस्या. रूपम्) इस रूपवती स्त्रीके रूप या स्वभाव को (वेदत् इत) जानकर ही (विध्यामि) प्राप्त होता हूं। वैसे ही वह (मयि) मुझको प्राप्त हो। जैसे मैं (मनसा) मनसे भी इसके साथ (स्तेयं) चोरी को (उदमुच्ये) छोड़ता हूं और उसके बिना किसी पदार्थ का भोग नहीं करता (स्वयं) आप (अध्नान) पुरुषार्थ से सिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यावहार से दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बंधनों को दूर करता हूं, वैसे तू भी कर।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः।

अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥ अ. १४।२।५२॥

(इमां) ये (उशती) कामना करती हुई (कन्यलाः) शोभावती कन्यायें (पितृलोकात्) पितृकुल से (पतिं) पतिकुल को (यती) जाती हुई (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (दीक्षाम्) नियम व्रतको (अव असृक्षत) धारण करें अर्थात् पतिव्रतादि व्रतों में रहने वाली हों।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्। ते अस्यै

वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥ अ. १४।२।७३॥

(ये) जो (वधूदर्शा) वधू को देखने वाले (पितर) पिता आदि संबंधी लोग (इमं) इस (वहतुम्) विवाह में (आगमन्) आए हैं, (ते) वे (अस्यै वध्वै) इस वधू को (संपत्न्यै) पतिके सहित (प्रजावत्) सन्तान (शर्म) सुख (यच्छन्तु) देवें अर्थात् वैसा आशीर्वाद दें।

(अथर्व वेद काण्ड २ सू० ३०)

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति। एवा

मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्ना-

पगा असः ॥१॥

(यथा) जिस प्रकार (भूम्या अधि) भूमि पर (इदम्) इन (तृणं) तृणों को (वात) वायु (मथायति) मन्थन कर लेता है (एवा) इस प्रकार हे पत्नी! (ते मन मथ्नामि) तेरे मनका आलोडन करके उस के अन्दर के भावों को अच्छी तरह जान लेता हूं (यथा) जिससे तू (माम्) मेरे प्रति (कामिनी असः) उत्तम संकल्प और प्रेमवाली हो (यथा) और जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगा न असः) प्रतिकूल मत हो।

सं वेजयांथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।
सं वा भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥२॥

(हे अश्विनौ) हे कार्यों में व्याप्त माता और पिता! तुम दोनों (कामिना=कामिनौ) परस्पर एक दूसरे की इच्छा करने वाले कन्या और वर को (सं+इत्+नयाथ) भली प्रकार एक दूसरे को प्राप्त कराओ अर्थात् उनके संबंधों को दृढ़ करो। (च सं वक्षथ) और इनको इकट्ठा करो। हे कन्या और वर! तुम दोनों (भगासः=भगाः) कल्याण को [ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा] (अग्मत) प्राप्त हो। (वां) तुम दोनोंमें (चित्तानि सं अग्मत) चित्त समान हों। (उ) और (व्रता सं अग्मत) व्रत भी समान हों।

(अथर्व० कां० २ सू० ३६)

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥१॥

(अग्ने) हे परमात्मन्! (नः) हमारी (इमं) इस (सुमतिं) अच्छी बुद्धिवाली (कुमारीं) कन्या को (सम्भलः) अच्छे भाषण वाला वर (नः भगेन सह) हमारे कल्याण के साथ (आ गमेत्) प्राप्त हो! यह कन्या कैसी है? (वरेषु जुष्टा) श्रेष्ठ लोगों में पूजित है। (समनेषु) साधु विचार वालों में (वल्गु) मनोहर है। (अस्यै) इस कन्या के लिये (ओषम्) शीघ्र (पत्या) पति के साथ (सौभगम् अस्तु) कल्याण हो।

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम्।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२॥

(धातुः) सब के धारण करने वाले (देवस्य) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के (सत्येन) सत्य नियम से (सोमजुष्टं) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के प्रिय (ब्रह्मजुष्टं) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों से सेवित और (अर्यम्णा) श्रेष्ठों के मान करने वाले राजा से (सम्भृतं) प्राप्त किये हुये (भगम्) सेवनीय (पतिवेदनम्) पति और पत्नी की प्राप्तिरूप विवाह को (कृणोमि) मैं करता हूं॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां
कृणोति। सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं
सुभगा वि राजतु ॥३॥

(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (इयम्) यह नारी (पतिं) पति को (विदेष्ट) प्राप्त करे । (सोम) ऐश्वर्यवान् वर इसको (सुभगां) सौभाग्यवती (कृणोति) करता है। यह नारी (पुत्रान् सुवाना) उत्तम पुत्रों को पैदा करती हुई (महिषी भवाति) पूजनीय होवे और (पतिं गत्वा) पति को प्राप्त होकर (सुभगा विराजतु) सौभाग्यवती होकर सुख से रहे ।

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

(मघवन्) हे परमात्मन् ! (यथा) जिस प्रकार (चारु) सुन्दर (आखरः) खोह या मांद (मृगाणां) जंगली पशुओं का (प्रिय) प्रिय (सुषदा, रमणीय घर (बभूव) होता है, (एव) इसी प्रकार (इयं नारी) यह नारी (भगस्य जुष्टा-अस्तु) ऐश्वर्य का निवास स्थान हो; और (सं प्रिया) पतिको प्रिय हो और (पत्या) पतिसे (अविराधयन्ती) विरोध न करने वाली हो ।

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५॥

हे कन्या ! तू (भगस्य) ऐश्वर्य आदि छः प्रकार के भग की (पूर्णां नावं आरोह) पूरी भरी हुई नौका पर चढ़ । (अनुपदस्वतीम्) और जो नौका अटूट है (तया) उस नाव से (यः प्रतिकाम्य वरः) जो कामना करने योग्य वर है, उसे (उप प्रतारय) पार ले जाओ ।

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६॥

(धनपते) हे सब धनों के स्वामी परमात्मन् ! (वरं आक्रन्दय) वर को हमारे यहां आदर पूर्वक बुलाओ । (आमनसम् कृणु) और उसे शान्त मनवाला करो । उसे (सर्वं) सब प्रकार से (प्रदक्षिणं कृणु) प्रा[illegible]युक्त करो, (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर कामना करने योग्य है ।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥७॥

हे कन्या ! (इदं हिरण्यं) यह सुवर्ण (गुल्गुलु) धूप, (औक्ष.) लेप करनेका सुगन्धित पदार्थ (अथो भग) और अन्य प्रकारका ऐश्वर्य (एते) यह सब (त्वाम्) तुझे (पतिभ्य अदुः) पतिके लिये दिया जा रहा है,

(प्रतिकामाय वेसवे) पतिकी कामना पूर्ण करने और उसे लाभ पहुंचाने के लिये इन सब वस्तुओं से पति की सेवा कर।

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः।

त्वमस्यै धेह्योषधे ॥८॥

हे कन्या ! (सविता) सब का प्रेरक परमात्मा (ते) तेरे समीप उस पति को (आ नयतु) प्राप्त करावे और (नयतु) मर्यादापूर्वक चलावे (य पति) जो पति (प्रतिकाम्य) कामना करने योग्य है। (ओषधे) हे दोषनाशक (त्वं) तू (अस्यै) इस कन्या के लिये पति को (धेहि) पुष्ट कर और बढ़ा।

एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।

अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ अ. २।३०।५॥

(इयं) यह स्त्री (पतिकामा) पतिकी इच्छा करती हुई (अगन्) आई है और (अहं) मैं (जनिकाम:) सन्तान की इच्छावाला होकर इसे (आगमम्) प्राप्त हुआ हूं। (अहं) मैं इस पत्नीके पास (भगेन सह) ऐश्वर्य और कल्याण के साथ इस प्रकार (आगमम्) प्राप्त हुआ हूं (यथा) जिस प्रकार (कनिक्रदद्) खूब गर्जता हुवा (अश्व) गतिशील मेघ प्राप्त होता है।

वानप्रस्थ-संस्कार।

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।

व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ य. २०।२४॥

हे (व्रतपते अग्ने) नियमपालकेश्वर ! (दीक्षित) दीक्षाको प्राप्त होता हुआ (अहं) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होकर (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि नियमों का धारण (च) और उस की सामग्री (श्रद्धां) सत्यकी धारणाको (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूं। इस लिये जैसे अग्निमें (समिध) समिधा को (अभ्यादधामि) डालता हूं और (इन्धे) प्रज्वलित करता हूं उसी प्रकार अपने में विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं। और वैसे ही (त्वा) तुझको अपने आत्मामें धारण करता और सदा प्रकाशित करता हूं।

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु

प्रजानन्। तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो

नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ अ. ६।५।१॥

हे गृहस्थ ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थ आश्रम का (आ रभस्व) आरम्भ कर, (आनय) और अपने मन को गृहस्थाश्रम से इधर की तरफ ला। (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो। (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसारके मोहों को (तीर्त्वा) तरके अर्थात् उन से पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर अमर जान। (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःखरहित वानप्रस्थाश्रम का (आक्रमताम्) आक्रमण कर अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ हो।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषे-

दुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा

उप सं नमन्तु ॥ अ. १९।४१।१॥

हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विद्) सुख को प्राप्त होनेवाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा=उपदेश लेकर (तपः) प्राणायाम और (दीक्षा) विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणोंको (उप निषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस (भद्र) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्त) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रमको करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त हो के (जातम्) प्रसिद्ध, प्राप्त हुए (राष्ट्र) राष्ट्र की इच्छा और रक्षा करते हैं, और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रमको प्राप्त हुए आपके (उपसन्नमन्तु) समीप होके नम्र होवें।

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा

ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ३ ॥ ऋ. १०।१४६।१॥

(असौ) यह (अरण्यानि अरण्यानि) जंगलों जंगलों घूमनेवाला वानप्रस्थी (प्रेव नश्यसि) गावों से दूर प्राप्त होता है। अर्थात् गावों में नहीं रहता परन्तु उन से दूर रहता है। वह तू (ग्राम) नगरों तथा गावों में जाने की (कथा) बात या दशा को क्यों (न पृच्छसि) नहीं पूछता। (त्वा) तुझ को इस निर्जन वन में घूमते हुवे क्या (भीः) भय (न) नहीं (विन्दती) लगता है ?

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।

आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥ ऋ. १०।१४६।२॥

(आघाटिभिरिव धावयन्) जिस प्रकार गायक वीणापर खूंटियों को कस कर या ढीला करके निषादादि सातस्वरों को निकालता हुआ (महीयते) शोभित होता है उसी प्रकार (वृषारवाय वदते) झिल्लीके बोलने पर (चिचिक) चीं चीं शब्द करनेवाला पक्षिविशेष (उपावति) उसके प्रत्युत्तर में शब्द करता है तब (अरण्यानि) जंगल (महीयते) शोभित होता है। और उस के राग के श्रोता की भाति वानप्रस्थी प्रसन्न होता है।

उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते।

उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति॥ ऋ. १०।१४६।३॥

(उत) और (गाव इव अदन्ति) जिस प्रकार गौवें और मृगादि जंगल में घास इत्यादि चरते हैं, इसी प्रकार वानप्रस्थी कन्द मूलादि फलों को खाते हैं। (उत) और (वेश्मेव दृश्यते) जिस प्रकार वृक्ष लतादियों का घर जंगल है इसी प्रकार वानप्रस्थी का घर भी जंगल है। (उत) और (साय) सायंकाल समिधादि लेने के लिये आये हुए ब्रह्मचारियों के लिये (अरण्यानिः) जंगल (शकटी) समिधायें (विसर्जति) देता है।

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभि गच्छति।

स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते॥ ऋ.१०।१४६।५॥

(न वा अरण्यानि हन्ति) जंगल में रहने वाले जन्तु इस वानप्रस्थी को नहीं मारते। (अन्यश्च इत् न अभिगच्छति) और अन्य व्याघ्रादि भी इसके पास आकर इसे नहीं मारते हैं। यह (स्वादः फलस्य जग्ध्वाय) स्वादु फलों को खाकर (यथाकाम) बड़े सुखसे यथेष्ट (नि पद्यते) जीवन व्यतीत करता है।

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।

प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ ऋ.१०।१४६।६॥

(आञ्जनगन्धिं) कस्तुरी आदि सुगन्धित पदार्थों की जिस में गन्ध आती है (सुरभिं) सुगन्धित पुष्पों की जिसमें हवा चलती है। (बह्वन्नाम) जिस में नाना प्रकार के अन्न कन्द मूल फलादि हैं (अकृषीवलाम) जो कृषि के योग्य नहीं है (मृगाणां मातरं) जो मृगादि जन्तुओं की माता है। ऐसे (अरण्यानिं) जंगल की (अहं) मैं (प्र अशंसिषम्) स्तुति करता हूं।

अथ संन्यास प्रकरणम्।

(ऋग्वेद ९ मं० ११३ सू०)

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा। बलं दधान

आत्मनि करिष्यन्वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥१॥

हे संन्यास लेने वाले मनुष्य! जैसे (वृत्रहा) मेघों का नाश करने वाला (इन्द्र) सूर्य (शर्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है, वैसे ही हे (इन्दो) चन्द्रमा के सदृश शीतलता देनेवाले संन्यासिन! उत्तम कन्द मूलादि के रस को (पिबतु) पान कर और (आत्मनि) अपनी आत्मा में (महत्) बड़े (वीर्यं) सामर्थ्य की (करिष्यन्) प्राप्ति की इच्छा पूर्वक (बलं) बल (दधान) धारण करते हुए (इन्द्राय) परमेश्वर्य की प्राप्ति के लिए (परिस्रव) सब को सत्योपदेश कर ॥ १ ॥

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः।

ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इंद्रायेंदो

परि स्रव ॥२॥

हे (सोम) सौम्य गुण सम्पन्न (मीढ्व) सत्य से सब के अन्तःकरण को सींचने हार (दिशां पते) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देकर पालन करने हार (इन्दो) वैरागादिगुणयुक्त संन्यासिन्! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने ((सत्येन) सत्य भाषण करने से (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से (आर्जीकात्) सरलता से (सुत) निष्पन्न होता हुआ अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि को (आ पवस्व) पवित्र कर और (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (परिस्रव) सब ओर गमन कर ॥ २ ॥

पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत्।

तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन्तं सोमे रसमादधुरि-

न्द्रायेन्दो परि स्रवः ॥३॥

(सूर्यस्य दुहिता) सूर्य की दुहिता अर्थात् श्रद्धा जिस रस को (आभरत्) आहरण करती है और जो (पर्जन्य वृद्ध) पर्जन्यस्थानीय मस्तिष्क से बढ़ाया

आकर (महिषं) महान् उस (गंधर्वा) विषयों को धारण कराने वाली दिव्य इन्द्रियां (प्रत्यगृभ्णन्) प्रतिग्रहण कर रही हैं उस रस को (सोमे) सोम अर्थात् शान्तियुक्त ज्ञान मे धारण किया जाता है। इस लिये हे (इन्दो) आनन्ददायक ज्ञानरस संपन्न ! (इन्द्राय) आत्मा के लिये जिससे कि यह रस प्राप्त हो (परिस्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिये ।

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥४॥

हे (ऋतद्युम्न) सत्य धन और सत्य कीर्ति वाले ! (सत्यकर्मन) सत्य वेदोक्त कर्म करने वाले ! (राजन्) सब ओर प्रकाशयुक्त आत्मा वाले ! (इन्दो) सब को आनंद देनेवाले सौम्य सन्यासिन् ! तू (ऋतं वदन) पक्षपात को छोड़ कर यथार्थ बोलता हुआ (सत्यं वदन्) सत्य बोलता हुआ (श्रद्धाम्) सत्य धारण मे प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ (धात्रा) सकल विश्व के धारण करने हार परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृत) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिए (परिस्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥ ४ ॥

सत्यमुग्रस्य बृहतः सं स्रवन्ति संस्रवाः । सं यन्ति रसिनो रसाः पुनानो ब्रह्मणा हर इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥५॥

हे (इन्दो) आनन्दस्वरूप (हर) दुःखों के हरने वाले ! (ब्रह्मणा) चतुर्वेदवेत्ता से (पुनान) संस्क्रियमाण विवेक द्वारा विविच्यमान तुम्हारे (सत्यमुग्रस्य) सत्य के कारण बलशाली और (बृहत) महान् तुम्हारे (संस्रवा) प्राप्तियां अर्थात् आविर्भाव (सं स्रवन्ति) आविर्भूत होते हैं और (रसिन) आस्वादयुक्त तुम्हारे (रसा) आस्वाद (स यन्ति) प्राप्त होते हैं । (इन्द्राय) इस आत्मा के लिये (परिस्रव) सब प्रकार से प्राप्त हूजिये ।

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन् । ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥६॥

हे (छन्दस्याम्) स्वतंत्रता युक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्) कहने वाले ! (सोमेन) विद्या योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के लिए आनन्द को (जनयन्) प्रकट करते हुए (इन्दो) आनन्दप्रद ! (पवमान) पवित्रात्मन् पवित्र करने हारे सन्यासिन् ! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जानने हारा विद्वान्

(महीयते) महत्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है, जैसे (प्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है वैसे तू सब को (इन्द्राय) परमैश्वर्य-युक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को (परि स्रव) सब प्रकार से प्राप्त कर ॥ ५ ॥

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन्मां
धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥७॥

हे (पवमान) सब को पवित्र करने वाले (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! (यत्र) जहां तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरंतर व्यापक तेरा (ज्योति) तेज है, (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्ममरणसे शून्य और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझको (इन्द्राय) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा पूर्वक धारण कीजिये। और मुझ पर माता के समान कृपा भाव से (परिस्रव) आनन्द की वर्षा कीजिये ॥ ७ ॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः । यत्रामूर्य-
ह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥८॥

हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन् ! (यत्र) जिस तुझ में (वैवस्वत) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान होरहा है (यत्र) जिस आप में (दिव) बिजली अथवा बुरी कामना की (अवरोधम्) रुकावट है (यत्र) जिस आप में (अमूः) वे कारण रूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्ष-प्राप्ति (कृधि) कराईए । (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (परिस्रव) आर्द्र भाव से आप मुझे प्राप्त हूजिये ॥ ८ ॥

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र
ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥९॥

हे (इन्दो) परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (अनुकामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतंत्र (चरणम्) विचरना है, (यत्र) जिस (त्रिनाके) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से रहित (त्रिदिवे) तीन-सूर्य विद्युत और भौम अग्नियों से प्रकाशित सुख स्वरूप में (दिवः) कामना करने

योग्य शुद्ध कामना वाले (लोका) यथार्थ ज्ञानयुक्त (ज्योतिष्मन्त) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझको (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कराईए और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिए (परि स्रव) कृपा से प्राप्त हूजिये ॥ ९ ॥

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा
च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥१०॥

हे (इन्दो) आनन्दस्वरूप परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (कामा) सब कामनाएं (नि कामा) और अभिलाषाएं छूट जाती हैं । (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख (च) और (यत्र) जिस आप में (स्वधा) अपना ही धारण (च) और (तृप्ति) पूर्ण तृप्ति है (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझको (अमृतम) प्राप्तमुक्ति वाला (कृधि) कीजिये तथा (इन्द्राय) सब दुःख निवारण के लिये आप मुझ पर (परिस्रव) करुणा वृत्ति कीजिये ॥ १० ॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य
यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ११॥

हे (इन्दो) आनन्दस्वरूप परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (आनन्दा) सम्पूर्ण समृद्धि (च) और (मोदा) संपूर्ण हर्ष (मुद) संपूर्ण प्रसन्नता (च) और (प्रमुद) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं, (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामा) सब कामनाएं (आप्ता) प्राप्त होती है, (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इंद्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझको (अमृतम्) मुक्ति की प्राप्ति वाला (कृधि) कीजिये और सब जीवों को (परिस्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिये ॥ ११ ॥

(अथर्व० १९ का० ४३ सू०)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधा दधातु मे ॥१॥
यत्र ....
वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे ॥२॥

यत्र.........

सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे ॥३॥

यत्र........

चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे ॥४॥

यत्र.....

सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे ॥५॥

यत्र......

इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे ॥६॥

यत्र.....

आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु ॥७॥

यत्र.....

ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥८॥

(यत्र) जिस लोक को (ब्रह्मविद) वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी संन्यासी लोग (दीक्षया) अहिंसा सत्यभाषणादि व्रतों से (सह) और (तपसा) तपके द्वारा (यान्ति) प्राप्त करते है। (अग्नि) सर्वाग्रणी प्रभु (मा) मुझे (तत्र) वहीं=उसी लोकमें=अवस्थामें (नयतु) पहुचाए। और (मे) मुझमें (मेधा) सद्-सद्विवेकिनी उत्तम बुद्धि को (दधातु) धारण कराए ॥ १ ॥ . (वायु) जीवनी शक्ति दाता प्रभु मुझे वहां पहुंचाए और वह वायु मुझमें (प्राणान्) प्राणों को धारण कराए ॥ २ ॥ (सूर्य) स्थावर जंगम सकल जगत् का आत्मस्वरूप प्रभु मुझे वहा पहुचाए। और वह सूर्य मुझमें (चक्षु) दर्शन-शक्ति को धारण कराए ॥ ३ ॥ (चन्द्र) आनन्दकन्द सच्चिदानन्द मुझे वहा पहुंचाए, वह चन्द्र मुझ में (मन) मननशक्ति को धारण कराए ॥ ४ ॥

(सोम) शान्ति प्रदाता विज्ञानी प्रभु मुझे वहां पहुंचाए, और मुझमें (पय) जल, रस, दुग्धादि उत्तम पदार्थ तथा वृद्धि को धारण कराए ॥ ५ ॥ (इन्द्र) सर्व शक्तिशाली ऐश्वर्यवान् भगवान् मुझे वहां ले जाए। और वह मुझमें (बल) शक्तिका (दधातु) आधान करे ॥ ६ ॥ (आप) व्यापक प्रभु मुझे वहा पहुंचाए और मुझमें (अमृत) अमरपन=मोक्ष को धारण कराए ॥ ७ ॥ जिस अवस्था को ब्रह्मवेत्ता तप और दीक्षा से प्राप्त करते हैं। (ब्रह्मा मा तत्र नयतु) ब्रह्म मुझे वहां पहुचाए और (मे) मुझे (ब्रह्मा) वेददाता भगवान् (ब्रह्म दधातु) ब्रह्मज्ञान, वेदज्ञान को धारण कराए ॥ ८ ॥

अन्त्येष्टिसंस्कार ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तᳪ शरीरम् ।

ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतᳪ स्मर ॥ य. ४०।१५॥

हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव तू शरीर छूटते समय (ओ३म्) परमात्माका (स्मर) स्मरण कर। (क्लिबे) सामर्थ्यके लिये (स्मर) स्मरण कर। (कृतं) किये हुए को (स्मर) स्मरण कर । (वायु) प्रथम आध्यात्मिक प्राण (अनिलं) तदन्तर अधिदैवत प्राण (अमृतं) फिर उस प्राणस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो। (अथ) पश्चात् (इदं शरीरम्) यह भौतिक शरीर (भस्मान्तम्) भस्म से अन्त वाला=नष्ट होने वाला है।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।

ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ अ.१८।२।५६

हे जीव ! (ते असुनीताय) तेरे प्राण विहीन मृत देह को (वोढवे) वहन करने के लिये-सद्गति प्राप्त कराने के लिये (इमौ वह्नी) इस गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि को मैं (युनज्मि) युक्त करता हूं-तेरे देह में लगाता हूं। (ताभ्यां) उन दोनों वह्नियों के द्वारा तू (यमस्य सादनम्) सर्वनियंता परमात्माके समीप परलोक को (च) और (समिती) श्रेष्ठ गतियों को (अव गच्छतात्) प्राप्त हो।

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।

शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥ अ. १८।३।७१॥

हे (जातवेद) अग्ने ! (आरभस्व) इस मृत देह को प्राप्त हो और (ते) तेरा (हर) हरणसामर्थ्य (तेजस्वत्) तेजस्वी (अस्तु) हो। (अस्य) इस प्राणी के (शरीरं) मृत शरीर को (सं दह) जला दे। (अथ एनं) और इस को (सुकृताम् लोके) पुण्यात्माओं के लोक-स्वर्ग लोक में (धेहि) धारण कर।

सारांश रूप से संस्कारों का प्रकरण समाप्त ।

पुरुषार्थ

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ य. ४०।२॥

(इह) इस लोकमें (कर्माणि कुर्वन् एव) अपने कर्तव्य करते हुए ही (शत समा) सौवर्ष (जिजीविषेत्) जीनेकी इच्छा करनी चाहिए। (एवं त्वयि) यही तेरे लिये एक मार्ग है (इत अन्यथा नास्ति) इससे दूसरा कोई मार्ग नहीं है, (कर्म) कर्तव्य कर्म करनेसे (नरे) मनुष्यमें (न लिप्यते) दोष नहीं होता।

इस जगत्में परम पुरुषार्थ करते हुए ही मनुष्यको दीर्घ जीवन प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिए। पुरुषार्थमय जीवन व्यतीत करना ही मनुष्यका परम धर्म है। उद्धारका दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है। कर्तव्य न करते हुए कभी किसकी उन्नति नहीं हो सकती। कर्तव्य कर्म करनेसेही सब दोष दूर हो जाते है और मनुष्य निर्दोषी हो जाता है।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ ऋ. ८।२।१८॥

(देवा) देव (सुन्वन्त) यज्ञ कर्ताको (इच्छन्ति) चाहते हैं (स्वप्नाय) सुस्त मनुष्यको (न स्पृहयन्ति) नहीं चाहते। (प्रमादं) अशुद्धि करनेवालेका (अतन्द्रा) आलस्य न करते हुए (यंति) दमन करते हैं। अथवा (अतन्द्रा) आलस्यरहित मनुष्य (प्र-मादं) बहुत बड़े सुखको (यन्ति) प्राप्त करते हैं।

पुरुषार्थी मनुष्यकी ही देव सहायता करते है, सुस्त मनुष्यकी नहीं। तथा देव प्रमादी मनुष्यको दंड देते हैं। इसलिये हरएकको उचित है, कि वह प्रमाद न करते हुए सदा श्रेष्ठतम पुरुषार्थ करे और अपनी तथा अपनी जातिका अभ्युदय सिद्ध करे।

पिबतं च तृप्णुतं चा च गच्छतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ॥ ऋ.८।३५।१०॥

(पिबत) पियो, (च च) और (तृप्णुत) तृप्त हो जाओ, (गच्छतं) आगे बढो, (च च) और (प्रजां धत्त) प्रजाका धारण करो, (च) और (द्रविणं धत्तं) धन पास रखो। हे (अश्विना) बुद्धिशीलो। (उषसा सूर्येण च सजोषसा) ज्ञान और भगवान् का प्रीति पूर्वक आराधन करते हुए (सोमं पिबत) सब प्रकारके सुख को प्राप्त करो।

जयतं च प्र स्तुतं च प्र चावतं प्रजां च धत्तं

द्रविणं च धत्तं ॥ ऋ. ८।३५।११॥

(जयतं) विजय प्राप्त करो, (च च) और (प्रस्तुतं) प्रशंसनीय की (अवत) रक्षा करो। प्रजा और धन बढाओ, ।

हतं च शत्रून् यतंतं च मित्रिणः। प्रजांच धत्तं

द्रविणं च धत्तम् ॥ ऋ. ८।३५।१२॥

(शत्रून् हतं) शत्रुओंका नाश करो, (मित्रिण) मित्रोंके साथ (यततं) यत्न करो, प्रजा और धन कमाओ, " ।

ब्रह्म जिन्वतमुत जिन्वतं धियो हतं रक्षांसि

सेधतममीवाः ॥ ऋ. ८।३५।१६॥

(ब्रह्म जिन्वत) ज्ञान प्राप्त करो, (धिय जिन्वतं) सुबुद्धियां पास रखो, (रक्षांसि हतं) दुष्टोंका नाश करो, (अमीवाः सेधतं) रोगोंको दूर करो, ।

क्षत्रं जिन्वतमुत जिन्वतं नॄन्हतं रक्षांसि

सेधतममीवाः ॥ ऋ. ८।३५।१७॥

(क्षत्रं जिन्वतं) क्षात्र तेज कमाओ, (उत) और (नॄन् जिन्वतं) नेताओंका आदर करो, राक्षसोंका हनन करो और रोगोंको दूर करो, "" ।

धेनूर्जिन्वतमुत जिन्वतं विशो हतं रक्षांसि

सेधतममीवाः। ऋ. ८।३५।१८॥

(धेनूः जिन्वतं) गौओंको प्राप्त करो, (विश जिन्वतं) प्रजाओंको प्राप्त करो, दुष्टोंका नाश करो और रोगोंको दूर करो, ।

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्त द्रविणं

सचेतसौ। जयं क्षेत्राणि सहसायमिंद्र कृण्वानो

अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ऋ. २।२६।३॥

(न.) हमारे लिये (आशी) आशीर्वाद हो अर्थात् हमारा भला हो। हे (स-चेतसौ) समान चित्त वालो! (ऊर्जं) अन्न और पुरुषार्थ, (सौ-प्रजास्त्वं) उत्तम संतान, (दक्षं) शक्ति, (उत द्रविणं) और धन (धत्तं) धारण करो। (इंद्र) हे प्रभो! (अय) यह मनुष्य (सहसा) बलसे (जयं) विजय (क्षेत्राणि) प्रदेश (कृण्वान) प्राप्त करता हुआ (अन्यान् सपत्नान्) अन्य शत्रुओंको (अधरान्) नीचे करता है।

हरएक मनुष्यको अपना कल्याण सिद्ध करना चाहिये। तथा बल, शक्ति, सुप्रजा, अन्न, धन, आदि प्राप्त करते हुए, सर्वत्र विजय प्राप्त करके,

सब देशोंको जीतकर अपने शत्रुओंको दूर भगाना चाहिये।

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा । अभिभूयाय

त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ॥ अ. १९।३७।३॥

(ऊर्जे) अन्नके लिये, (बलाय) पुरुषार्थके लिये, (ओजसे) शारीरिक शक्तिके लिये, (सहसे) उत्साहके लिये, (अभिभूयाय) विजयके लिये, (राष्ट्रभृत्याय) राष्ट्रसेवाके लिये, तथा (शतशारदाय) सौवर्षके आयुष्यके लिये (त्वा पर्यूहामि) तुझे स्वीकार करता हूं।

किसी चीजको स्वीकार करनेके समय यह भाव मनमें रहना चाहिये, कि मैं उस पदार्थको उक्त कारणोंके लिये स्वीकार करता हूं। उस पदार्थको स्वीकार करके उक्त गुणोंकी अभिवृद्धि करना मेरा कर्तव्य है। अर्थात् मनुष्यको (१) अन्न (२) पुरुषार्थ (३) शारीरिक नीरोगता, (४) उत्साह, (५) विजय, (६) राष्ट्रसेवा (७) दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति करनी चाहिये।

जूआ मत खेलो

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे

वर्वृतानाः । सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभी-

दको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥ ऋ. १०।३४।१॥

(प्रा-वेपा) कांपनेवाले (प्र-वात-इजा) हवासे चंचल हुए हुए (इरिणे वर्वृताना) मेजपर वारवार उलटपुलट होनेवाले (बृहत) बडे जुएके पांसे (मा मादयन्ति) मुझे हर्षित करते हैं। (मौजवतस्य सोमस्य) स्वच्छतायुक्त सोमरसके (भक्ष इव) पानके समान (विभीदक) विशेष प्रिय और (जागृवि) जागृति देनेवाला (मह्यं-अच्छान्) ऐसा मेरे लिये यह जुआ है।

जुएबाजको जूआ बहुत प्यार होता है। परन्तु इस जूवेके कारण उसकी दशा कैसी होती है, इसका वर्णन आगे देखिये——

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत

मह्यमासीत् । अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप

जायामरोधम् ॥ ऋ. १०।३४।२॥

(एषा) यह मेरी स्त्री (मा न मिमेथ) मुझे कष्ट नहीं देती थी, (न जिहीड) न मुझसे कभी क्रोध करती थी। तथा (सखिभ्य शिवा) अपने मित्रोंके साथ प्रेम करनेवाली (उत) और (मह्यं आसीत्) मेरे साथ भी प्रेम करती थी, (एकपरस्य अक्षस्य हेतो.) केवल इस जुवेके कारण (अहं) मैंने (अनुव्रता जायां) अनुकूल आचरण करनेवाली पतिव्रता स्त्रीको भी (अप अरोधं) दूर कर दिया है।

जुवेबाजकी गृहसुखमें हानि किस प्रकार होती है, यह इस मन्त्रमें बताया है। वह अंधा होकर अपनी धर्मपत्नीको भी दु:ख देता है'!'

द्वेष्टि श्वश्रूरप॑ जाया रु॑णद्धि न ना॑थितो वि॑न्दते

म॑र्डितार॑म्। अश्व॑स्येव जर॑तो वस्न्य॑स्य नाहं वि॑न्दामि

कित॑वस्य भोग॑म् ॥ ऋ. १०।३४।३॥

(श्वश्रू द्वेष्टि) सास मेरी निन्दा कर रही है। (जाया अप रुणद्धि) धर्मपत्नी मेरा प्रतिकार करती है। जुवेसे (नाथितः) सतप्त किया हुआ (मर्डितारं न विन्दते) सुख देनेवाले को मित्र भी नहीं मिल सकता। (अश्वस्य वस्न्यस्य) किरायाका काम करनेवाला घोडा (जरत इव) जैसा नाशको प्राप्त होता है, उस प्रकार (अहं) मैं (कितवस्य भोग) जुवेबाज बननेसे कोई लाभ (न विन्दामि) नहीं देखता।

परन्तु

जुवेबाजको कोई लाभ नहीं होता, उसकी निन्दा सब करते है, और उसको कोई पास नहीं आने देता इसलिये जूआ खेलना न कभी चाहिये।

अन्ये॑ जा॒यां परि॑ मृशन्त्यस्य॒ यस्यागृ॑धद्वेद॑ने वा॒-

ज्य१॒क्षः। पि॒ता मा॒ता भ्रात॑र एनमाहु॒र्न जा॑नीमो॒

नय॑ता ब॒द्धमे॒तम् ॥ ऋ. १०।३४।४॥

(वाजी अक्ष) प्रबल जुवा (यस्य वेदने) जिसका ज्ञान और धन (अगृधत्) नाश करता है, (अस्य जाया) उसकी स्त्रीको (अन्ये परिमृशन्ति) दूसरे ही परामर्श करते हैं। (पिता) पिता, (माता) माता, और (भ्रातर) भाई, (एनं आहु) इसके विषयमें कहते हैं कि (न जानीम) हम इसको नहीं जानते। (एतं बद्ध नयत) इसको बांधकर ले जाइए।

जूवेबाजके विषयमें संबंधी लोग किस प्रकारकी हीन संमति रखते हैं, इसका वर्णन यहां है।

यदा॒दीध्ये॒ न द॑विषाण्येभिः परा॒यद्भ्यो॒ऽव॑ ही॒ये

सखि॑भ्यः। न्यु॑प्ताश्च ब॒भ्रवो॒ वाच॒मक्र॑तँ॒ एमीदे॑षां

निष्कृ॒तं जा॒रिणी॑व ॥ ऋ. १०।३४।५॥

(यदा) जब (परायद्भ्यः सखिभ्यः) दूर रहनेकी इच्छा करनेवाले मित्रोंसे (अव हीये) मैं अलग होता था, उस समय (एभि. न दविषाणि) इनके साथ

मैं नहीं जुआ खेलूंगा, ऐसा मैं (आदीध्ये) निश्चय करता था। परन्तु जब (बभ्रव) भूरे रंगके जुवेके पांसे (न्युप्ताः) खेलके पट्टेपर फेंके जाते हैं, और (वाचं अक्रत) जब उनकी आवाज होती है, उस समय (जारिणी इव) जारिणी स्त्रीके समान (एषां निष्कृतं) इन पासोंके खेलके स्थानपर (इत् एमि) निश्चयसे मैं पहुंचता हूं।

जुवेबाज जब अपने मित्रोंसे अपनी निंदा सुनता है, तब वह मनमें कहता है, कि अब इसके बाद जुआ नहीं खेलूंगा, परंतु जब जुवेकी आवाज सुनता है, उस समय वहां अवश्य पहुंचता है, और जुआ खेलता है। अर्थात् उनका निश्चय पक्का नहीं होता। इसलिये जुवेबाज ऐसा निश्चय करे, कि फिर अपना निश्चय वह न बदल सके। हरएक व्यसनके विषयमें यही उपदेश स्मरण रखने योग्य है।

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३-
शूशुजानः। अक्षासो अस्य वितिरन्ति कामं प्रति-
दीव्ने दधत आ कृतानि॥ ऋ. १०।३४।६॥

(तन्वा शूशुजानः) शरीरमें गरम होता हुआ (जेष्यामि इति) क्या मैं जीत लूंगा? ऐसा (पृच्छमान) विचार करता हुआ, (कितव) जूवेबाज (सभां एति) जूवा-खाने को पहुंचता है। और वहां देखता है, कि (कृतानि) अपना कमाया हुआ (प्रतिदीव्ने) दूसरी तरफसे खेलनेवालेके लिये (आ-दधत) लगाते हुए भी (अस्य कामं) इसकी अभिलाषा को (अक्षास) जुएके पांसे (वितरन्ति) बढाते हैं।

जूवेबाज किस प्रकार फंसता है, यह यहां बताया है। इस प्रकार किसीको भी फंसना नहीं चाहिए॥

अक्षास इदंकुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपना-
स्तापयिष्णवः। कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा
संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥ ऋ. १०।३४।७॥

(अक्षास) जूएके पासे (इत् अंकुशिन) उकसाने वाले (नि-तोदिन) अनेक प्रकारसे कष्ट देनेवाले, (निकृत्वान) धोखा देनेवाले, (तपना) जलानेवाले, (तापयिष्णव) कष्ट देनेवाले (कु-मार-देष्णा) बुरी तरह नाश करनेवाले (जयत कितवस्य बर्हणा पुनः हन) जीतनेवालेका भी वृद्धि द्वारा फिर नाश करनेवाले (मध्वा संपृक्ता) ऊपरसे मिठाससे भरे हुए, परन्तु वास्तविक इस प्रकार सदा नाश करनेवाले हैं। तात्पर्य सब प्रकारसे जुवेबाजीसे नाश होता है।

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा। उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥ ऋ. १०।३४।८॥

(एषां व्रातः) इनका समूह (त्रि-पञ्च-अशः) तीनगुणे पांचोंको खानेवाला (क्रीडति) खेलता है। (सत्यधर्मा सविता देवः इव) सत्य धर्मके पालन करनेवाले सूर्य देवके समान ये (उग्रस्य मन्यवे) शूर क्षत्रियके क्रोधके सामने भी (न नमन्ते) नहीं नमते। (एभ्य) इनके सामने (राजा चित्) राजा भी (इत् नम कृणोति) नमस्कार ही करता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और निषाद ये पांच प्रकारके लोग हैं। इनमें बाल, तरुण, और वृद्ध ये तीन प्रकार होते हैं। प्रत्येकमें ये तीन तीन होनेसे, पांच गुणा तीन अर्थात् पद्रह प्रकारके लोग होते हैं। सूर्य देव प्रत्येक दिन आकर इन मनुष्योंकी आयु छीनकर चला जारहा है। इसी प्रकार जुएके पांसेभी जहांजाते है, वहा उन जुवे-बाजोंका धन आदि सबकुछ छीनलेजाते हैं। खेलनेके मिषसे सबका सुख हरते है। ये जुएके पास किसीके सन्मुख नम्र नहीं होते, परन्तु जो इनके पास पहुचता है, वह बडा राजा भी क्यों न हो, नम्र और दीन बनता है। इसलिये कोई भी इस जुएके पास न पहुंचे।

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते। दिव्या अंगारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ ऋ. १०।३४।९॥

ये स्वयं (नीचा वर्तन्ते) नीचे हैं, परन्तु (उपरि-स्फुरन्ति) सबके ऊपर नाचते हैं। (अहस्तास) इनको हाथ नहीं हैं, परन्तु ये (हस्त-वन्तं सहन्ते) हातवालोंको पराजित करते हैं। (इरिणे न्युप्ता) जुएके चौकीपर फेंके हुए ये (दिव्याः) खेलनेके पासे (अंगारा) जलानेवाले कायले हैं, ये (शीता सन्तः) स्वयं शीत होनेपर भी (हृदयं दहन्ति) हृदयको जला देते हैं।

सबके ऐश्वर्यको जलानेवाला जुआ बहुतही बुरा है, इसलिये किसीको भी इसके पास नहीं जाना चाहिए।

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्। ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥ ऋ. १०।३४।१०॥

(कितवस्य जाया) जुएबाजकी स्त्री (हीना) कष्टमय अवस्थाको प्राप्त होकर (तप्यते) दुःख भोगती है। (क स्वित् चरतः) कहां कहां घूमनेवाले जुएबाज (पुत्रस्य माता) लडकेकी माता रोती रहती है। (ऋणावा) कर्जेमें सदा

रहता हुआ जुएबाज (बिभ्यत्) सदा डरता रहता है । (धनं इच्छमान) धनकी इच्छा करता हुआ (नक्तं) रातके समय (अन्येषां-अस्तं) दूसरोंके मकानोंमें (उप एति) पहुंचता है ।

जूवेबाजके मकानमें उसके सब संबंधी कष्ट भोगते है, और उसके सबब रोते पीटते रहते है, वह स्वयं कर्जमें डूबनेके कारण सदा डरता रहता है, और पैसा कमानेके लिये रात्रीके समय दूसरोंके मकान तोड़ कर चोरी करनेके लिये प्रवृत्त होता है । इस प्रकार जूएबाजीसे चोर बनता है और अंतमें पकडा जाता है । इस लिये अनर्थकारक जूआ किसीको खेलना नहीं चाहिए ।

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च

योनिम् । पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्रेरन्ते

वृषलः पपाद ॥ ऋ. १०।३४।११॥

(अन्येषां जायां स्त्रियं) दूसरों की युवती स्त्रि को और (सु-कृतं) दूसरों के अच्छे कर्म अथवा दूसरों की अच्छी अवस्था को (च योनिं) तथा दूसरों के अच्छे मकान आदि को (दृष्ट्वाय) देखकर (कितवं ताताप) उस जुवेबाज को बड़ा दुःख होता है, जो जुवेबाज (पूर्व-अह्णे) सबेरे (बभ्रून् अश्वान्) भूरे रंगवाले घोड़े अपनी गाड़ी में (युयुजे) जोतता था; (स हि) वह ही (वृष-ल) धर्मका घात करनेवाला शामको सर्दी हटानेके लिये (अग्ने अन्ते) अग्नि के पास (पपाद) गिरता है ।

दूसरोंके ऐश्वर्य देखकर जुवेबाजको बड़ा क्लेश होता है । जुवेबाजकी यह अवस्था होता है, कि जो सबेरे घोड़ोंकी बग्गीमें बैठता है, वह ही शामको निर्धन बनता है, और शीत निवारणके लिये उसको आगके पास ही बैठकर गुजारा करना पड़ता है । इसलिये जुआ कभी नहीं खेलना चाहिये ।

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।

तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं

वदामि ॥ ऋ. १०।३४।१२॥

(वः) आप सबके (महत गणस्य) महान् सैन्य समुदायका (य सेनानी) जो सेनानायक बन सकता है, और जो (व्रातस्य) सब मनुष्योंका (प्रथम. राजा बभूव) मुख्य राजा हो जाता है, (तस्मै) उसीके लिये (धना कृणोमि) मैं धन देता हूं । (न रुणध्मि) उनकी उन्नतिमें रुकावट मैं नहीं करता । (अहं तत् ऋतं वदामि) मैं वह सत्यही कहता हूं, कि (दश प्राचीः) दश दिशाएं उसके लिये पूर्व दिशाके समान संचार योग्य प्रकाशमय बनाता हूं ।

जो सैन्यका नायक, लोगोंका रंजनकर्ता और पुरुषार्थी होता है, उसको सब दिशा उपदिशाओंमें विजय प्राप्त होता है। परंतु जुवेबाजकी सर्वत्र अवनति होती है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु

मन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे

विचष्टे सवितायमर्यः ॥ ऋ. १०।३४।१३॥

हे (कितव) जुएबाज ! (अक्षैः मा दीव्य.) जुआ मत खेल। (कृषिं इत् कृषस्व) निश्चयसे खेती कर। (बहु मन्यमानः वित्ते रमस्व) अपने धन को बहुत समझकर उसीसे अपने भोग कर। (तत्र गाव.) वहां गौवें हैं, (तत्र जाया) वहां तेरी धर्मपत्नी है, उनकी तरफ देख। (अयं अर्यः सविता) श्रेष्ठ सविता (तत् मे विचष्टे) यह मुझे कहता है।

जुआ नहीं खेलना। खेती करना। अपनी गौवें अपनी गृहिणी आदिकी संभाल करना। जो अपना धन हो, उसीमें अपना भोग भोगना। कभी कर्जा करके तेहवार नहीं मनाना। यही परमेश्वरका सबको उपदेश है।

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि

धृष्णु । नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां

प्रसितौ न्वस्तु ॥ ऋ. १०।३४।१४॥

(मित्र कृणुध्वं) मित्र बनाइए। (नो मृळत खलु) निश्चयपूर्वक हम सबको सुख दीजिए। (घोरेण) क्रोधसे (न) हम सबपर (धृष्णु मा अभि चरत) हमला न कीजिए। (व मन्यु) आप सबका क्रोध (नि विशतां) नष्ट होवे। (अन्य अराति) दूसरा शत्रु (बभ्रूणां प्रसितौ) पोषणकर्ताओंके काबू में (नु अस्तु) निश्चयसे रहे।

परस्पर मित्रता कीजिए। सबको सुख दीजिए। क्रोध से लड़ाई झगड़े न बढ़ाइए। आप शांतिके साथ सब कार्य कीजिए। भरण पोषण कर्ताओंके काबूमें सब शत्रुओं को रखिए।

इस सूक्तका यह स्पष्ट उपदेश है, कि हरएक प्रकारका जुआ खेलना बड़ा हानिकारक है। इस लिये उसे कोई भी न खेले। खेती आदि अच्छे व्यवसाय करके अपने उपभोग के साधन उत्पन्न करे और आनन्दसे अपना जीवन, अपना योग्य कर्तव्य करते हुए, व्यतीत करे। अपने मनके अनुकूल जो व्यवसाय हो, वही मनुष्य करे, और अपने सुखसाधन बढ़ावे।

इस विषयमें निम्न सूक्त देखने योग्य है—

मनुष्यों के विविध कर्म।

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वतमिच्छतीं० ॥ १ ॥

ऋ. ६ । ११२ ॥

(नः जनानां) हमारे मनुष्योंके (व्रतानि) कर्म और (धियः) कल्पनायें (वि वै उ) निश्चयसे भिन्न भिन्न ही हैं। इस कारण समाजमें (नानानं) भिन्नता है। (तक्षा रिष्टं इच्छति) बढई टूटे हुए की ओर देखता है, (भिषक् रुतं इच्छति) वैद्य रोगीको चाहता है, तथा (ब्रह्मा सुन्वंतं इच्छति) ब्राह्मण यज्ञकर्ताको देखता रहता है।

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम् ।
कार्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवंतमिच्छतीं० ॥ २ ॥

ऋ. ६ । ११२ ॥

(जरतीभिः ओषधीभिः) परिपक्व, ओषधियोंसे वैद्य (शकुनानां पर्णेभिः) पक्षियोंके पंखोंसे कारीगर, तथा (द्युभिः अश्मभिः) चमकदार रत्नोंसे (कार्मारः) सुनार-शिल्पकार, (हिरण्यवंतं इच्छति) पैसेवालेकी इच्छा करता है।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमे० ॥ ३ ॥

ऋ. ६ । ११२ ॥

(अहं कारुः) मैं कारीगर हूं। (ततः भिषक्) मेरा पिता वैद्य है। (नना उपलप्रक्षिणी) मेरी माता चक्की पीसती है। इस प्रकार (नाना-धियः) नाना प्रकारकी बुद्धियां धारण करनेवाले परन्तु (वसू-यवः) धनकी इच्छा करनेवाले हम सब अपने अपने कार्यका (अनु तस्थिम) अनुष्ठान करते हैं। और (गाः इव) जैसी भिन्न गौवें एकत्र रहती हैं, वैसे एक घरमें रहते हैं।

अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः । शेपो
रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मंडूक इच्छतीन्द्रायेन्दो
परिस्रव ॥ ४ ॥ ऋ. ६ । ११२ ॥

(वोढहा अश्वः सुखं रथं इच्छति) रथ खींचने वाला घोडा आरामसे रथ खींचना चाहता है। (उपमंत्रिणः हसनां) साथी लोग हास्य विनोद चाहते हैं। (शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ) पुरुष स्त्रीकी इच्छा करता है। (मंडूकः वार् इत् इच्छति) मेंडक पानी चाहता है। इसलिये हे (इन्दो) कलावान् सोम! तू (इन्द्राय परिस्रव) परम ऐश्वर्यवान्‌के लिये फैल जाओ।

इस सूक्तका आशय—हरएक मनुष्यकी बुद्धि और मनःशक्ति भिन्न भिन्न होती है। किसीकी बुद्धि लकड़ीके काममें चलती है, तो दूसरा लोहेके कामको पसंद करता है। इस प्रकार अन्यान्य मनुष्य अन्यान्य व्यवसाय करते हैं, और अपनी रुचिके अनुरूप प्रयत्न करके यश प्राप्त करते हैं। बढई लुहार, सुनार आदिके व्यवसाय इसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं, और याजकोंका व्यवसाय भी इसी प्रकार चलता है। ओषधियां और दवाइयां जमा करके वैद्य रोगीकी प्रतीक्षा करता है, सोना चांदी रत्न आदि जमा करके कारीगर विविध प्रकारके आभूषण तैयार करके ग्राहकोंकी प्रतीक्षा करता है; इसी प्रकार अन्यान्य कारीगर अन्यान्य ग्राहकोंका मार्ग देखते हैं।

समाजमें एक मनुष्य कारीगर होता है, दूसरा वैद्य बनता है, तीसरा सुनारका काम करता है। चौथा ऋत्विजका काम करता है। इसी प्रकार अन्यान्य लोग अन्यान्य कार्य करते हैं। परन्तु सबका एकही उद्देश्य होता है, वह यह है, कि "धन कमाना और सुखसे अपना जीवन व्यतीत करना"। इस उद्देश्यसे सब लोग कार्य करते रहते हैं।

एक घरमें चार भाई चार विभिन्न व्यवसाय करते हैं, और अपना उद्देश्य पूर्ण करके आनंद प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार विविध रंगरूपवाली गौवें एक ही गोशालामें आनंदसे रहती हैं, ठीक उस प्रकार विविध धंदा करनेवाले मनुष्य एक मकानमें और एक ग्राम तथा एक देशमें सुखसे और शांतिसे रहते हैं।

तात्पर्य यह है, कि विविध कारीगरीकी उन्नति करके हरएक मनुष्यको उत्तम श्रेष्ठ धन प्राप्त करके दूसरोंसे विरोध न करते हुए सुख और समाधानसे रहना चाहिये। इसीसे सबकी उन्नति होगी। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रके अंतमें "इंद्राय इन्दो परिस्रव।" यह वाक्य है। यह वाक्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। "इंद्र" शब्द परम ऐश्वर्यवान्‌का वाचक है, धनी, धनवान्, धनाढ्य ये उसके अर्थ स्पष्ट हैं। "इंदु" शब्द "सोम, चंद्र कलानिधि, कलावान्" के वाचक है। चंद्र सोलह कलाओंसे युक्त होता है, और प्रत्येक कलाके चार विभाग होनेसे ६४ कलाओंका संग्रह चंद्रके पास मानना स्वाभाविक है। सब कलावानोंका राजा चंद्र है। चंद्र अपनी कलाओंकी वृद्धि करता है। और धनी सूर्यसे अधिकाधिक प्रकाशरूपी धन प्रतिदिन प्राप्त करता है। जब तक वह कलाओंकी वृद्धि करता है तब तक ही उसको अधिकाधिक धन प्राप्त होता है। परन्तु जिस दिनसे चंद्रकी कलाएं घटने

लगती हैं, उस दिनसे उसको प्रकाश धनभी न्यून प्राप्त होता है, और अंतमें सब कलाओंका क्षय होनेसे वह पूर्ण निर्धन बनता है। इसका तात्पर्य यह है, कि मनुष्यको कलाओंकी वृद्धि अधिकाधिक करनी चाहिये। जिससे उसको धन और ऐश्वर्यकी विपुल प्राप्ति होकर, सुखसे जीवन व्यतीत करनेके विपुल साधन उसके पास इकट्ठे हो जायेंगे।

दान और परोपकार।

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताऽशितमुप
गच्छन्ति मृत्यवः। उतो रयिः पृणतो नोप
दस्यत्युताऽपृणन्मर्डितारं न विन्दते॥ ऋ. १०।११७।१॥

(देवा) देवोंने गरीबोंके लिये हि (क्षुधं इत्) भूख नामक (वधं ददु) मृत्यु दिया है, ऐसा (न वा उ) निश्चयसे नहीं कहा जा सकता, क्योंकि (अशितं उत) भोजन करनेवालेके पास भी (मृत्यव उपगच्छन्ति) मृत्यु पहुंचही जाती है। (उत) निश्चय से (पृणत रयि) दान देनेवालेका धन (न उप दस्यति) नाश नहीं होता, (उत) परन्तु (अपृणन्) दान न देनेवालेको कोई (मर्डितारं) सुख देनेवाला मित्र (न विन्दते) नहीं प्राप्त होता।

धनिक लोग भी मरते हैं, और गरीब भी बहुत पुष्ट रहते हैं, इसलिये गरीब कष्ट भोगनेके लिये ही निर्माण हुए हैं ऐसा कहना भूल है। धनवान् लोग गरीबोंको दान और सहायता देकर उनको सुखी करें। दान और परोपकार करनेसे धनवानोंका धन नष्ट नहीं होता, प्रत्युत बढ़ जाता है। दानी मनुष्यको सुख और शांति देनेवाले मित्र बहुत ही मिलते हैं परन्तु दूसरोंकी सहायता न करने वालोंको कोई भी सुख देनेवाला मित्र नही मिल सकता। इसलिये परोपकार करना हरएकको योग्य है।

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफि-
तायोप जग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो
चित्स मर्डितारं न विन्दते॥ ऋ. १०।११७।२॥

(य अन्नवान् सन्) जो अपने पास अन्न रखता हुआ (पित्व चकमानाय) अन्नकी इच्छा करनेवाले (रफिताय) बुरी अवस्थामें पडे हुए (उप-ज-

ग्मुषे) पास आए हुए (आध्राय) गरीबके लिये अपना (मनः) मन (स्थिरं कृणुते) कठोर करता है, अर्थात् उसको अन्न नहीं देता, (उत) और उसके (पुरः सेवते) सामने ही मजेसे स्वयं अन्न खाता है, (चित् सः) निश्चयसे उसको (मर्डितारं) सुख देनेवाला मित्र (न विन्दते) नहीं प्राप्त होता।

दरवाजेपर गरीब मनुष्य के आनेपर भी जो उसको कुछ सहायता नहीं देता, परन्तु स्वयं अन्नका भोग करता है। वह सचमुच बड़ा स्वार्थी है, इसलिये उसको सुख देनेवाला मित्र नहीं मिलता, और पीछेसे उसको पछताना पडता है।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ऋ. १०।११७।३॥

(य) जो (कृशाय) दुर्बल कृश (अन्न-कामाय चरते) और अन्नकी इच्छासे भ्रमण करनेवाले (गृहवे) घर घरमें जाकर भीख मांगनेवाले याचकको (ददाति) अन्न देता है, (स इत् भोज) वह ही सच्चा भोजन करता है। (अस्मै) इस दाताके पास (याम-हूतौ) योग्य समयपर दान करनेके लिये (अरं भवति) पर्याप्त अन्न होता है। (उत) और (अ-परीषु) कठिन प्रसंगमें (सखायं कृणुते) मित्र बनाता है।

अर्थात् दानका भाव होनेके कारण दाताको मित्रोंका साहाय्य प्राप्त होता है। जो दूसरोंको दान देता है, वही सच्चा भोजन करता है। दूसरोंको दान न देते हुएही जो स्वयं भोजन करता है, वह सच्चा भोजनही नहीं है। दानी मनुष्यको सदा बहुत मित्र होते हैं, इसलिये उसका जीवनक्रम अत्यंत सुखसे व्यतीत होता है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ऋ. १०।११७।४॥

(पित्वः सचमानाय) अन्नकी इच्छा करनेवाले (सचाभुवे सख्ये) समान विचारके मित्रको भी (य न ददाति) जो नहीं देता, (न स सखा) वह सच्चा मित्र नहीं है, (अस्मात्) इससे (अप प्रेयात्) दूर भागना चाहिए, (तत् ओकः न अस्ति) उसका घर सच्चा घर ही नहीं है। (पृणन्तं अन्यं) दूसरे दान देनेवाले और (अरणं) सरलतासे आश्रय देनेवालेकी (चित् इच्छेत्) इच्छा करनी योग्य है। जो धनी मनुष्य गरीब मनुष्यको कभी दान नहीं देता, उसका घर सच्चा घर नहीं है। वहांसे दूर ही जाना चाहिये। क्योंकि सच्चा घर वही होता है कि जहां दानी मनुष्य रहता है। उसके पास सब मित्र इकट्ठे होते हैं।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनुपश्येत पंथाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥ ऋ. १०।११७।५॥

(तव्यान्) बलवान् (नाधमानाय) सहायताकी इच्छा करनेवाले अशक्त के लिये (इत् पृणीयात्) अवश्य सहायता देवे और (द्राघीयांसं पन्थां) दीर्घ मार्गकी ओर (अनु पश्येत) ध्यान देवे। (रथ्या चक्रा इव) रथके चक्रके समान (उ हि) निश्चयसे धन (आवर्तन्ते) घूमते हैं। (रायः) संपत्तियां (अन्यं अन्यं) एकके पाससे दूसरेके प्रति (उप तिष्ठन्त) चली जाती हैं॥

धन किसी एकके पासही स्थिर रूपसे नहीं रहता, जो आज श्रीमान् दिखाई देता है, वह ही भविष्य कालमें अत्यंत निर्धन बन जाता है। इसलिये धनका गर्व किसीको नहीं करना चाहिए। भविष्य कालके बडे लंबे मार्ग पर दृष्टि रखकर, जो सहायता देनेके लिये सचमुच योग्य है, उनको अवश्य सहायता देनी चाहिए॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ऋ. १०।११७।६॥

(य) जो धनवान् होता हुआ भी (अर्य-मणं) श्रेष्ठ मन वालेकी (न पुष्यति) सहायता नहीं करता और (नो सखायं) अपने मित्रका भी साहाय्य नहीं करता, वह (केवल-आदी) केवल स्वय ही भोग करनेवाला (केवल-अघ) केवल पापरूप (भवति) बनता है। (सत्य ब्रवीमि) मैं सच कहता हु कि, वह (अप्रचेता) दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य (अन्नं मोघं विन्दते) अन्नको व्यर्थ प्राप्त करता है। उनका अन्न सच्चा अन्न न समझिए परन्तु (स इत्) वह अन्न निश्चयसे (तस्य वध) उसका नाश है॥

दुष्टोंके पास भोग बढनेसे उनकाही नाश होता है, इसलिये सज्जनोंकी अवश्य सहायता करनी चाहिये। दूसरोंको दान न देते हुए ही जो स्वय भोग भोगता है उसका वह अन्न सच्चा अन्न नहीं है, परन्तु वह अन्न सचमुच उसके नाशका हेतु है, इसलिये दान करनेके पश्चात् ही अन्नका भोग करना चाहिये।

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृंक्ते चरित्रैः। वदन्ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥ ऋ. १०।११७।७॥

(कृषन् इत्) खेती करता हुआ ही (फाल) फारही (आशितं कृणोति) भोजन करता है और (यन्) चलनेवालाही (चरित्रैः) पावोंसे (अध्वानं अपवृंक्ते)

मार्गको समाप्त करता है। (वदन् ब्रह्मा) उपदेश करनेवाला ज्ञानी (अ-वदतः) चुप बैठनेवालेसे (वनीयान्) श्रेष्ठ है। उसी प्रकार (पृणन् आपि.) दाता मित्र (अपृणन्तं) अदाता कृपणसे (अभि स्यात्) श्रेष्ठ है।

पुरुषार्थी किसान धान्य उत्पन्न करता है, और पुरुषार्थसेहि मनुष्य एक स्थानसे दूसरे स्थानको पहुंचता है। अर्थात् उन्नतिके लिये उपदेश न करनेवाले मनुष्यसे उपदेश करनेवाला श्रेष्ठ है। और अदातासे योग्य रीतीसे दान करनेवाला बहुत अच्छा है॥

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपाद-
मभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
संपश्यन् पंक्तीरुप तिष्ठमानः॥ ऋ. १०।११७।८॥

(एक-पात्) एकगुणा धन रखनेवाला (भूयः) विशेष कर (द्वि-पदः) दुगने धनवालेके (विचक्रमे) मार्गका आक्रमण करता है। (द्वि-पाद्) दुगना धन रखनेवाला (त्रिपाद्) तिगने धन वालेके (पश्चात्) पीछेसे (अभि-एति) जाता है। (चतु पाद्) चौगुना धन रखनेवाला (द्वि-पदां) दुगने धन वालोंके (अभि-स्वर) स्तुति की ध्वनिमें (उप-तिष्ठमान) आदरको प्राप्त होता हुआ छोटे धनिकोंकी (पंक्ती) पंक्तियोंको (संपश्यन्) देखता हुआ (एति) चलता है।

साधारण मनुष्य अधिक अधिक धन कमानेके लिये रात दिन प्रयत्न करते रहते हैं. और साधारण लोक धनिकोंका ही आदर सत्कार करते रहते हैं, परन्तु वास्तवमें सद्गुणोंका आदर होना चाहिए। और अपने अंदर श्रेष्ठ गुणोंका संवर्धन करना चाहिये। विद्या और सद्गुणों की अपेक्षा धनका संमान अधिक नहीं है।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न
समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती
चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥ ऋ. १०।११७।९॥

(समौ हस्तौ चित्) दोनों हाथ एक जैसे होनेपर भी (न समं विविष्ट) समान कर्म नहीं करते। (सम्मातरौ चित्) एक माताकी बछडिया होती हुई भी दो गौवें (समं न दुहाते) एक जैसा दूध नहीं देतीं। (यमयोः चित्) एक साथ जन्मे हुए युगल भाई भी (न समा वीर्याणि) एकसा पराक्रम करनेवाले नहीं होते। तथा (ज्ञाती चित्) एक कुलके होते हुवे भी (सम न पृणीत) एक जैसा दान नहीं करते।

हरएककी पुरुषार्थ करनेकी शक्ति भिन्न भिन्न होती है, इसलिये दूसरा अच्छा कर्म नहीं करता, इस हेतुसे स्वयं सत्कर्मसे पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। सबको सदा उन्नतिके लिये पुरुषार्थ करनाही चाहिये। और दूसरा सत्कर्म

अथवा दान नहीं करना है, इसलिये मैं भी नहीं करूंगा, ऐसा कहना किसीको भी योग्य नहीं हैं। हरएकको सत्कर्म करनेके समय, "दूसरेसे अधिक श्रेष्ठ कर्म मैं करूंगा" ऐसा भाव मनमें धारण करना चाहिये। और अत्यधिक परोपकारके कर्म करके आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहिये।

तीन देवियां।

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।

बर्हिः सीदंत्वस्रिधः ॥ ऋ. १।१३।९ ॥

(इळा) मातृभाषा, (सरस्वती) मातृसभ्यता और (मही) मातृभूमि ये (तिस्र देवी) तीन देवताएं (मयोभुव) कल्याण करनेवाली हैं। इसलिये ये तीनों देवता (बर्हि) अन्त करणमें (अस्रिध) न भूलते हुए (सीदन्तु) बैठें।

'इळा" शब्द "भाषा" वाचक है, इळा और इडा ये दोनों शब्द "इल" धातुसे बने हैं। इडा और इलाके अर्थ बहुत हैं। परन्तु यहां "भाषा" अर्थ विवक्षित है। अर्थ स्पष्ट होने के लिये अर्थमें "मातृ-भाषा" ऐसा अर्थ लिखा है। जो जिन लोगों की जन्मभाषा होती है, वही उनकी मातृभाषा कही जाती है।

"सरस्वती" शब्द का मूल अर्थ (सरस्) प्रवाह से युक्त है। अनादि प्रवाह से गुरुशिष्यपरम्परा के द्वारा जो विद्याकी संस्कृति और सभ्यता आती है, उस प्रवाहमयी सभ्यता का नाम सरस्वती है।

"मही" शब्दका भाव भूमि है अर्थात् मातृ-भूमि यही अर्थ यहां विवक्षित है। ये तीनों देवियां ऐसी हैं, कि जिनकी उपासना हरएक मनुष्य को करनी चाहिये। इन तीन देवियों के उपासक राष्ट्रके अन्दर जितने अधिक होंगे, उतना राष्ट्रका अधिक अभ्युदय होगा। इसलिये ही-वेदका कहना है, कि इन तीन देवियों के लिये हरएक के हृदय में स्थान होना चाहिये।

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही

भारती गृणाना ॥ अथ० ५।२७।९॥

तिस्रो देवीर्बर्हिरेद१ सदन्त्विडा सरस्वती भारती।

मही गृणाना ॥ यजु० २७ । १९॥

(इडा) वाणी, (सरस्वती) विद्या और (मही भारती) भरणकर्त्री भूमि ये (तिस्र देवी) तीन देवियां (मयो-भुव) उत्साह उत्पन्न करनेवाली हैं। ये तीनों (अ-स्रिधः) न भूलती हुई (इदं बर्हिः) इस मन में (आ सीदन्तु) बैठें।

सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती
विश्वतूर्तिः । तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं
पान्तु शरणं निषद्य ॥ ऋ. २।३।८॥

(न धियं साधयन्ती) हमारी बुद्धिका साधन करनेवाली (सरस्वती) विद्या, (इळा) मातृभाषा तथा (विश्वतूर्ति. भारती) सबसे विशेष मातृभूमि ये (तिस्रःदेवी) तीन देवियां (स्वधया) अपनी धारणा शक्ति के साथ (इदं बर्हिः) इस यज्ञस्थानका (शरणं निषद्य) आश्रय लेकर (अच्छिद्रं) दोष रहित रीति से (पान्तु) सुरक्षित करें।

विद्या=संस्कृति, भाषा और मातृभूमि ये तीन देवियां बड़ी शक्ति-शाली हैं। अपनी शक्तिसे हमें आश्रय देकर हम से यह हमारा शत-सांवत्सरिक यज्ञ पूर्ण करावें। हमारी पूर्ण आयुतक इन तीन देवियों की भक्ति हमसे होती रहे।

आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्ये-
भिरग्निः । सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो
देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ॥ ऋ. ७।२।८॥

(भारतीभिः भारती) भारती अर्थात् भूमि के ऊपरकी जनताके साथ मातृभूमि, (देवै मनुष्येभि) दिव्य मनुष्यों के साथ (इळा-इडा) मातृभाषा, (सारस्वतेभिः सरस्वती) विद्याभक्तोंके साथ विद्या देवी, ये तीनों देवियां (सजोषा) समान प्रीति से (अर्वाक्) हमारे पास आकर (बर्हिः) अन्तःकरण में (आ सीदन्तु) बैठें।

हरएक मनुष्य के मनके अन्दर तीन देवियों के विषय में भक्ति अवश्य रहनी चाहिये। (१) सब देशबान्धवों के साथ मातृभूमि, (२) मातृभाषा भाषियों के साथ मातृभाषा, (३) और समान सभ्यतावालों के साथ विद्या, ये तीन देवियां हैं, जिनकी उपासना हरएक मनुष्य को करनी चाहिये।

सरस्वती देवी।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं
वष्टु धियावसुः ॥ ऋ. १।३।१० ॥

(पावका) पवित्र करनेवाली, (धिया-वसुः) बुद्धिके साथ रहनेवाली

(वाजेभि वाजिनीवती) अनेक बलों से बलवती (सरस्‌वती) सरस्वती विद्यादेवी (न) हमारे (यज्ञं) वाणीके यज्ञ की (वष्टु) इच्छा करे ।

सरस्वती=विद्यादेवी मनुष्योंको पवित्र करनेवाली, बुद्धिके साथ रहकर कार्य करनेवाली और विविध शक्तियों से युक्त है, वह हमारी वाणीके यज्ञ की पूर्णता करने वाली होवे।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।

यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ऋ. १।३।११ ॥

यह (सरस्वती) विद्यादेवी (सूनृतानां) उत्तमभावनाओं की (चोदयित्री) प्रेरक, (सुमतीनां) उत्तमबुद्धियों को (चेतन्ती) चेतना देनेवाली है, वह हमारे वाणीके (यज्ञं) यज्ञ को (दधे) धारण करे।

विद्या देवीसे मनके अन्दर उत्तम शुभ भावनाओंका आविष्कार होता है। बुद्धिकी भी पवित्रता होती है। इसलिये इस विद्या देवीसे हमारा वाग्यज्ञ पवित्र होवे।

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।

धियो विश्वा विराजति ॥ ऋ १।३।१२ ॥

(सरस्वती) विद्यादेवी (मह अर्णः) महान् हलचलका समुद्रही है, वह (केतुना) विज्ञानसे (प्रचेतयति) सज्ञान युक्त करती है। और (विश्वा धिय) सब बुद्धियोंको (वि राजति) प्रकाशित करती है।

विद्या ही हलचल करनेवाला महान् समुद्र है, उसका पार लागना कठिन है, और जहां विद्याके संस्कार होते हैं, वहां उन्नतिकी हलचल शुरू हो जाती है। विद्या ही सबको चेतना और उत्साह देती है और सबकी बुद्धियों को प्रकाशित करती है, अर्थात् विद्याके प्रसादसे प्रकाशित बुद्धियां ही विश्वका राज्य कर रही हैं।

प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।

धीनामवित्र्यवतु ॥ ऋ. ६।६१।४ ॥

(वाजेभिः) बलों से (वाजिनीवती) बलवती (सरस्वती देवी) विद्यादेवी (धीनां अवित्री) बुद्धियों की रक्षा करनेवाली (न प्र अवतु) हमारी रक्षा करे।

विद्यासे अनन्त बल प्राप्त होते हैं, और बुद्धियोंपर शुभ संस्कार होता है। इस प्रकार विद्यासे विद्वान् बलवान् और सुबुद्धिमान् होकर हरएक मनुष्य अपना रक्षक बने और कभी परावलम्बी न रहे।

त्वं देवि सरस्वत्यवा वाजेषु वाजिनि ।

रदा पूषेव नः सनिम् ॥ ऋ. ६।६१।६ ॥

हे (सरस्वति देवि) सरस्वती देवी=विद्यादेवी! हे (वाजेषु वाजिनि) बलों में बलवती! (त्वं) तू (अव) रक्षा कर। (पूषा इव) पोषक देवताके सदृश (न) हमें (सनिं दद) धनादि भोग दे।

सरस्वती=विद्यादेवी से अनेक धन प्राप्त होते हैं। सुख साधन विद्यासे ही बढ़ते हैं, तथा वैयक्तिक और सामुदायक उन्नति भी विद्याके बढ़ जाने से ही हो सकती है।

यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः।

अमश्चरति रोरुवत्॥ ऋ. ६।६१।८॥

(यस्या) जिस विद्याका (अनन्त) अंतरहित, (अह्रुतः) अकुटिल, सीधा, (चरिष्णुः) आगे बढ़नेवाला (अर्णव) समुद्रके समान गंभीर (रोरुवत्) शब्दमय (त्वेषः अम) तेजस्वी सामर्थ्य (चरति) चलता है, उसका अभ्यास करो।

इस जगत्में विद्याका वेग ऐसा चल रहा है, कि जिसका कोई अंत नहीं है, जो सीधा, बढ़नेवाला, गंभीर, तेजस्वी और प्रभावशाली वेग है। इसलिये इस विद्याके वेगको अपने अनुकूल बनाना, तथा स्वयं उस ज्ञानके वेगसे वेगवान् बनना चाहिये।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।

सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥

ऋ. १०।१७।७॥

(देवयन्त) देवता बननेकी इच्छा करनेवाले (सरस्वतीं) विद्या देवीको (हवन्ते) बुलाते हैं। (अध्वरे तायमाने) यज्ञके समय (सरस्वती) विद्यादेवीकी उपासना होती है। (सुकृत सरस्वतीं अह्वयन्त) अच्छा कर्म करनेवाले विद्या देवीको पुकारते हैं। यह (सरस्वती) सरस्वती देवी (दाशुषे वार्यं दात्) दाताको सामर्थ्य देती है।

उक्त अवस्थाओंमें विद्यादेवीकी उपासना लोग करते हैं। विद्यासे बल बढ़ता है, और सब उन्नति और पुरुषार्थ करना मनुष्यके लिये सुकर हो जाता है। इसलिये विद्याका बल बढ़ाना चाहिये और ज्ञानसे अपने सब सुख साधन परिपूर्ण करने चाहियें। विद्या दानसे बढ़ती है, यह इसकी अन्य पदार्थोंसे विशेषता है।

सब का कल्याण।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो

जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु

ज्योगेव दृशेम सूर्यम्। अ. १।३१।४॥

(नः मात्रे) हमारी माताके लिये और (पित्रे) पिताके लिये (स्वस्ति अस्तु) कल्याण प्राप्त होवे। (गोभ्यः) गौवोंके लिये, (पुरुषेभ्य) मनुष्योंके लिये (जगते) हलचल करनेवाले प्राणिमात्रके लिये (स्वस्ति) आनन्द प्राप्त हो। (नः) हमारे पास (विश्वं सुभूतं) सब प्रकारका उत्तम ऐश्वर्य तथा (सु-विदत्रं) उत्तम ज्ञान (अस्तु) हो, (सूर्य ज्योक् एव) सूर्यको बहुत काल तक (दृशेम) हम देखते रहें।

अपने माता पिताका कल्याण होवे। गाय, घोड़े, मनुष्य तथा सब प्राणिमात्रका कल्याण हो। धन और ज्ञानसे हम युक्त होवें और दीर्घायु प्राप्त करें। यही इच्छा हरएकको मनमें धारण करनी चाहिये।

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः। ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो
दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ ऋ. १०।६३।४॥

(नृचक्षस) मनुष्यमात्रको सुशिक्षा देनेवाले, (अनिमिषन्त) आलस्यरहित अर्थात् अत्यत उत्साही, (अर्हणा देवास) योग्य देवही (बृहत् अमृतत्वं आनशु) बडा अमर-पन प्राप्त करते हैं। जिनकी (अ-हि-माया) कुशल कर्म करनेकी शक्ति कम नहीं होती, जो (अन् आगस) निष्पाप होते हैं, वही (ज्योतीरथा) तेजस्वी रथोंमें बैठने हुए, (स्वस्तये) सबका कल्याण करनेके हेतुसे (दिव वर्ष्माणं वसते) श्रेष्ठ दिव्य स्थानोंमें विराजते हैं।

इस मत्रमें (१) सर्व जनोंको सुशिक्षा देना, (२) निरलसता, (३) विशेष योग्यता, (४) कुशल कर्मोंमें प्रवीणता, (५) निष्पाप होना ये श्रेष्ठ पुरुषोंके गुण बताये है, इन गुणोंसे सुभूषित श्रेष्ठ सज्जन जगत्का भला कर सकते हैं। इसलिये हर एक मनुष्यको ये गुण अपने अंदर बढाने चाहिये।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः। ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः
पिपृता स्वस्तये॥ ऋ. १०।६३।८॥

(ये) जो (प्रचेतस) विशेष बुद्धिमान् (विश्वस्य स्थातु जगत च मन्तव) सब स्थावर जगमके हितका विचार करनेवाले (देवासः) महात्मा जन (भुवनस्य ईशिरे) सृष्टिके स्वामी बनते है, (ते) वे (अद्य) आजही (कृतात्) कृत और (अकृतात्) अकृत (एनस) पापसे (न. परिपिपृत) हम सबको बचावें और सब का (स्वस्तये) कल्याण करें।

सबके हित करनेका विचार करना और स्वयं ज्ञानसपन्न बनना, ये दो बातें मुख्यतया अधिकारियोंके लिये उचित है। यदि अधिष्ठाता अज्ञानी हुआ अथवा वह दूसरोंकी भलाईका विचार करनेमें असमर्थ हुआ, तो उसके अधिकार से जनताको क्या लाभ हो सकता है? अधिकारियोंके अज्ञानका

परिणाम जनतापर बहुत बुरा होता है. इस लिये उक्त सूचना वेद में दी गई है, अधिकारियोंका कर्तव्य है, कि वे जनता को सब प्रकारके पापमय आचरणों से उपदेश द्वारा और योग्य शासनद्वारा बचावें, और सबको कल्याणके मार्ग पर चलनेमें योग्य और उचित सहायता देते रहें। इसीप्रकार जनताकी उन्नति हो सकती है।

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रा-
मघायतः। आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः
शर्म यच्छता स्वस्तये ॥ ऋ. १०।६३।१२॥

हे (देवा) देवो! (अमीवां अप) हम सबसे बीमारियां दूर करो, (विश्वां अनाहुतिं अप) त्याग दान आदि न करनेके सब स्वार्थी भावोंको हम सबसे दूर करो, (अघायतः) पापी आचरण करनेवालोंके (दुर्विदत्रां अरातिं) दुष्ट दुराचारोंको (अप) हमसे दूर करो, (द्वेष अस्मत् आरे) परस्परका द्वेष हम सबसे दूर करो और (न उरु शर्म) हम सबको अत्यन्त शान्ति और (स्वस्तये) स्वस्थता (यच्छत) अर्पण कीजिए।

(१) सब बीमारियां दूर करके सर्वत्र आरोग्य की अवस्था संपादित करनी चाहिये। आरोग्य पूर्ण होनेकी अवस्था में ही सब लोग पुरुषार्थ कर सकते हैं। (२) परस्पर उपकार करनेका भाव भी लोगों में होना चाहिये। इससे आपसके झगडे दूर होकर एकता का बल बढ जाता है। (३) समाज से पापी और दुष्टोंको दूर करना चाहिये अथवा उनको सुधारकर उनको सज्जन बनाना चाहिये। (४) जिस किसी कारणसे आपस में द्वेष उत्पन्न होता है, उस कारण को सब उपायों से हटाना चाहिये। इतना करनेसे जनता का कल्याण हो सकता है।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि
नो निवर्तताम्। देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा
न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ ऋ. १।८९।२॥

(देवानां) ज्ञानियों की (भद्रा सुमति) कल्याण कारक उत्तम बुद्धि (ऋजूयता) सीधी होकर हमारे पास आ जाए। (देवानां राति) श्रेष्ठोंका दान (न अभि निवर्ततां) हमारे पास आ जाय। (देवानां) श्रेष्ठों के साथ (वयं सख्यं उपसेदिम) हम सब मित्रता करें। तथा (जीवसे आयुः देवा नः प्रतिरन्तु) आयुष्यवर्धनका उपाय श्रेष्ठ सत्पुरुष हमें बतावें॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता
ऋतज्ञाः। ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात

स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ऋ. ७।३५।१५ ॥

(ये) जो (यज्ञियानां देवानां यज्ञिया) पूज्य देवोंमें अत्यन्त पूजनीय (मनोः यजत्राः) मनुष्योंसे सत्कार करने योग्य, (अमृता) अमर और (ऋतज्ञाः) नियमोंको जाननेवाले हैं, (ते) वे (नः) हम सबको (अद्य) आजही (उरु-गायं रासन्तां) विस्तृत यशोमार्ग बता देवें। (यूयं) आप (नः) सब हमको (स्वस्तिभिः) कुशलता पूर्वक (सदा) सदा (पात) सुरक्षित कीजिए।

स्वस्ति नो दिवो अग्ने पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यज-

थाय देव। सचेमहि तव दस्म प्रकेतैरुरुष्या ण

उरुभिर्देव शंसैः ॥ ऋ. १०।७।१॥

हे (अग्ने) अग्रणि ! (नः) हम सबके लिये (दिवः पृथिव्याः) आकाश और पृथिवीमें (स्वस्ति) स्वस्थता प्राप्त होवे। हे देव ! (यजथाय) सत्कार संगति-दानात्मक सत्कर्म करनेके लिये हम सबको (विश्व-आयु) पूर्ण दीर्घ आयु (धेहि) प्रदान करो। हम सब (तव) तेरे भक्त पूर्ण आयु (सचेमहि) प्राप्त करें। हे (दस्म देव) दर्शनीय देव ! (नः) हम सबको (उरुभिः शंसैः प्रकेतैः) महान् प्रशस्त ज्ञानोंके साथ (उरुष्य) श्रेष्ठ बनाओ।

स्वास्थ्य, पूर्ण आयु और श्रेष्ठज्ञान प्राप्त करके हरएक मनुष्य को श्रेष्ठ बनना चाहिए।

अधिक उन्नत होनेका आदेश।

दृष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥ अ. २।११॥

हे मनुष्य ! तू (दूष्या) दूषित क्रिया का (दूषि) नाशक (असि) है। (हेत्याः हेतिः असि) तू शस्त्रका शस्त्र है। (मेन्याः मेनिः असि) वज्रका वज्र तू है। इसलिये (समं) समानों के (अति क्राम) आगे बढ़ और (श्रेयांसं आप्नुहि) कल्याण को प्राप्तकर।

मनुष्य दोषों को दूर करनेवाला है, शत्रुके नाश करनेके लिए विविध शस्त्रोंका उत्पन्न करनेवाला है। उसको उचित है, कि वह अपने समान लोगोंसे भी अपनी अवस्थाका अधिक सुधार करके अत्यंत कल्याण प्राप्त करे॥

इस जगत्में मनुष्यही दोषोंको दूर कर सत्कर्मका प्रचार करता है, शस्त्रास्त्रोंको उत्पन्नकर उनका उपयोग करता है, इसलिये उसको उचित है, कि वह अपने समान जो लोग हैं, उनसे अधिक उन्नति प्राप्त करे और अधि-

काधिक कल्याण संपादन करे। और कभीभी हीन अवस्थामें न रहे, सदा आगे बढ़नेका यत्न करे।

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ २ ॥ अ. २।११॥

हे मनुष्य ! तू (स्रक्त्य असि) प्रगतिशील है, (प्रतिसर असि) तू आगे बढनेवाला है, (प्रत्यभिचरण असि) तू दुष्टतापर हमला करनेवाला है। इसलिये (समं) अपने समान लोगोंसे (अति क्राम) आगे बढ और (श्रेयांसं आप्नुहि) श्रेयको प्राप्त कर॥

मनुष्यका स्वभाव प्रगतिशील, अभ्युदय प्राप्त करनेवाला, तथा शत्रुको दूर करनेवाला ही है। इसलिये हरएकको उचित है, कि वह, अपने समान जो लोग है, उनसे अधिक प्रयत्न करके आगे बढे, और अधिक कल्याण प्राप्त करे।

हरएक बातमें स्वयं अपनी उन्नति करें, सब अन्योंकी अपेक्षा अधिक आगे बढें, दुष्टताका नाश करके सत्पक्षके पक्षपाती होकर, श्रेष्ठ व्यवहार करें और अपनी उन्नति सिद्ध करें। परन्तु किसीभी अवस्थामें हीन स्थितिमें न रहें। सदा उन्नति प्राप्त करनेका परम पुरुषार्थ करें। योग्य प्रयत्नके पश्चात् यह अवश्य मिलेगी।

प्रति तमभि चर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥ अ. २।११॥

(यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबसे द्वेष करता है, इसलिये (यं वयं द्विष्मः) जिस अकेलेसे हम सब द्वेष करते हैं। (तं) उस पर (प्रति अभिचर) तू हमला कर। और समान जनोंसे आगे बढकर अत्यंत कल्याण प्राप्त कर।

जो अकेला सब दूसरोंसे वैर करता है, इसलिये सब जनता जिसको नहीं चाहती, उस मनुष्यको दूर करना चाहिये। तथा हरएक मनुष्य प्रबल पुरुषार्थ करके आगे बढे, और अपनी विशेष उन्नति सिद्ध करे॥

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥ अ. २।११॥

हे मनुष्य ! तू (सूरि असि) ज्ञानी है, (वर्च-धा असि) तू तेजस्वी है, (तनू-पान असि) शरीरका रक्षक है, इसलिये समानोंके आगे बढकर निःश्रेयस प्राप्त कर।

मनुष्य अपना ज्ञान बढानेमें समर्थ है, वह तेजस्वी भी है, और अपने शरीरका तथा अन्योंके शरीरोंका संरक्षण करनेका सामर्थ्य रखता है। इसलिये वह ज्ञानी बन, तेजस्वी हो और अपना तथा दूसरोंका उत्तम संरक्षण कर,

सबसे आगे बढकर अत्यंत कल्याण मंगल प्राप्त करे। दूसरोंका संरक्षण करनेके लिये अपने आपको समर्थ करना ही अन्योंके आगे बढ जाना है। इसलिये अपनी हरएक शक्तिकी परम उन्नति सिद्ध करनी चाहिये। और अन्य जनताके संरक्षण करनेके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिये। इस प्रकार जो मनुष्य परोपकारके लिये आत्म-समर्पण करनेको सिद्ध होते हैं, वे सदा वंदनीय बनते हैं।

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥ अ. २।११॥

हे मनुष्य! तू (शुक्रः असि) वीर्यवान् है, (भ्राजः असि) तेजस्वी है, (स्वः असि) आत्मशक्तिसे युक्त है, (ज्योतिः असि) तू स्वयं तेजरूप ही है। इसलिये (समं अतिक्राम) समानोंके आगे बढ और (श्रेयांसं आप्नुहि) श्रेष्ठ कल्याण प्राप्त कर।

मनुष्य वीर्यवान्, शूर, बलवान्, तेजस्वी, उत्साही, आत्मिक शक्तिसे संपन्न, और स्वयं तेजकी ज्योति ही है। इसलिये वह अन्योंसे आगे बढे और अत्यंत कल्याण प्राप्त करे। और कदापि पीछे न रहे॥

मनुष्यके अंदर इतनी शक्तियां हैं, कि उन्नतिके मार्गसे प्रयत्न करने पर वह बहुत उन्नत हो सकता है। इसलिये हरएक मनुष्य इन मंत्रोंके उपदेशानुसार अपने अंदर इन शक्तियोंका अस्तित्व जानकर उनको उन्नत करके श्रेष्ठ तथा आदर्श बने और कदापि अवनत अवस्थामें न रहे।

संगठन से उन्नति।

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।

इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ ऋ. १०।१९१।१॥

हे (वृषन्) बलवान् और (अर्य) श्रेष्ठ (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर! तुम (विश्वानि) सब पदार्थों को (इत्) निश्चय से (सं सं आ-युवसे) एकत्रित कर के संमिलित करते हो, और (इल पदे) भूमि अथवा वाणीके स्थानमें (सं इध्यसे) उत्तम प्रकारसे प्रकाशित होतेहो, इसलिये (स) वह तुम (नः) हम सबके लिये (वसूनि) सब प्रकारके निवास साधक धन (आ भर) प्राप्त कराओ।

हे सर्वशक्तिमन्! सबसे श्रेष्ठ ईश्वर! तुम इस संपूर्ण जगत्में संमेलन-कार्य करते हो, और सर्वत्र तेजके साथ प्रकाशित हो। इसलिये उन्नति साधक सब धन हम सबको पूर्ण रीतिसे प्राप्त कराओ।

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ ऋ १०।१९१।२॥

हे भक्तो ! तुम सब (संगच्छध्वं) एक होकर प्रगति करो। (सं वदध्वं) उत्तम प्रकारसे संवाद करो। (व: मनांसि) तुम सबके मन (सं जानतां) उत्तम संस्कारोंसे युक्त हों। तथा (पूर्वे) पूर्वकालीन (सं जानाना देवा:) उत्तम ज्ञानी और व्यवहार चतुर लोग (यथा) जिस प्रकार (भागं) अपने कर्तव्यका भाग (उप-आसते) करते आये हैं, उसी प्रकार तुम भी अपना कर्तव्य करते आओ।

एक हो जाओ, मिलकर रहो, आपसमें उत्तम प्रेमपूर्वक भाषण करो, तथा वादविवाद करके सर्व संमतिसे बातोंका निश्चय करो, तथा अपने मन सुसस्कारसे युक्त करो। जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वकालीन बड़े ज्ञानी लोग अपने अपने कर्तव्य का भाग करते आये हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने कर्तव्योंका हिस्सा उत्तम रीतिसे करो। इस प्रकार बर्ताव करनेसे तुमको जो उन्नति चाहिए, सो प्राप्त होगी।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह
चित्तमेषाम्। समानं मंत्रमभि मंत्रये वः समानेन
वो हविषा जुहोमि॥ ऋ १०।१९१।३॥

तुम सबका (मंत्र) विचार (समान) एकहो। (समिति) तुम्हारी सभा (समानी) सबकी एक जैसीहो। (मन समानं) तुम सबका मन एक विचारसे युक्त हो (एषां चित्तं सह) इन सबका चित्त भी सबके साथ ही हो। (व:) तुम सबको (समान मंत्रं) एकहि विचारसे (अभि मंत्रये) युक्त करता हूं और (व:) तुम सबको (समानेन हविषा) एक प्रकारके अन्न और उपभोग (जुहोमि) देता हूं।

सबका उद्देश, विचार, चिंतन, और ख्याल एकही दिशासे होता रहे। अर्थात् तुम सबमें विचारोंकी भिन्नता न होवे। सभामें जानेका तुम सबको समान अधिकार है। तुम सबमें एकता होनेके लिये तुम सबको समान विचार और समान उपभोग देता हूं। अर्थात् तुम्हारेमें विचारोंकी एकता और भोगोंकी समानता रहनेसे तुम सबमें ऐक्य रह सकेगा।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋ १०।१९१।४॥

(व: आकूति) तुम सबका-ध्येय (समानी) समान ही हो। (व: हृदयानि) तुम सब के हृदय (समाना) समान हों। (व: मन) तुम सबका मन (समान

अस्तु) समान हो । (यथा) जिससे (वः) तुम सबकी (सह सु असति) शक्ति उत्तम हो ।

सबका उद्देश, हृदयका भाव, और मनका विचार एक होनेसे ही सबमें एकता होती है, और संघका बल बढ़ता है । और सब प्रकारका उत्तम कल्याण प्राप्त होता है ।

इस सूक्तपर विचार-इस सूक्त में प्रथम मन्त्रमें भक्तोंकी परमेश्वरसे प्रार्थना है, कि हम सबका योगक्षेम उत्तमरीति से चलनेके लिये जो जो धन आवश्यक हैं, वे सब दो । यह प्रार्थना सुननेपर परमेश्वरने कोई धन नहीं दिया, परन्तु साधन बताया । (१) संघकी शक्ति, (२) वादविवाद शक्ति, (३) मनके सुसंस्कार, (४) कर्तव्य तत्पर होनेका शील, (५) समान विचार (६) समान उद्देश, (७) समान भाव, (८) समान मन, (९) समान हृदय, (१०) समान उपभोग, आदिसे सबका योगक्षेम उत्तमरीति से चल सकता है । सबकी उन्नतिका विचार करनेको जो सभा हो, वहां जानेका अधिकार भी सबको समानही होना चाहिए ॥ इसके विपरीत अवस्था होनेसे अवनति होती है । (१) संघशक्तिका अभाव, (२) वक्तृत्वशक्तिका अभाव, (३) मन के कुसंस्कार, (४) स्वकर्तव्य न करने का स्वभाव, (५) विषम विचार (६) भिन्न उद्देश, (७) भिन्न हेतु, (८) विषम मन, (९) संकुचित हृदय, (१०) उपभोगों की विषमता होनेसे मनुष्योंमें संघशक्ति नहीं होती और संघशक्तिके अभावके कारण उनका नाश होता है ।

यशः प्राप्ति

ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः ।
व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥ ऋ. ८।६७।१३ ॥

(ये) जो (स्वयशस) अपने यशके साधक (व्रता) नियमोंकी (रक्षन्ते) पालना करते हैं । (ये) जो (अद्रुह) किसी से विद्वेष न करते हुए (स्वयशस) अपनी कीर्तिके साधक (व्रता) सत्यभाषणादि सत्कर्मों का (रक्षन्ते) पालन करते हैं । वही लोग (क्षितीनां) मनुष्यों में (मूर्धान) शिरोमणि तथा (अदब्धास) किसी से न दबने वाले होते हैं ।

तात्पर्य यह है, कि अपना यश बढानेके लिए पुरुषार्थ करके अपना धवल यश चारों दिशाओंमें बढाना चाहिये । इसके लिये सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ होना चाहिये, किसीके सामने दब जाना भी उचित नहीं । तथा सत्य धर्मकी सदा रक्षा करनी चाहिये । इस रीतिसे जो मनुष्य पुरुषार्थ करेंगे, वे यशस्वी हो सकते हैं ।

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः ॥
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सान-
सिं रयिम् ॥ य. १२।११०॥

(अध्वरस्य) हिंसारहित सत्कर्मके (इष्कर्तारं) प्रचारक (प्रचेतसं) उत्तम ज्ञानी (राधसः महः) सिद्धिदायक महत्वके (क्षयन्तं) निवास करानेवाले (वामस्य) इष्टका (सुभगां रातिं) उत्तम दान देनेवाले तथा (महीं इषं) बड़ी प्रबल इच्छा और (सानसिं रयिं) विजय देनेवाली संपत्तिको (दधासि) तू धारण करता है।

(१) सत्कर्मका प्रचार करना, हिंसारहित श्रेष्ठ पुरुषार्थ करना, (२) उत्तम ज्ञान प्राप्त करना, (३) महती सिद्धि का साधन करना, (४) उत्तम दान देना और (५) विजययुक्त धन को पास रखना चाहिये। इससे यश बढता है।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ ऋ. १।९।७॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (अस्मे) हमें (बृहत्) बड़ा (गोमत्) गौ तथा इन्द्रियोंवाला, (वाजवत्) बलयुक्त, (अ-क्षितं) नाश न होनेवाला (पृथुश्रव.) विस्तृत यश (विश्व-आयु) पूर्ण आयु तक (सं धेहि) उत्तम प्रकार धारण करो।

मनुष्यको ऐसा यश संपादन करना चाहिये, कि जो बल की वृद्धि करनेवाला, दीर्घ आयुके अंत तक अपने नाम के साथ रहनेवाला, और इन्द्रियशक्तियों को पूर्ण वशमें रखनेवाला अर्थात् किसी प्रकार भी शक्तिकी क्षीणता न करनेवाला हो। तात्पर्य यशके साथ बल, आरोग्य और दीर्घआयु होनी चाहिये।

सुमति का प्रचार।

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्।
भूयाम वाजदाव्नाम् ॥ ऋ. १।१७।४॥

(शचीनां युवाकु) शक्तियोंको प्राप्त करनेवाले, (सुमतीनां युवाकु) उत्तम बुद्धियों के प्राप्त करनेवाले, तथा (वाजदाव्नां) बल देनेवालों में मुख्य (हि) ही ह ' भूयाम) होवें।

(१) शक्तिको बढाना, (२) मन और बुद्धिकी शक्ति विकसित करनी, और (३) दूसरों की सहायता करनेके लिये अपने बलका प्रदान करना, ये मनुष्यके तीन कर्तव्य हैं। इनको करनेसे मनुष्य यशस्वी होता है।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो

अपरीतास उद्भिदः । देवा नो यथा सदमिद्वृधे
असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥ ऋ. १।८९।१॥

(न भद्रा क्रतव) हमारे कल्याणमय पुरुषार्थ के कर्म (अ-दब्धास.) न दबते हुए, (अपरीतास) विघ्नरहित, और (उद्भिद.) उत्कर्षको पहुचाने योग्य होकर (विश्वतः आयन्तु) सब ओर फैलें, तथा (दिवे दिवे) प्रतिदिन (रक्षितार) रक्षा करनेवाले (अप्रायुव) न भूतले हुए (देवा.) ज्ञानी लोग जिस प्रकार (न सद्) हमारे घर (वृधे) वृद्धिके लिये (असन्) रहें, ऐसा करो ।

अपने पुरुषार्थ ऐसे होने चाहिये, कि जो सबको लाभ पहुचानेवाले, विजयी और सर्वत्र उपयोगी हों, जिन के कारण सब लोग हमारी रक्षाके लिए उद्यत रहें। और हम भी अपनी शक्तिके द्वारा अन्योंकी रक्षा कर सकें।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि
नो निवर्तताम्। देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं
देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥ ऋ. १।८९।२॥

(देवानां) परोपकारी लोगोंकी (भद्रा सुमतिः) कल्याणमयी सुबुद्धि (ऋजूयतां) हमें प्राप्त हो । (देवाना) सीधे स्वभाववाले लोगोंका (राति) दान (न. अभिनिवर्तताम्) हमें प्राप्त हो । (देवाना) विद्वान् लोगोंके साथ (वयं) हम (सख्यं) मित्रता (उपसेदिम) करें। ये (देवता) महात्मा लोग (न जीवसे) हमारी दीर्घ आयुके लिये हमे (आयुः) दीर्घ आयु के साधन (प्रतिरन्तु) प्रदान करें ।

सज्जनोंकी कल्याणमयी बुद्धि हमारे अनुकूल हो, उनकी सहायता और मित्रता हमें प्राप्त हो, और वे हमें दीर्घ आयु प्राप्त करने में सहायता दें। अर्थात् जातिमें अथवा राष्ट्र में जो श्रेष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनको उचित है कि, वे अन्योंको उक्त प्रकार सहारा देकर श्रेष्ठ मार्ग में प्रवृत्त करें, जिस से सबकी सब जाति यशस्वी होने के कार्य कर सकें ॥

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो
अमृतत्वमानशुः । सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षस
संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥ ऋ. १।११०।४॥

(वाघत) पुरुषार्थी मनुष्य (शमी) शांति स्थापनेके कर्म (तरणित्वेन विष्ट्वी) सत्वर करके (मर्तास सन्त) मरण धर्मवाले होते हुए (अमृतत्व आनशु.) अमर पन प्राप्त करते है । (सौधन्वना.) उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले (सूरचक्षस) तेजस्वी (ऋभव) कारीगर ज्ञानी, (धीतिभि) धारणाशक्तिसे (संवत्सरे समपृच्यन्त) एक वर्षके अंदर पूर्ण बनते हैं ।

पुरुषार्थी मनुष्य शांतिस्थापनके कार्य करके अमरपन प्राप्त करते हैं। शूर, तेजस्वी और ज्ञानी मनुष्य धारणावती बुद्धिके योगसे एक वर्षके अंदर ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त करते हैं।

प्रकाश का मार्ग।

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ
ज्योतिरेति । आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म
यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥ ऋ. १।११३।१६॥

(उदीर्ध्वं) उठो, (न असु जीव) हमारा प्राण जीवात्मा (आगात्) आया है। (तम) अंधकार (अप प्रागात्) दूर हो गया है। (ज्योतिः एति.) ज्योति प्राप्त हो रही है। (सूर्याय यातवे) सूर्यको प्राप्ति करनेके अर्थ (पन्थां) मार्ग (आरैक्) प्रकट हुआ है, (यत्र) जहां (आयु प्रतिरन्ते) आयु बढती है वहां (अगन्म) हम पहुंचे हैं।

(१) उठो। अपने चारों ओर देखो कि क्या चल रहा है। (२) प्राण अर्थात् नवजीवन हमें प्राप्त हुआ है। (३) हमारा अज्ञानांधकार दूर होगया है और (४) हम ज्ञानसूर्यके प्रकाशमें आचुके हैं, (५) प्रगतिका मार्ग खुलगया है, (६) और जहां हमारी आयु बढेगी, वहां ही हम आचुके हैं। अब हम धर्मानुष्ठान द्वारा श्रेष्ठ पुरुषार्थ करेंगे और यशके भागी बनेंगे।

मनुष्य का उद्देश्य।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः ॥ ऋ. १।६।३॥

हे (मर्या) मनुष्यों! (अ-केतवे) अज्ञानीके लिये (केतुं) ज्ञान (कृण्वन्) देता हुआ, और (अ-पेशसे) अरूपके लिये (पेश) रूप देता हुआ, तू (उषद्भिः) विद्यादिसे प्रकाशमान लोगोंके साथ (अजायथा.) प्रसिद्ध हो।

मनुष्यका जन्म इसलिये हुआ है, कि वह अज्ञानीको ज्ञान देवे और विरूपको सुंदर हृष्टपुष्ट करे। जिसप्रकार सूर्य उष कालके पश्चात् आकर सबको प्रकाश और सुंदर रूप देता है, उसी प्रकार करनेके लिये मनुष्य जन्मा है।

भवा नो अग्नेऽवितोत गोपा भवा वयस्कृदुत नो
वयोधाः। रास्वा च नः सुमहो हव्यदातिं त्रा-
स्वोत नस्तन्वो३ अप्रयुच्छन् ॥ ऋ.१०।७।७ ॥

हे (अग्ने) अग्रणी ! नु (न) हम सबका (अविता) कार्य्य साधक (भव) हो, (उत गो-पा भव) और संरक्षक हो ! (उत वय-कृत्) और दीर्घ आयु करनेवाला तथा (न वयो-धा) हम सबमें तारुण्यका वय धारण करनेवाला हो। हे (सु-मह) अत्यंत पूज्य ! (च न) और हम सबको (हृदयदानि) अन्नका दान (रास्व) दे। (उत न.) और हम सबके (तन्व.) शरीरों (अप्र युच्छन्) क्षीण न करता हुआ (पास्व) सुरक्षित करो।

स्वत्व-रक्षण, इन्द्रिय-संयम, दीर्घ आयु, तारुण्यका उत्साह, भक्ष्य अन्नका दान, शरीरपोषण और शरीरसंरक्षण सबको करना चाहिए।

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं
यजतां यज्ञियामिह। सा नो दुहीयद्यवसेव
गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥ ऋ. १०।१०१।९॥

हे (देवा) विद्वानो ! (देवी) दिव्य (यज्ञिया) पूज्य और पवित्र (धियं) आपकी बुद्धिको (ऊतये) संरक्षणके लिये (आवर्ते) आकर्षित करता हूं। (सा) वह आपकी बुद्धि (न) हम सबको वैसी सहायता देवे, जैसी (मही) बड़ी (गत्वी) चपल (गौः) गाय (यवसा) घास खाकर (पयसा सहस्र-धारा) दूधकी हजारों धाराएं (दुहीयत्) दोहन करके देती है।

विद्वान् लोग अन्य साधारण जनोंको योग्य सहायता देकर उनको ऊपर उठनेका मार्ग बतावें।

कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत
वाजसातये। निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय
इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये॥ ऋ. १०।१०१।१२॥

हे (नर) लोगो ! आपमें (क-पृत्) आनंदकी पूर्णता करनेवालेका (उद्दधातन) सन्मान कीजिए। सबको (वाज-सातये) बलकी प्राप्ति करनेके लिये (चोदयत) प्रेरणा कीजिए। और आप स्वयं (खुदत) मर्दानी खेल खेलिए। (निष्टि-ग्रयः पुत्रं) निष्ठा अर्थात् श्रद्धासे पवित्र बने हुए (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान्को (इह) यहां (सबाधे) उत्सुकतासे (ऊतये) सबके संरक्षणके लिये और विशेषत (सोमपीतये) विद्वान्के रक्षणके लिये (आच्यावय) ले आइए॥

सदा आनंदित रहना चाहिये। बलकी उन्नति करनी चाहिये। खुली जगहमें खेल खेलने चाहिये। और हरएक कर्म पूर्ण निष्ठासे करना चाहिये।

आगे बढ़।

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमव-

मुञ्चमानः । माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य
संदृशः ॥ अ. ८।१।४॥

हे (पुरुष) पुरुष ! (अतः) इस वर्तमान अवस्थासे (उत्क्राम) आगे बढ। (मा अव पत्थाः) नीचे मत गिर। (मृत्योः पड्वीशं अव मुञ्चमान) मृत्युके पाशको तोडता हुआ आगे बढ। (अस्मात् लोकात्) इस लोकसे (अग्नेः सूर्यस्य संदृश) अग्निरूप सूर्यके तेजसे (मा च्छित्थाः) मत अलग हो।

वर्तमान अवस्थासे अधिक उच्च अवस्था प्राप्त करना हरएकको कर्तव्य है। मृत्युके पाशको तोडकर अमरपन प्राप्त करना चाहिये और कभी गिरनेके कार्य नहीं करने चाहिये। इस लोकमें सूर्य प्रकाश आरोग्यका मुख्य साधन है, इसलिये उन्नति करनेवाले मनुष्य सूर्य प्रकाशमें रहकर आरोग्य प्राप्त करें और उन्नतिके मार्गसे आगे बढें ॥

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं
कृणोमि। आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्वि-
र्विदथमा वदासि ॥ अ. ८।१।६॥

हे (पुरुष) पुरुष ! (ते उत्-यानं) तेरी उन्नति होवे, (न अव-यानं) नीचे गिरावट न होवे। (ते) तेरे (जीवातु) जीवनके लिये (दक्षतातिं) दक्षताका बल (कृणोमि) करता हूं। (इमं अमृतं सुखं रथं) इस अमृतमय सुख देनेवाले रथपर (आरोह) चढ और (जिर्विः) स्तुत्य बनकर (विदथं आवदासि) सभामें भाषण कर।

अपनी उन्नति करनी चाहिये। गिरावटके कार्य कभी नहीं करने चाहियें। इसलिये जीवन और बल प्राप्त हुआ है। इस शरीर रूपी उत्तम रथपर सवार होकर सभाओंमें कार्य करते हुए आगे बढ़ना चाहिये।

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽ-
नवद्राणश्च रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च
रक्षताम् ॥ अ. ८।१।१३॥

(बोधः) ज्ञान और (प्रतिबोध) विज्ञान (त्वा रक्षतां) तेरी रक्षा करें। (अस्वप्नः) स्फूर्ति और (अनवद्राणः) स्थिरता (त्वा रक्षतां) तेरी संरक्षण करें। (गोपायन्) रक्षक और (जागृवि) जागनेवाले (त्वा रक्षताम्) तेरा संरक्षण करें।

ज्ञान और विज्ञान, स्फूर्ति और स्थिरता, रक्षा करना और जागृत रहना ये सब भाव मनुष्य के सहायक बनें, अर्थात् इनका यथा योग्य उपयोग करने से मनुष्य का अभ्युदय हो सकता है ॥

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च

मन्युः। भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो

अप नि लयन्ताम् ॥ अ. ४।३१।७॥

(वरुण) श्रेष्ठ आत्मा और (मन्यु) उत्साह ये दोनों (संसृष्टं) मिले हुए और (समाकृतं) सुसंस्कृत होकर (उभयं धनं) दोनों प्रकारका धन (अस्मभ्यं धत्तां) हमारे लिए धारण करते हैं (शत्रव) शत्रु अपने (हृदयेषु) हृदयोंमें (भिय) भय (दधाना) धारण करते हुए (पराजितास) पराजित होकर (अप निलयन्तां) भाग जायें।

आत्मिक बल और उत्साहसे सब प्रकारका धन हमारे पास इकट्ठा हो जाय। तथा हमारे सब शत्रु पराजित होकर दूर भाग जायें ॥ इस प्रकार अपने शत्रुओंको दूर भगाकर अपनी प्रगति का साधन करना चाहिये।

स्वावलंबन।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ॥

यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ अ. ४।१४।४॥

(ये) जो (सु-विद्वांस) उत्तम विद्वान् (विश्वतो-धारं यज्ञं) सब प्रकारसे धारण पोषण करनेवाले सत्कर्मों को (वि-तेनिरे) विशेष प्रकार से फैलाते हैं, वे (रोदसी द्यां रोहन्ति) दोनों लोकोंमेंसे ऊपर होते हुए प्रकाशमय धाम पर चढ़ते हैं, और (स्व यन्त) अपने तेज को फैलाते हुए (न अपक्षन्ते) किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करते।

विद्वानोंको उचित हैं, कि वे स्वावलंबनका आश्रय करें और सदा उन्नतिके लिये दूसरोंपर निर्भर न रहें। जो मनुष्य स्वावलंबनके मार्गसे प्रगति करते हैं वेही उत्तम यशस्वी होते हैं।

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं

जुषस्व। महिमा तेऽन्येन न संनशे ॥ य. २३।१५॥

हे (वाजिन्) ज्ञानिन्। (स्वयं) अपने आप (तन्वं) शरीर को अथवा अपने कार्यविस्तार को (कल्पयस्व) समर्थकर, फैला। तू (स्वयं) अपने आप (यजस्व) सत्कर्मों का अनुष्ठान कर तू (स्वयं) अपने आपही (जुषस्व) प्रेमकर, धर्मादिका सेवनकर। क्योंकि (ते महिमा) तेरी महत्ता (अन्येन) दूसरे से (न सनशे) न प्राप्तकी जासकती। अर्थात् अन्य के पुरुषार्थसे तुझे महत्ता मिलनी अशक्य है।

वैदिक समाज ।

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे
राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जाय-
ताम् दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुर-
न्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमा-
नस्य वीरो जायताम् निकामे निकामे नः पर्जन्यो
वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ॥ योग-
क्षेमो नः कल्पताम् ॥ यजु० २२।२२॥

हे (ब्रह्मन्) सर्वमहान् भगवन् ! हमारे (राष्ट्रे) राष्ट्र में (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मतेजयुक्त, ज्ञानदीप्तिसंपन्न (ब्राह्मण) ब्राह्मण (आ जायताम्) सब ओर हों। और (शूरः) बहादुर (इषव्य) बाणविद्या, शस्त्रास्त्रसंचालन में चतुर (अति-व्याधी) दुष्टों को अत्यन्त उद्विग्न करनेवाला (महारथ.) महारथी (राजन्यः) क्षत्रियवर्ग हो। तथा (दोग्ध्री धेनुः) दूध देनेवाली गौवें, (वोढा अनड्वान्) भार उठानेवाले बैल, (आशु सप्ति) शीघ्रकारी घोड़े आदि हों। (अस्य यजमा-नस्य पुत्र·) इस यजमानका पुत्र (युवा) जवान होकर (सभेय) सभा कार्यमें निपुण (जिष्णु) जयशील (रथेष्ठा) रमणीयसाधन से युक्त और (वीर· जायतां) वीर होवे। (निकामे निकामे) अपेक्षित समय पर (नः) हमारे लिए (पर्जन्य वर्षतु) बादल बरसता रहे। (न ओषधयः) हमारी ओषधी वनस्पतियां (फलवत्य पच्यन्ताम्) फलयुक्त रहें। तथा (न योगक्षेमः) हमारा योगक्षेम (कल्पनाम्) भली प्रकार चले।

कितना सुन्दर आदर्श है। सबकी हित कामना के भाव जैसे वैदिक धर्म में हैं, वैसे अन्यत्र नहीं है। राष्ट्र की=समाज उन्नति के लिए ब्राह्मणादि सब वर्णों की आवश्यकता है। यह कैसे होने चाहियें यह भी वेद ने स्पष्ट बतलाया है। संसार यात्रा के चलाने के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है, उन सबकी कामना इस मन्त्र में की गई है।

वैदिकधर्मकी दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं। इसके लिए अगला मन्त्र देखिए—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳराजसु नस्कृधि ॥
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ यजु०१८।४८॥

(न ब्राह्मणेषु) हमारे ब्राह्मणों में (रुचं धेहि) तेज रखो, (न राजसु रुचं कृधि) हमारे क्षत्रियों में तेज रखो, (न विश्येषु शूद्रेषु) हमारे वैश्यों और शूद्रोंमें (रुचं) तेज रखो,(मयि रुचा रुचं धेहि) तथा मेरे अन्दर तेजसे तेजस्विता रखो।

अथवा (न) हमें (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणोंमें (रुचं) प्रीति (धेहि) दीजिए, (राजसु) क्षत्रियों में (न रुचं धेहि) हमें प्रियता दे । (विश्येषु शूद्रेषु) वैश्यों में तथा शूद्रों में (रुचं) हमें प्रेम धारणकरा । (मयि रुचा रुचं धेहि) मुझ में सबके साथ प्रीति करने की सद्भावना धारण कराइए।

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ॥

वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ अ. ३।२४।३॥

(याः इमा पंच प्रदिश) जो इन पांच दिशाओंमें (पंच) पांच प्रकार के (कृष्टय) उद्यमशील (मानवी) मनुष्य हैं, वे सब, (इव वृष्टे नदी शापं) जिस प्रकार वृष्टिसे नदी बढ़ती है उस प्रकार, (इह स्फातिं समावहान्) इस संसारमें उन्नतिको प्राप्त हों । विद्वान्, शूर, व्यापारी, कारीगर और अज्ञानी ऐसे पांच प्रकारके लोग होते हैं वे सब उन्नत हों । कोई भी अवनत न रहे ।

❋ ब्रह्मचर्य ❋

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः सं-

मनसो भवन्ति ॥ स दाधार पृथिवीं दिवं च स

आचार्यं१ तपसा पिपर्ति ॥ अ. ११।५(७)।१॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) पृथिवी और द्युलोक इन दोनों को (इष्णन्) पुन पुन अनुकूल बनाता हुआ (चरति) चलता है । इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी के अन्दर (देवा) सब देव (संमनस) अनुकूल मनके साथ (भवन्ति) रहते हैं । (स) ब्रह्मचारी (पृथिवीं) पृथिवी (च) और (दिव) द्युलोकको (दाधार) धारण करता है, और (स) वह अपने (तपसा) तप से अपने (आचार्य्यं) आचार्य को (पिपर्ति) परिपूर्ण बनाता है ।

(१) पृथिवी से लेकर द्युलोक पर्यन्त-जो जो विविध पदार्थ हैं, उनको ब्रह्मचारी अपने अनुकूल बनाता है, (२) इस से उस ब्रह्मचारी के अंदर सब दिव्यगुण अनुकूल होकर निवास करते हैं, (३) इस प्रकार वह पृथिवी और

द्युलोकको अपने तपसे धारण करता है, और (४) उसी तप से वह अपने आचार्य्यको भी परिपूर्ण बनाता है।

ब्रह्मचारी का तीन रात्रि का निवास।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः॥ अ. ११।५(७)।३॥

(१) (ब्रह्मचारिणं) ब्रह्मचारीको (उपनयमान आचार्य.) अपने पास करने वाला=यज्ञोपवीत देनेवाला आचार्य्य (अन्त गर्भ) अपने अन्दर करता है। (२) (तं) उस ब्रह्मचारी को (उदर) अपने उदरमें (तिस्र रात्री बिभर्ति) तीन रात्री तक रखता है। (३) जब वह ब्रह्मचारी (जातं) द्वितीयजन्म लेकर बाहर आता है। तब (त) उसको (द्रष्टुं) देखनेके लिये सब (देवाः) विद्वान् (अभिसंयन्ति) सब ओर से इकट्ठे होते हैं॥

(१) जो आचार्य ब्रह्मचारी को अपने पास करता है, वह उसको अपने अन्दर ही प्रविष्ट करता है। (२) मानो, वह शिष्य उस गुरुके पेटमें ही तीन रात्री रहता है और उस गर्भसे उसका जन्म हो जाता है। (३) जब वह द्विज बन जाता है, तब उसका सन्मान सबही विद्वान् करते हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अज्ञान तीन रात्रियों से सूचित होता है। इसको दूरकरनेके लिये ब्रह्मचारी गुरुके पास रहता है और उक्त तीन रात्रियों के अज्ञानको दूरकर चतुर्थ प्रकाशमय अवस्थाका प्राप्त करता है।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ अ. ११।५(७)५॥

(१) (ब्रह्मण पूर्व) ज्ञानके पूर्व (ब्रह्मचारी जातः) ब्रह्मचारी होता है (२) (घर्मं वसान) उष्णता, यज्ञ धारण करता हुआ (तपसा) तपसे (उत्+अतिष्ठत्) ऊपर उठता है। (३) (तस्मात्) उस ब्रह्मचारी से (ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म) ब्रह्मसबन्धी श्रेष्ठ ज्ञान (जातं) प्रसिद्ध होता है। (४) (च सर्वे देवा अमृतेन साकम्) तथा सब देव अमृतके साथ होते हैं॥

(१) ज्ञानप्राप्तिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है, (२) ब्रह्मचर्य में श्रम और तप करनेसे उच्चता प्राप्त होती है। (३) इस प्रकारके ब्रह्मचारीसे ही परमात्माका श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है।

लोक-संग्रह ।

ब्रह्मचार्येति सामेधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो
दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मा-
दुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ अ. ११।५(७)।६॥

(१) (समिधा समिद्ध) तेजसे प्रकाशित (कार्ष्णं वसान) कृष्ण चर्म धारण करता हुआ, (दीक्षित) व्रतके अनुकूल आचरण करनेवाला और (दीर्घश्मश्रु) बड़ी बड़ी दाढ़ी मूँछ धारण करनेवाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है। (२) (स) वह (लोकान् संगृभ्य) लोगोंको इकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोक-संग्रह करता हुआ (मुहु) वारंवार उनको (आचरिक्रत्) उत्साह देता है। और (३) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सद्य एति) शीघ्रही पहुंचता है।

(१) समिधा कृष्णाजिन आदिसे सुशोभित होता हुआ, बड़ी बड़ी दाढ़ी मूँछ धारण करनेवाला तेजस्वी ब्रह्मचारी नियमानुकूल आचरण करनेके कारण अपनी प्रगति करता है। (२) अध्ययन-समाप्तिके पश्चात् धर्म जागृति करता हुवा, अपने उपदेशोंसे जनतामें उत्साह उत्पन्न करता है। और वारंवार उनमें चेतना बढाता है। (३) इस प्रकार धर्मोपदेश करता हुआ, वह पूर्व समुद्रसे उत्तर समुद्रतक पहुंचता है।

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं
विराजम् ॥ गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह
भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ अ. ११।५(७)।७॥

जो (अमृतस्य योनौ) ज्ञानामृतके केंद्रस्थानमें (गर्भ भूत्वा) गर्भरूप रहकर (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी हुआ, वही (ब्रह्म) ज्ञान, (अप) कर्म, (लोकं) जनता, (प्रजापतिं) प्रजापलक राजा और (विराजं परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्माको (जनयन्) प्रकट करता हुआ, अब (इंद्र भूत्वा) शत्रुनाशी बनकर (ह) निश्चयसे (असुरान् ततर्ह) असुरोंका नाश करता है।

जो एक समय आचार्यके पास विद्यामाताके गर्भमें रहता था, वही ब्रह्मचारी विद्याध्ययनके पश्चात् ज्ञान, सत्कर्म, प्रजा और राजके धर्म, और परमात्माका स्वरूप इन सबका प्रचार करता रहा; अब वही शत्रुनिवारक वीर बनकर शत्रुओंका नाश करता है।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गंभीरे पृथिवीं

दिवं च । ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति ॥ अ. ११।५(७)८॥

(इमे) ये (उर्वी गभीरे) बड़े गंभीर (उभे-नभसी) दोनों लोक (पृथिवीं दिव च) पृथिवी और द्युलोक आचार्यने (ततक्ष) बनाये हैं । (ब्रह्मचारी तपसा) ब्रह्मचारी अपने तपसे (ते रक्षति) उन दोनोंका रक्षण करता है । इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर (देवा समनसो भवन्ति) सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ।

आचार्य ही पृथ्वीसे लेकर द्युलोक तक सब पदार्थोंका ज्ञान ब्रह्मचारीको देता है, मानो वह अपने शिष्यके लिये ये लोकही बना देता है । ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका संरक्षण करता है । इसलिये उस ब्रह्मचारीमें सब देवतायें अनुकूल होकर रहती हैं ।

भिक्षा ।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च । ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ अ. ११।५(७)९॥

(प्रथम ब्रह्मचारी) पहिले ब्रह्मचारीने (इमां पृथिवीं भूमिं) इस विस्तृत भूमिकी तथा (दिव) द्युलोककी (भिक्षां आ जभार) भिक्षा प्राप्तकी है । अब वह ब्रह्मचारी (ते समिधौ कृत्वा) उनकी दो समिधायें करके (उपास्ते) उपासना करता है । क्योंकि (तयो) उन दोनोंके बीचमें (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (अर्पिता) स्थापित हैं ।

ब्रह्मचारीने प्रथमतः भिक्षामें द्युलोक और पृथिवी लोकको प्राप्त किया । इन दो लोकोंमें ही सब अन्य भुवन स्थापित हुवे हैं । दोनों लोकोंकी प्राप्ति होनेपर वही ब्रह्मचारी अब उक्त दोनों लोकोंकी दो समिधाएं बनाकर ज्ञान-यज्ञ द्वारा उपासना करता है ।

मेघ ब्रह्मचारी ।

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार ॥ ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ अ. ११।५(७)१२॥

(अभिक्रन्दन् स्तनयन्) गर्जना करने वाला (अरुण शितिंग) भूरे और काले रंग से युक्त (बृहत् शेप) बड़ा प्रभावशाली (ब्रह्मचारी) ब्रह्म अर्थात् उदक को साथ ले जाने वाला मेघ (भूमौ अनुजभार) भूमि का योग्य पोषण करता है। तथा (सानौ पृथिव्यां) पहाड़ और भूमि पर (रेत सिंचति) जल की वृष्टि करता है, (तेन) उस से (चतस्रः प्रदिशः जीवति) चारों दिशायें जीवित रहतीं हैं। जिस प्रकार मेघ अपना शीतल जल वर्षाकर सब जगत् को शान्त करता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी अपने ज्ञानामृत की वृष्टि करके सब जनता को शान्त करता है।

आचार्य और राजपुरुषों का ब्रह्मचर्य ।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्विराजति विराडिंद्रो भवद्वशी ॥

अ. ११।५(७) १६॥

(आचार्य्य ब्रह्मचारी) आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये, (प्रजापति) प्रजापालक भी (ब्रह्मचारी) होना चाहिये। इस प्रकार का (प्रजापति) प्रजापालक ही (वि-राजति) विशेष शोभता है। जो (वशी) संयमी (वि-राड्) राजा (भवत्) होता है, वही (इन्द्र) इन्द्र कहलाता है।

राष्ट्र में सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहियें, सब राज्याधिकारी प्रजा पालन के कार्य में नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी ही होने चाहिये।

जो योग्य रीति से प्रजा का पालन करेंगे, वही सुशोभित होंगे, तथा जो जितेन्द्रिय राजपुरुष होंगे, वे ही इन्द्र कहलायेंगे।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

अ. ११।५(७) १७॥

(राजा) राष्ट्र का अधिकारी, (ब्रह्मचर्य्येण तपसा) ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्याध्ययन और वीर्य संरक्षण रूप तप के द्वारा (राष्ट्रं वि रक्षति) राष्ट्र का संरक्षण करता है। तथा (आचार्य) अध्यापक (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य के साथ रहने वाले (ब्रह्मचारिणं इच्छते) विद्यार्थी की इच्छा करता है।

अर्थात् राष्ट्र के सब अधिकारी क्षत्रिय तथा सब अध्यापक ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आदि सुनियमों का पालन करने वाले होवें, तथा वे दोनों राष्ट्र के सब लड़कों से ब्रह्मचर्य पालन और वीर्यरक्षण करावें। यही सब तप है।

कन्या का ब्रह्मचर्य।

ब्रह्मचर्येण कन्या ३ युवानं विंदते पतिम्।

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ अ.११।५।१८॥

(कन्या ब्रह्मचर्य्येण) कन्या ब्रह्मचर्य पालन करने पश्चात् (युवानं पतिं) तरुण पति को (विंदते) प्राप्त करती हैं। (अनड्वान्) बैल और (अश्व) घोड़ा भी (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य पालन करने से ही (घासं जिगीर्षति) घास खाता है।

ब्रह्मचर्य पालन करने के पश्चात् कन्या अपने योग्य पति को प्राप्त करती है। बैल और घोड़ा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इस लिये घास खाकर उस का पचन करते है।

इस मंत्रका दूसरा अर्थ संस्कार प्रकरणान्तर्गत उपनयन संस्कार में देखिये।

ब्रह्मचर्य से अमरपन।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व १ रा भरत् ॥

अ. ११।५(७)१९॥

(ब्रह्मचर्य्येण तपसा) ब्रह्मचर्य्य रूप तप से (देवाः मृत्युं अपाघ्नत) सब देवों ने मृत्यु को दूर किया और (इन्द्र) इन्द्र ने (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य से ही (देवेभ्य) देवों को (स्व) तेज (आभरत्) दिया है।

ब्रह्मचर्य पालन करने के कारण ही सब देव अमर बने हैं। तथा ब्रह्मचर्य के सामर्थ्य से ही देवराज इन्द्र = जीवात्मा सब इतर देवों को=इन्द्रियों को तेज दे सकता है।

ब्रह्मचर्य की विभूति।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।

संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ अ. ११।५(७)।२०॥

(ओषधय) औषधियां, (वनस्पतय) वनस्पतियां, (ऋतुभि सह संवत्सरः) ऋतुओं के साथ गमन करने वाला संवत्सर, (अहोरात्रे) अहोरात्र (भूत भव्यं) भूत और भविष्य (ते) ये सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी (जाता) हो गये हैं।

औषधियां ऋतुओं के अनुसार फलती और फूलती हैं, संवत्सर भी ऋतुओं के अनुकूल गमन करता है। इस प्रकार मनुष्य भी ऋतुगामी होकर ब्रह्मचर्य का पालन करे।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।

अपक्षा पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ अ.११।५।२१॥

(पार्थिवा) पृथिवीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्याः ग्राम्याश्च) आरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपक्षा पशव) पक्षहीन पशु हैं, तथा (दिव्याः पक्षिण) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं, (ते) वे सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी (जाता) बने हैं।

सब पशुपक्षी जन्मसे ही ब्रह्मचारी हैं और प्राय वे ऋतुगामी होते हैं। इसलिये श्रेष्ठ मनुष्यको भी ऋतुगामी होना उचित है।

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।

तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥

अ. ११।५(७)२२॥

(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सबही पदार्थ (पृथक्) पृथक् पृथक् (आत्मसु प्राणान्) अपने अंदर प्राणोंको (बिभ्रति) धारण करते हैं। (ब्रह्मचारिणि आभृतम्) ब्रह्मचारीमें धारण किया हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (तान् सर्वान् रक्षति) उन सबका रक्षण करता है।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि-

विश्वे समोताः ॥ प्राणापानौ जनयन्नाद्व्यानं वाचं

मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥ चक्षुः श्रोत्रं यशो

अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥ अ ११।५(७)

(भ्राजत् ब्रह्म) चमकनेवाले ज्ञानको (भ्राजत् ब्रह्मचारी बिभर्ति) ब्रह्मचर्यसे प्रकाशमान ब्रह्मचारी धारण करता है। इसलिये (तस्मिन्) उसमें (विश्वे देवा) सब देव (अधि समोता) रहते हैं। वह (प्राणापानौ व्यानं वाचं मन हृदयं) प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, हृदय, (ब्रह्म) ज्ञान (आत्) और (मेधां) मेधाको (जनयन्) प्रकट करता है। इसलिये हे ब्रह्मचारी (अस्मासु) हम सबमें (चक्षु श्रोत्रं यश अन्नं) चक्षु श्रोत्र, यश, अन्न, (रेत.) वीर्य (लोहितं) रुधिर और (उदरं) पेट (धेहि) पुष्ट करो।

उत्तम उपदेश द्वारा ब्रह्मचारी सब जनताको सदाचारकी शिक्षा देकर उनको सन्मार्गमें प्रवृत्त करे।

गृहस्थ

पति पत्नी को आशीर्वाद।

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ अ. ६।७८।२॥

यह पतिपत्नी (पयसा) दूध पीकर (अभिवर्धतां) बढें। (राष्ट्रेण) राष्ट्रके साथ (अभिवर्धतां) बढें। (सहस्र-वर्चसा रय्या) हज़ारों तेजोंसे युक्त धनके साथ (इमौ) यह दोनों पति और पत्नी (अनुपक्षितौ स्तां) भरपूर रहें॥

हरएक मनुष्य दूध पीकर हृष्टपुष्ट होवे और अपने राष्ट्र के हित होनेमें अपना हित है, यह बात ध्यान में रखे। कभी भी राष्ट्रको हानि पहुंचाकर अपना लाभ करनेकी चेष्टा न करे और अपेयपान करके अपना आरोग्य भी नष्ट न करे। इस रीतिसे व्यवहार करनेपर तेजस्विता और धनयुक्त यश प्राप्त होता है।

अ. ३। १२॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम॥१॥

(इह एव) यहां ही (ध्रुवां शालां) स्थिर दृढ गृह (निमिनोमि) करता हूं। यह घर (घृतं उक्षमाणा) घी का सिंचन करता हुआ, (क्षेम तिष्ठाति) कल्याण करनेवाला होता रहे। हे (शाले) घर! (सर्व वीराः) सर्व वीर, (सुवीरा) उत्तमवीर (अरिष्टवीरा) नीरोगी शूर वीर पुरुष हम सब (तां त्वा उपसंचरेम) तेरे पास रहेंगे।

उत्तम स्थान पसन्द करके यहां घर बनाना चाहिये। गौवोंका पालन करके बहुत गोरस संगृहीत करना चाहिये। घरके आसपास का भाग आरोग्य-पूर्ण रखकर अपना घर नीरोगताका केंद्र बनाना चाहिये। तथा अपने घरमें सब प्रकार से वीरता का वायुमंडल बनाना चाहिये। सब पुरुष, वीर और सब स्त्रियें वीरांगना हों।

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ २॥

हे (शाले) घर! तू (इह एव) यहां ही (अश्वावती) घोडोंसे युक्त, (गोमती) गौवोंसे युक्त, (सूनृतावती) शोभायुक्त, (ध्रुवा) स्थिर और दृढ

(प्रतितिष्ठ) होकर रहे। (ऊर्जस्-वती) अन्नसे युक्त (घृतवती) घीसे युक्त, (पयस्वती) दूधसे युक्त, होकर (महते सौभगाय) बड़े भाग्यकी प्राप्तिके लिये हो। (उत् श्रयस्व) ऊंचा खड़ा रह।

घर में घोड़े, गौवें होनी चाहिये, तथा घी, दूध और अन्य अन्न बहुत होना चाहिये। घरके अन्दर तथा बाहिर भी बड़ी शोभा और सजावट होनी चाहिये। जिससे देखतेही देखनेवालेके मनमें प्रसन्नता उत्पन्न होसके। तात्पर्य प्रत्येक घर उन्नति और भाग्यका केंद्र होना चाहिये।

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या। आ त्वा वत्सो

गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

हे (शाले) घर! तू (बृहत् छन्दा) बड़ी छतसे युक्त है, (पूति-धान्या) तेरे पास पवित्र धान्य है इसलिये तू (तरुणी असि) सबको धारणकरने वाली है। (त्वा) तेरे पास (वत्स) बछड़ा और (कुमार) बालक (आ आगमेत्) आवे। (सायं) शामके समय (आस्पन्द-मानाः) कूदती हुई (धेनवः) गौवें (आ) आयें।

घरके लिये बड़ी विस्तृत छत होनी चाहिये, जिससे नीचे रहनेवाले सब पदार्थ सुरक्षित रह सकें। घरमें शुद्ध और पवित्र धान्य रखना चाहिये, जिससे कि किसी प्रकार रोग न हो सके। गौवों के बछड़े और घरके बालक घरके चारों ओर खेलते कूदते रहें। और शामके समय हृष्टपुष्ट गौवें घर में आ जायें।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मिता-

स्यग्रे। तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सह-

वीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

हे (मानस्य पत्नि) सन्मानका पालन करनेवाले गृह! तू (शरणा) आश्रय करने योग्य, (स्योना) सुख देनेवाली! (देवी) प्रकाशमान (देवेभि) देवोंसे (अग्रे निर्मिता असि) प्रारम्भमें बनाई गई है। (तृणं) घास को (वसाना) पहनती हुई (त्वं सुमना अस) तू प्रसन्न हो, (अथ) और (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सहवीर रयिं दाः) वीरोंसे युक्त धन दे॥

घर सन्मानका स्थान है, वहां सब को सुख होने योग्य परिस्थिति चाहिये। घरमें मनुष्यों के लिये अन्न और पशुओंके लिये घास रहना चाहिये। और उस घरमें वीरता युक्त धन रहे, ऐसी परिस्थिति रखनी चाहिये। वीरता हीन धन हुआ, तो उस धनका रक्षण नहीं होगा। इसलिये इस प्रकारका धन पास रखना चाहिये, जिसके साथ वीर्य और शौर्य भी हो।

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृंक्ष्व शत्रून्।

मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

हे (वंश) बांस ! तू (ऋतेन) सीधेपनके साथ (स्थूणां) खूंटीपर (अधिरोह) चढ़ और (उग्र) शूर होकर (विराजन् , विराजते हुए शत्रुओं को (अपवृंक्ष्व) हटा दे। हे (शाले) घर ! (ते गृहाणां) तेरे कमरोंमें (उपसत्तार) रहने वाले पुरुष (मा रिषन्) दुःखी न होवें, (सर्ववीराः) सर्व प्रकारके वीर पुरुष हम सब (शतं शरद) सौ वर्ष (जीवेम) जीते रहें।

जिस प्रकार वंश अर्थात् बांस सीधा होता है, और अपने आंधारों पर रहता हुआ शत्रुओं से घरका बचाव करता है, ठीक उस प्रकार वंश अर्थात् घराना, कुल अथवा वंशावली ऋत अर्थात् सरल सत्य आचार व्यवहारके साथ रहकर अपने कुलोत्पन्न पुरुषों के आधारपर ठहर कर उग्र अर्थात् शौर्ययुक्त बने और सब शत्रुओंको दूर करे। इस प्रकार वीर पुरुषोंके घरोंमें रहनेवाले जो जो पुरुष होंगे , वे कभी दुःखी नहीं होंगे, और सदा सर्वदा वीर भावोंसे युक्त होकर दीर्घ जीवी भी होंगे।

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

(इमां) इस घरमें (कुमारः) बालक, तरुण तथा (जगता सह वत्स) गौओंके साथ बछड़े (परिस्रुत कुंभ) रसका घड़ा (दध्न कलशै) दही के बर्तनों के साथ (आ अगु) प्राप्त हों।

घरके अन्दर तथा बाहिर गौवें, लड़के, बालक, कुमार तथा तरुण घूमते रहें और नाना प्रकारके रस और दही के घड़े भरे हुए घरमें हों। इन पेयों को खा पीकर सब हृष्टपुष्ट रहें॥

पूर्णं नारि प्र भर कुंभमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समंग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

हे (नारि) स्त्री ! (अमृतेन) अमृतरससे (पूर्णं) परिपूर्ण (एत कुंभं) इस घड़ेको (प्रभर) भरकर ला। (अमृतेन संभृतां) अमृतसे मिली हुई (घृतस्य धारां) घी की धाराको ला। (पातॄन्) पीनेवालों को (अमृतेन समंग्धि) रससे तृप्तकर। इस प्रकार से (इष्टा-पूर्तं) इष्ट कामनाकी पूर्णता (एनां अभि रक्षाति) इसकी रक्षा करेगी।

घरमें स्त्रियें जल रस, आदिका संचय करें, दूध, घी, दही आदिका प्रबन्ध उत्तम करें, मधु आदि पदार्थ संगृहीत करें। जिस समय खाने पीनेवाले उपस्थित हैं। उस समय पूर्वोक्त पदार्थ उनको परोसकर उनकी उत्तम तृप्ति

करें। इस समय कजूसी न दीखे। इस प्रकारका उत्तम व्यवहार ही घरकी शोभाकी रक्षा करता है।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।

गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ ६॥

(अ-यक्ष्मा) रोग रहित और (यक्ष्म नाशनी) रोग नाशक (इमा आप) यह जल (प्र-भरामि) मैं भरकर लाता हूं। (अग्निना सह) अग्निके साथ (अमृतेन) पेय रससे मैं (गृहान्) घरोंको (उपप्रसीदामि) प्रसन्न करता हूं।

घरमें जो जल लाना चाहिये, वह दोष रहित आरोग्यवर्धक और रोगोंको हटाकर नीरोगता करनेवाला होना चाहिये। ऐसा ही जल भरकर लाना चाहिये। घरमें अग्निपाक सिद्धिके लिये, सिद्ध तैय्यार रहना चाहिये और पीनेके लिये उत्तम जल तथा अन्य रस अवश्य रखने चाहियें। इस प्रकारके घरको ही गृहकी प्रसन्नता कहते हैं।

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो

अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा

यमः सादना ते मिनोतु॥ ऋ. १०।१८।१३॥

(ते पृथिवीं) तेरी भूमिका (उत् स्तभ्नामि) उन्नत करता हूं, (त्वत् इमं लोगं) तेरी इस भूमिको (परि निदधन) ऊपर रखता हूं। (अहं मा रिषम्) मेरा नाश न हो। हे (पितर) रक्षको! (ते एतां स्थूणां) तेरे इस आधारको (धारयन्तु) धारण करें (अत्रा यमः) यहां नियामक (ते सादना) तेरे गृहोंको (मिनोतु) माप ले॥

गृहोंको ठीक माप कर बनाना और पासवाली भूमिको ठीक सीधा बनाना, ऊंचा नीचा नहीं रखना, और आयु बढानेके लिये सम भूमीमें रहना चाहिए॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।

अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्नि-

र्गर्भ इवा शये॥ अ. ९।३।२१॥

(या द्विपक्षा) जो दो पक्षवाली (चतुष्पक्षा) चार पक्षवाली, (षट्पक्षा) छः पक्षवाली (निमीयते) बनायी जाती है, तथा (अष्टा-पक्षां दशपक्षां) आठ और दस पक्षवाली (मानस्य पत्नीं) सन्मानकी पालिका (शालां) शालामें (शये) ठहराता हूं (इव) जैसे (अग्निः) अग्नि (गर्भः) गर्भमें रहती है।

यह पांच प्रकारके होते हैं जो द्विपक्ष चतुष्पक्ष आदि नामसे उक्त मंत्रमें वर्णित हैं।

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।
आहता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकं ॥ अ. ३।२६।५॥

(गवां क्षीरं) गौओंका दूध (आहरामि) लाता हूं। (धान्य) धान्य और (रसं) रस (आहार्षं) मैं लाया हूं। (अस्माकं वीरा) हमारे वीर (आहृता) लाये गये हैं। ये (पत्नी.) पत्नियां हैं और (इदं अस्तकं) यह घर है।

घर वही है कि जहां उत्तम धर्मपत्नी रहती है, दूध, धान्य, तथा पेय रस बहुत हैं और जहां वीर पुरुष रहते हैं। यही सच्चा घर है।

विवाह योग्य विद्वान् स्त्री पुरुष।

पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी
धियं धात्। ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं
गृणते शर्म यंसत् ॥ ऋ. ६।४९।७॥

(पावीरवी) पवित्रता करनेवाली (कन्या) शोभायमान (चित्रायु) विचित्र भोगोंको प्राप्त करनेवाले (वीर पत्नी) वीरोंका पालन करनेवाली (सरस्वती) विद्यादेवी (धियं धात्) बुद्धिका धारण करती है, (ग्नाभि) सहचारिणीयोंके साथ (सजोषा) प्रेमके साथ (अच्छिद्रं शरणं) निर्दोष आश्रय देती है। और (गृणते) उपासकको (दुराधर्ष शर्म) अटल सुख (यंसत्) देती है।

सरस्वती अर्थात् विद्यादेवी सबकी पवित्रता करती है, शोभा बढाती है, विलक्षण भोग देती है, वीरताका पोषण करती है और उत्तम बुद्धिका प्रदान करती है। वह विद्यादेवी अपने साथ सहचारिणियोंको-अर्थात् धी श्री आदिकोंको लाकर सबको निर्दोष आश्रय देती हुई सुख भी देती है।

इस मंत्रमें "सरस्वती कन्या" शब्द है। इसलिये यह मंत्र जिस प्रकार सरस्वती-विद्या-विषयक है, उसी प्रकार "कन्या" विषयक भी है। विद्यासे सुसंस्कृत कन्या वीरोंको पतिरूपमें वरकर उनको संतोष देती है इत्यादि भाव पाठक विचार करके जान सकते हैं।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु
प्र पृथक् सादयामि। यत्काम इदमभिषिंचामि
वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ अ. ६।१२२।५॥

(शुद्धाः) शुद्ध, (पूता) पवित्र, (यज्ञियाः) पूजनीय, (इमा योषित) इन स्त्रियोंको (ब्रह्मणां हस्तेषु) ज्ञानियोंके हाथोंमें (प्र पृथक्) पृथक् पृथक् (सादयामि) देता हूं (यत्-काम अहं) जिस इच्छाको धारण करनेवाला मैं (इदं व

अभिषिंचामि) आपका यह अभिषेक करता हूं (तत्) उस कामनाको (मरुत्वान् इंद्र) प्रभु (मे ददातु) मुझे देवे ।

शुद्ध, पवित्र और पूजा योग्य तरुण स्त्रियोंका पाणिग्रहण ज्ञानी पुरुष ही करें। और पृथक् पृथक् एक तरुणीका पाणिग्रहण एक ही पुरुष करे। अर्थात् एक पुरुष अधिक स्त्रियां न करे और अयोग्य स्त्री पुरुषोंका विवाह कभी न हो । स्त्री पुरुषोंके विवाहका हेतु परमात्माकी कृपासे सफल होवे।

एक समय दो पत्नी करने का निषेध ।

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः ।

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम् ॥

ऋ. १०।१०१।११॥

(आपिब्दमान) हिनहिनानेवाला (वह्नि) रथका घोडा (उभे धुरौ) दोनों धुराओंके (योनौ अन्त चरति) मध्यमें दबा हुआ चलता है जैसा (द्विजानि इव) एक समय दो स्त्रियां करनेवाला पति दबा हुआ होता है। (वने) वनमें (वनस्पतिं) घास आदि वनस्पतियोंको (आस्थापयध्वं) ठीक प्रकार रखिए, (उत्सं) तालाब (अखनन्त) खोदिये और (नि-षु दधिध्वं) जलका संग्रह कीजिए ॥

जिस प्रकार टमटमका घोड़ा दोनों धुराओंके बीचमें जकड़ा जानेके कारण इधर उधर हिल नहीं सकता, उस प्रकार दो पत्नियोंका पति पूर्ण परतंत्र हो जाता है। इसलिये एक समय दो पत्नियें करना उचित नहीं है।

इस मत्रमें लक्षणासे यह उपदेश मिलता है, मंत्रके अन्य उपदेश स्पष्ट हैं।

स्त्री के मन के भाव ।

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी ।

ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥ ऋ.१०।१५९।२॥

(अहं केतु) मैं ज्ञानवती हूं (अहं मूर्धा) मैं घरमें मुख्य हूं (अहं उग्रा विवाचनी) मैं धैर्यशालिनी वक्तृत्व करनेवाली हूं। इसलिये (सेहानाया) शत्रुका नाश करनेवाली हूं, अत: (पति) पति (मम) मेरे (अनु) अनुकूल रह कर (क्रतुं उपाचरेत्) व्यवहार करे।

स्त्री विदुषी हो, घरमें मुख्य होकर व्यवहार करे, उसमें वक्तृत्व शक्ति हो घरके शत्रुओंको दूर करनेवाली हो। इस प्रकारकी स्त्री हो, तो पति उसके अनुकूल होकर उसको संमतिसे सब व्यवहार करे।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥

ऋ. १०।१५९।३॥

(मम पुत्राः) मेरे पुत्र (शत्रुहणः) शत्रुका नाश करनेवाले, (मे) मेरी (दुहिता) पुत्री (विराट्) तेजस्विनी है और (अहं) मैं (संजया अस्मि) विजयी हूं। तथा (मे श्लोकः उत्तमः) मेरी उत्तम प्रशंसा (पत्यौ) पतिके विषयमें है। अथवा (मे पत्यौ उत्तम श्लोकः) मेरे पतिकी उत्तम प्रशंसा हो।

स्त्रीको चाहिये कि वह पुत्र ऐसे उत्पन्न करे कि जो शत्रुको भगानेवाले हों, पुत्री तेजस्विनी हो, और वह स्त्री स्वयं विजयी हो। इतना होनेपर भी स्त्री की भक्ति पुरुषमें सुदृढ रहे। तथा ऐसा व्यवहार करे, जिससे उसके पतिकी कीर्ति बढे।

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर। मा ते
कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ॥ ऋ. ८।३३।१९॥

हे स्त्रि! (अधः पश्यस्व) नीचे देख, (मा उपरि) ऊपर न देख। (सन्तरां पादकौ हर) गंभीरतासे पाव रखकर चल। (ते कशप्लकौ) तेरे अवयव (मा दृशन्) किसीको दिखाई न दें। क्योंकि (ब्रह्मा) आत्माही स्त्रीरूपसे तेरे अंदर (बभूविथ) प्रकट हुआ है।

स्त्रीके धर्म ये हैं कि- (१) वह पुरुषकी तरह ऊपर न देखे प्रत्युत नीचेकी ओर देखे, (२) चलनेके समय गंभीर गतिसे चले, पावोंका जोरसे आवाज़ न करती हुई चले, (३) वस्त्रसे अपने अवयव अच्छी प्रकार आच्छादित रखे, ताकि कोई अवयव दूसरेको दिखाई न दे, (४) यह समझे कि अपने अंदर आत्मा ही स्त्रीका रूप धारण करके अवतीर्ण हुआ है।

पत्नी कर्म।

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं
रभस्व। सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन्
यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ अ. ११।१।१४॥

(इमाः) ये सब (शुम्भमानाः) शुभगुणोंसे युक्त (योषितः) स्त्रियां (आ अगुः) आगई हैं। (नारि) स्त्री! तू (उत्तिष्ठ) उठकर खड़ी हो। (तवसं) बल (रभस्व—लभस्व) प्राप्त कर। (पत्या) पतिके साथ रहकर (सु—पत्नी) उत्तम पत्नी बनकर (प्रजया) शुभ संतानसे (प्रजावती) उत्तम सन्तानवाली होकर रहो।

यह (यज्ञ.) गृहयज्ञ-गृहस्थ व्यवहारका शुभ कर्म (त्वा) तेरे पास (आ अगन्) आगया है, इसलिये (कुंभं) घड़ा (प्रति गृभाय) ले और गृहका कार्य कर।

(१) स्त्री सबसे प्रथम आलस्य छोड़कर शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बल प्राप्त करे। (२) पश्चात् पतिव्रता धर्मका उत्तम पालन करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करे उनके शरीर, मन, बुद्धि और आत्माका बल बढ़ाने योग्य उत्तम शिक्षा द्वारा उनको उत्तम शिक्षित करके उत्तम सन्तानवाली बने। (३) अपने घरके कार्य स्वयं अच्छी प्रकार करके अपने घरको आदर्श गृह बनावे और (४) अन्य स्त्रियों को अपने घरमें बुलाकर स्त्रियोंका मेल करके स्त्रियोंकी उन्नति करे।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव

सर्पन्तु शुभ्राः। अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः

पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥ अ. ११।१।१७॥

(शुद्धा) शुद्ध, (पूता) पवित्र, (शुभ्रा) गौर वर्णवाली (यज्ञिया) पूजनीय (इमा योषित) ये स्त्रियें (आप चरु) जल और अन्न के कार्यके प्रति (अव सर्पन्तु) प्राप्त हों। ये स्त्रियें (न·) हमें (प्रजां) सन्तान (अदु) देती रहती है। तथा (बहुलान् पशून्) बहुत पशुओं को हम प्राप्त होते हैं। (ओदनस्य पक्ता) चावल आदि पाकका पकानेवाला (सुकृता) उत्तम कर्म करनेवालोंके (लोकं) स्थानको (एतु) प्राप्त हो॥

(१) स्त्रियें शुद्ध, निर्मल और पूजनीय बनकर अपने गृहकृत्यमे दत्तचित्त हों, घरमें पानी तथा अन्न का इंतज़ाम अति उत्तम रखें। (२) उत्तम संतान उत्पन्न करें। (३) गौ आदि गृहोपयोगी पशुओंका निरीक्षण करें। (४) कोई यह न समझे कि अन्न पकाने का कार्य हीन है। नहीं। यह अन्न पकाने का कार्य इतना महत्वपूर्ण कार्य है, कि जो यह उत्तम कार्य करता है, वह स्त्री हो अथवा पुरुष हो, श्रेष्ठ समझा जाता है। इसका हेतु स्पष्ट ही है, कि भोजन आदि पकाने का सम्बन्ध हरएक मनुष्यके स्वास्थ्य के साथ है। इस लिये सबका ध्यान इस विषयमें आकर्षित होना आवश्यक है। उत्तम पाक बनाने की विद्या जानना जैसा स्त्री के लिए उसी प्रकार पुरुषके लिए भी अति उपयोगी है।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः

सहैधि। मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे

अनमीवा वि राज ॥ अ. ११।१।२२॥

(पशुभि सह) पशुओंके साथ (एना) इसके (अभ्या वर्तस्व) चारों ओर घूम। (देवताभिः सह) देवताओंके साथ (एना) इसके प्रति (प्रत्यङ्)

आगे प्रगति करता हुआ (एधि) प्राप्त हो। (शपथ) गाली, शाप तथा (अभिचारः) व्यभिचार (त्वा) तुझे (मा मा) न (प्रापत्) प्राप्त होवे। (स्वे क्षेत्रे) अपने क्षेत्रमें (अनमीवा) नीरोग होकर (वि राज) प्रकाशित हो जाओ।

वेदि अर्थात् यज्ञशालाके पास गो आदि पशुओंके साथ जाना चाहिये, क्योंकि उनके दूध और घी से हवन करना होता है। कभी भी गाली, बुरा शब्द तथा किसी अन्य दुष्ट कर्मके साथ अपना संबन्ध नहीं रखना चाहिये। और अपने क्षेत्रमें अपनी भूमिमें तथा अपने अधिकार कार्यमें आरोग्यके साथ अपनी प्रगति करना चाहिये।

ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता
वेदिरग्रे। अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं
सादय दैवानाम् ॥ अ. ११।१।२३॥

(अग्रे) प्रथमतः (एषा) यह (ब्रह्मौदनस्य) ब्रह्मके ओदनकी (वेदि) वेदि (ऋतेन) नियमसे (तष्टा) बनाई और (मनसा हिता) मनसे रखी गई है। हे (नारि) स्त्री! (शुद्धां अंसद्रीं) पवित्र कढाई या बर्तन को इस पर (उपधेहि) चढ़ा दे, और (तत्र) उसमें (देवानां ओदनं) देवताओं को देने के लिये (ओदनं) अन्न (सादय) बनाओ।

जिस पर अन्न पकाया जाता है, वह चूल्हे का स्थान सब से प्रथम योग्य नियमोंके अनुकूल बनाना और मनके विचार से उसका उत्तम बनाना चाहिये। उसमें किसी प्रकार का दोष होना नहीं चाहिये। तत्पश्चात् पकाने वाली स्त्री शुद्ध बर्तनको उस पर रखे और अग्नि आदि सब साधनोंको सिद्ध करके उत्तम अन्न सिद्ध करे।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा
म एषा। इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां
पितृषु यः स्वर्गः ॥ अ. ११।१।२८॥

(इदं मे) यह मेरा (अमृतं ज्योति हिरण्यं) अमर तेजस्वी सुवर्ण है, (क्षेत्रात्) खेतसे (पक्व) पका हुआ अन्न यह है, (मे एषा) मेरी यह (कामदुघा) गौ है। (इदं धनं) यह सब धन (ब्राह्मणेषु) ज्ञानियों में (निदधे) अर्पण करता हूं, और (पन्थां) मार्ग (कृण्वे) बनाता हूं (यः) जो (पितृषु) पालकोंमें (स्वर्ग) स्वर्गरूप है।

(१) सोना, धान्य, गौ आदि धन ज्ञानियोंको अर्पण करना चाहिये, (२) और सब के सुख का मार्ग खुला करना चाहिये।

नव वधू के प्रति उपदेश ।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ अ. ३।२८।३॥

(पुरुषेभ्य गोभ्य) पुरुषों, गौवों और (अश्वेभ्य) घोड़ोंके लिये (शिवा भव) कल्याणकारिणी हो। (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब स्थानके लिये (शिवा) कल्याणकारिणी हो। (न) हमारे लिये (शिवा इह एधि) कल्याणकारिणी होकर यहां आ जाओ।

सबके ऊपर कल्याणपूर्ण दृष्टि स्त्रियोंको रखनी चाहिये।

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हप-

त्याय जागृहि । एना पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्वाथ

जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ अ. १४।१।२१॥

(इह) यहां (ते प्रजायै) तेरे लिये तथा सन्तानके लिये (प्रियं) हित (सं ऋध्यतां) बढ़े, (अस्मिन्) इस (गृहे) घरमें (गार्हपत्याय) गार्हपत्य-घरकी व्यवस्थाके लिये (जागृहि) जागती रह, सावधान रह। (एना पत्या) इस पतिके साथ (तन्वं सं स्पृशस्व) शरीरसुख प्राप्त कर। (अथ जिर्विः) और ज्ञानवृद्ध बनकर (विदथं आवदासि) सभामें वक्तृत्व कर। अथवा कर्तव्योपदेश कर।

स्त्री अपनी प्रजाके लिये तथा अपने और पति आदिके हितके लिये प्रयत्न करे। घरकी व्यवस्था उत्तम रखे तथा ज्ञान प्राप्त करके यशस्विनी बने।

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।

पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ अ. १४।१।२७॥

(रुशती तनू) तेजस्वी शरीर (अमुया पापया) इस पापी आचरणसे (अश्लीला) घृणित होता है। जो (वध्व वास) स्त्रीके वस्त्रसे पति अपने अंगको (अभ्यूर्णुते) ढक लेता है।

स्त्रीका वस्त्र पुरुषको नहीं पहनना चाहिये।

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं

युगस्य तर्द्म । शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु

पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्व ॥ अ. १४।१।४०॥

(हिरण्यं) सुवर्ण (आप) जल (मेथि) पशु बंधनके दंडादि (युगस्य तर्द्म) जूएके छिद्र (शत पवित्रा आप) सैकड़ों प्रकारसे पवित्र बने हुए जल

(ते शं भवन्तु) तेरे लिये कल्याणकारक हों। (शमु) इस सुखसे युक्त होकर तू पतिके साथ (तन्वं) शरीरसुखको (सं स्पृशस्व) प्राप्त कर।

उत्तम रीतिसे गृहकार्योंमें दक्ष बनकर स्त्रीको पतिके साथ रहना चाहिये इसीसे पतिकी समग्र संपत्तिकी स्वामिनी बनकर सुख भोग करती है।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।

पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ अ. १४।१ ४२॥

(सौमनस) मनकी प्रसन्नता (प्रजां) सन्तान (सौभाग्यं) उत्तम भाग्य ऐश्वर्य (रयिं) धनको (आशासाना) चाहती हुई (पत्युः अनुव्रता) पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली (भूत्वा) होकर (कं) अपना सुख (अमृताय स नह्यस्व) अमरपनके साथ संबंधित कर।

स्त्री अपने मनको सदा प्रसन्न रखकर, संतान, ऐश्वर्य और धनकी कामना करे, पतिके अनुकूल सदाही अपना आचरण रखे, तथा अपने सुख-साधन ऐसे करे कि जो अमरत्व अर्थात् मोक्षरूप स्वातंत्र्यको प्राप्त करानेवाले हों, और बंधन बढानेवाले न हों।

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ अ.१४।२।२॥

(अग्नि) तेजस्वी ईश्वरने (आयुषा वर्चसा सह) दीर्घ आयु और तेज के साथ (पत्नीं अदात्) पत्नी को दिया है। (अस्याः पतिः) इसका पति दीर्घ आयु होकर (शरदः शत जीवाति) सौ वर्ष जीता रहे।

पत्नी ईश्वरभक्तिपूर्वक ऐसा आचरण करे और गृहव्यवस्था ऐसी चलावे, कि जिससे पति दीर्घ आयु बनकर सौ वर्षकी पूर्ण आयु आनन्दसे व्यतीत कर सके।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत

बीजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो

बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥ अ. १४।२।१४॥

(आत्मन्वती) आत्मिक बलसे युक्त (उर्वरा) उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाली यह (नारी) स्त्री (आगन्) आगई है। हे (नर) पुरुषो ! इस स्त्री में बीज (वपत) बो। (सा) वह स्त्री (ऋषभस्य) बलवान् वीर्यवान् पुरुष से (रेत) निकला हुआ वीर्य (बिभ्रती) धारण करती हुई (वः प्रजां) आपके लिये प्रजाको (वक्षणाभ्य) गर्भस्थान से (जनयत्) उत्पन्न करे।

आत्मिक बलसे युक्त और उत्तम सुदृढ शरीरसे युक्त होनेके कारण सुसंतति निर्माण करनेवाली वधूही विवाह के लिये पसन्द करना चाहिये।

पुरुष भी उत्तम वीर्यसंपन्न होकर उस स्त्री में गर्भाधान करे । स्त्री उस वीर्यको धारण करके गर्भ का पालन उत्तम रीति से करके उत्तम संतान उत्पन्न करे ॥

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः । वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ॥ अ. १४।२।१७ ॥

हे स्त्रि ! (अघोर- चक्षु) क्रूर दृष्टि न रखनेवाली, (अपति घ्नी) पति का घात न करनेवाली, (स्योना) सुखदायिनी (शग्मा) कार्यकुशल, (सुशेवा) सेवा योग्य, (गृहेभ्य) घरके लिये (सुयमा) उत्तम नियमों का पालन करने वाली, (वीरसू) वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, (देवृकामा) देवरोंकी इच्छा तृप्त करनेवाली, (सुमनस्यमाना) उत्तम मनवाली तू हो । (त्वया) तेरे साथ हम (सं एधिषीमहि) मिलकर बढ़ें ।

स्त्रीको उचित है कि, वह अपनी उत्तम दृष्टि सबके ऊपर प्रेम से पूर्ण रखे । पति देवर आदि के हित करनेमें तत्पर रहे । सब कार्य उत्तम कुशलता पूर्वक करे । घरकी व्यवस्था उत्तम प्रकार की रखे, जिससे सब घरका परिवार सुखी होवे ।

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः । प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ अ. १४।२।१८॥

(अदेवृघ्नी) देवरका घात न करने वाली (अपतिघ्नी) पतिका घात न करनेवाली, (पशुभ्य शिवा) पशुओंका हित करनेवाली, (सुयमा) उत्तम नियमोंका पालन करनेवाली (सुवर्चा) तेजस्विनी, (प्रजावती) उत्तम संतान से युक्त, (वीरसू) वीर पुत्रोंको प्रसवनेवाली, (देवृकामा) देवरकी इच्छा पूर्ण करनेवाली (स्योना) सुखकारक होकर (इह एधि) यहां आ और (गार्हपत्यं अग्निं सपर्य) गृहसंबन्धी यज्ञके अग्निकी सेवा कर ।

स्त्री उक्त गुणोंसे युक्त होकर गृहकार्यमें दक्ष होवे ।

आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा । इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥ अ. १४।२।२४॥

(चर्म आरोह) शानारूढ हो । (अग्निं उपसीद) अग्निकी उपासना यज्ञद्वारा कर । (एष देव-) यह देव (सर्वा रक्षांसि) सब दुष्टभावों को

(हन्ति) नष्ट करता है। (इह प्रजां जनय) यहां प्रजा उत्पन्न कर, (अस्मै पत्ये) इस पतिके लिये (ते एष पुत्रः) तेरा यह पुत्र (सुज्येष्ठ भवत्) बड़ा होवे।

स्त्री आसनपर बैठकर अग्निहोत्रादि करे। अग्नि रोगबीजोंका नाशक अर्थात् आरोग्यवर्धक है। इससे आरोग्य प्राप्त करके उत्तम संतान उत्पन्न करे।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय

शंभूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥अ. १४।२।२६॥

हे वधू! (सुमंगली) उत्तम मंगल करनेवाली, (गृहाणां प्रतरणी) घरोंको बढ़ानेवाली, (पत्ये सुशेवा) पतिके लिये उत्तम सेवा करनेवाली, (श्वशुराय शंभूः) ससुरके लिये शान्ति देनेवाली, (श्वश्र्वै स्योना) सासुके लिये आनन्द देनेवाली, (इमान् गृहान् प्रविश) इन घरोंमें प्रविष्ट हो।

स्त्री उक्त गुणोंसे युक्त होकर पतिगृह में गृहकार्य दक्षतापूर्वक करे।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।

स्योनाऽस्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥

अ. १४।२।२७॥

(श्वशुरेभ्य पत्ये गृहेभ्य स्योना भव) ससुरोंके लिये, पतिके लिये, सुखदायिनी हो (अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना) इन सब प्रजाओंके लिये, सुखदायिनी हो, तथा (स्योना एषां पुष्टाय भव) इनका मंगल करती हुई इनकी पुष्टी करनेवाली हो।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका।

दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ अ. १४।२।६३॥

(इयं नारी) यह स्त्री (पूल्यानि आवपन्तिका) मेलके बीजोंको याती हुई (उप ब्रूते) बोलती है, कि (मे पति) मेरा पति (दीर्घायु अस्तु शतं शरदः जीवाति) दीर्घायु होवे और सौ वर्ष जीवित रहे।

पतिव्रता स्त्री का यही लक्षण है, कि वह अपने पतिकी दीर्घ आयु होने का ही चिंतन करे।

पत्नी का स्थान।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।

एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥ अ. १४।१।४३॥

(यथा) जिस प्रकार (वृषा सिन्धुः) बलवान समुद्रने (नदीनां साम्राज्यं)

नदियोंका साम्राज्य (सुषुवे) उत्पन्न किया है, (एव) इसी प्रकार तू (पत्यु: अस्तं परा इत्य) पतिके घर आकर (त्वं सम्राज्ञी एधि) तू महाराणी बनकर रह।

पुरुष घरका सम्राट् है, और स्त्री घरकी सम्राज्ञी अर्थात् महाराणी है।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।

ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥ अ. १४।१।४४॥

(श्वशुरेषु) अपने ससुर आदिके बीच (देवृषु) देवरोंके मध्यमें (ननान्दुः) ननंदके साथ (श्वश्र्वा) सासके साथभी (सम्राज्ञी) महाराणी होकर रह।

यहां स्त्रीको सम्राज्ञी कहा है। कितना बड़ा अधिकार है। स्त्रीका जितना समादर वैदिकधर्ममें है, उतना और किसी मत संप्रदायमें नहीं है। स्त्रियोंका उत्थान करनेके लिये इस वैदिकतत्त्वके प्रसारकी विशेष आवश्यकता है।

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शत-

शारदाय। गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं

त आयुः सविता कृणोतु ॥ अ. १४।२।७५॥

(शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये (सुबुधा बुध्यमाना) उत्तम ज्ञान प्राप्त करके (प्रबुध्यस्व) ज्ञानी बन (गृहान् गच्छ) अपने घरजा यथा (गृहपत्नी) जिस प्रकार घरकी स्वामिनी होती है, उस प्रकार (असः) रह। (सविता) सबका उत्पादक देव (ते आयुः दीर्घं कृणोतु) तेरी आयु दीर्घ करे।

स्त्री ज्ञानसंपन्न होकर घरकी व्यवस्था उत्तम करे और दीर्घायु बननेका यत्न करे। सूर्य दीर्घ आयु देता है, इसलिये सूर्यप्रकाशके साथ संबंध रखकर भी दीर्घ आयु बनानी चाहिये।

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो

ब्रह्म सर्वतः। अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा

स्योना पतिलोके वि राज ॥ अ. १४।१।६४॥

(ब्रह्म) ज्ञानही (अपरं) पश्चात् (पूर्वं) पहिले (अन्ततः) अंतमें मध्यमें तात्पर्य (सर्वतः) सर्वत्र उपयोगी है। उस ज्ञानको प्राप्त करके और (अनाव्याधां) (देवपुरां) बाधारहित दिव्य नगरीको (प्रपद्य) प्राप्त होकर (पतिलोके) पतिके घर (शिवा स्योना) कल्याण करनेवाली बनकर (विराज) विराजमान हो।

सब अवस्थामें ज्ञानही लाभकारी होता है, इसलिये ज्ञान प्राप्त करके विदुषी बनकर स्त्री पतिके घर आकर ऐसा व्यवहार करती रहे, कि सब उसकी प्रशंसा करें।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । सौभाग्य-
मस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥ ऋ. १४।२।२८॥

(इयं वधू) यह वधू (सुमंगलीः) मंगल करनेवाली है। (समेत) मिलकर (इमां पश्यत) इसे देखो। (अस्यै) इसको सौभाग्य (दत्त्वा) देकर (दुर्भाग्यैः) दुर्भाग्यपनोंसे (वि परेतन) पृथक् रखो।

उक्त प्रकार से सुमंगली स्त्रीका सब लोग आदर करें और हरएक कष्टसे उसको बचावें। तथा उसको हरएक प्रकारकी सहायता दें।

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये
अस्मै । इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा
उषसः प्रति जागरासि ॥ ऋ. १४।२।३१॥

(सुमनस्यमाना) प्रसन्न मनके साथ (तल्पं आरोह) शय्यापर चढ़ और (इह) यहां (अस्मै पत्यै) इस पतिके लिये (प्रजां जनय) संतान उत्पन्न कर। (इन्द्राणी इव) इन्द्रकी पत्नी जैसी इन्द्राणी है, उस प्रकार (सुबुधा बुध्यमाना) ज्ञानसे युक्त होकर (ज्योतिरग्रा) ज्योतीको देनेवाले (उषस) उषःकाल में (प्रति जागरासि) जागती रह।

स्त्री आनंदयुक्त मनसे पतिके साथ होकर उत्तम संतान उत्पन्न करे। स्वयं ज्ञानकी प्राप्ति करती हुई सावधानतासे सब व्यवहार करे, तथा प्रतिदिन उष:कालमें उठकर अपने कार्य करने लगे।

दंपती का पारस्परिक व्यवहार।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ ऋ. १४।१।२२॥

(इह एव स्तं) तुम दोनों यहांही रहो। (मा वि यौष्टं) अलग विभक्त मत होओ। (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियोंके साथ (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (स्वस्तकौ मोदमानौ) अपने उत्तम घरमें आनंदित होते हुए (विश्वं आयुः) सब आयु (वि अश्नुत) प्राप्त करो।

स्त्री पुरुष एकचित रहें। कभी विभक्त न हों अर्थात् विवाहसंबंध तोड़कर एक दूसरेको त्याग न दें। अपने घरमें सुख अनुभव करने योग्य परिस्थिति बनाकर अपने बालबच्चोंके साथ आनंदसे रहते हुए ही संपूर्ण आयु प्राप्त करके दीर्घ आयुतक जीवित रहें। इस मन्त्रमें 'स्तं' वियौष्टं, अश्नुतम्, क्रीडन्तौ, मोदमानौ, स्वस्तकौ' यह द्विवचन बलपूर्वक एक कालमें एक पतिव्रत तथा एक पत्नीव्रतका आदेश कर रहे हैं।

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम् । सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥ अ. १४।२।६॥

हे स्त्री ! (सा) वह तू (मंदसाना) आनदसे युक्त होकर (शिवेन मनसा) शुभ मनसे (सर्ववीरं) सर्ववीरके गुणोंसे युक्त (वचस्यं रयिं) प्रशंसनीय धनको (धेहि) धारण कर। तथा हे (शुभस्पती) शुभकर्म करनेवाले स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (सुगं) उत्तम प्राप्त होने योग्य (तीर्थं) तैरने योग्य (सुप्रपाणं) जलस्थान तथा (स्थाणुं पथिष्ठां) स्थिर प्रतिष्ठा प्राप्त करो और सदा (दुर्मतिं हतम्) दुष्ट बुद्धिका नाश करो ।

स्त्री पुरुषोंको उचित है, कि वे वीर्य, शौर्य, धैर्यादि गुणोंके साथ धन प्राप्त करें, कीर्ति और यश कमावें, अपनी प्रतिष्ठा स्थिर रखें, घरके पासके जल स्थान उत्तम अवस्थामें रखें और दुष्ट बुद्धिका नाश करें ।

एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम् ।
यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥ अ. १४।२।८॥

(इमं सुगं) इस सुगम और (स्वस्ति वाहनं पंथां) कल्याण करनेवाले मार्गसे हम (अरुक्षाम) चलें। (यस्मिन्) जिस मार्गपरसे चलनेपर (वीर न रिष्यति) वीरको हानि नहीं पहुंचती, और (अन्येषां) दूसरोंका (वसु विंदते) धन प्राप्त होता है ।

इस धर्ममार्गसे चलें, क्योंकि इसीसे चलना सुगम है, और कल्याणकारक भी है। इस मार्ग परसे चलनेसे शौर्यवीर्यादि गुण कम नहीं होते और धनादि भोग्य पदार्थ भी होते हैं ।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ अ. १४।२।११॥

(ये परि पंथिन) जो बटमार लोग (दंपती आसीदति) पतिपत्नीके घात करनेवाले हैं, वे इनको (मा विदन्) न मिलें। आप दोनों पति और पत्नी (सुगेन) सुगम उपायसे (दुर्गं अतीतां) कष्टकी अवस्थाका अतिक्रमण करें और आपके संपूर्ण (अरातय) शत्रु (अपद्रान्तु) भाग जावें ।

पति और पत्नी अपनी गृह-व्यवस्था ऐसी रखें, कि जिससे स्वल्प और सुगम प्रयत्नसे बहुत कष्ट दूर हों, और सब प्रकारका सुख प्राप्त हो। सब शत्रु दूर होकर सर्वत्र मित्रताका राज्य हो ।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोद-

मार्ना। सुग सुपुत्री सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ अ. १४।२।४३॥

(स्योनात् योने) सुखकारक घरमें (अधि बुध्यमानौ) ज्ञान प्राप्त करते हुए (हसा-मुदौ) हास्य और आनंद करते हुए (महसा मोदमानौ) प्रेमसे परस्पर आनंदित होकर (सु-गू) उत्तम चालचलन करनेवाले (सु पुत्रौ) उत्तम पुत्रोंसे युक्त होकर (सुगृहौ) उत्तम घर बनाकर (जीवौ) जीवनको सार्थक करनेवाले होकर (विभातीः उपसः) तेजस्वी उप कालोंको (तराथ) पार करो।

प्रेम और आनंदसे स्त्री पुरुषोंको रहना चाहिये।

अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥

अ १४।२।७१॥

(अह अम) मैं ज्ञानी हूं, और (त्वं सा) तू भी वैसी ही ज्ञानी है। (साम अह अस्मि) मैं साम मंत्र हूं और (त्वं ऋक्) तू ऋग्वेद मन्त्र है। (अहं द्यौः त्वं पृथिवी) मैं द्युलोक और तू पृथ्वी है। (तौ इह) ऐसे हम दोनों यहां (संभवाव) मिलें और (प्रजां आजनयावहै) प्रजा उत्पन्न करें।

स्त्री और पुरुषका नित्य संबंध उक्त उपमाओंमें बताया है। जिस प्रकार द्युलोक और पृथ्वीका विभक्त भाव नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रीपुरुष कभी विभक्त न हों।

स्त्री माहात्म्य।

उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः ॥ ऋ. ५।६१।६॥

(उत) और यह विषय प्रसिद्ध है कि (त्वा) बहुतसी (शशीयसी) पतिव्रता (स्त्री) स्त्रियां (पुंस) उस पुरुष से (वस्यसी) अधिक धर्ममें दृढतरा और प्रशंसनीया होती हैं, जो पुरुष (अदेवत्रात्) देवार्चन आदि सुकर्मसे रहित है और (अराधस) ईश्वर की आराधना, पूजापाठ, सन्ध्योपासना प्रभृति क्रियासे हीन है, उस पुरुषसे स्त्रियां ही अच्छी हैं जो पतिव्रता और धर्मकर्मनिष्ठा है।

वि या जानाति जसुरिं वि तृष्यन्तं वि कामिनम्। देवत्रा कृणुते मनः ॥ ऋ. ५।६१।७॥

(या) जो पतिव्रता स्त्री (जसुरिं) दरिद्रतासे व्यथितको (वि जानाति) अच्छे प्रकार जानती है अर्थात् उसकी आवश्यकता को जान उसके मनोरथ

को पूर्ण करती हैं। (तृप्यन्त वि) तृप्ति को विशेष जानती है। (कामिन) धनाभिलाषी जनको। (वि) जानती है) और (देवत्रा) पिता माता गुरु आचार्य तथा अन्यान्य माननीय जनों तथा देवादि यज्ञमें (मन कृणुते) मन लगाती है ऐसी स्त्री पुरुष से श्रेष्ठा है।

स्त्रीको यज्ञ करने की आज्ञा।

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः।
देवासो नित्ययाऽऽशिरा ॥ ऋ. ८।३१।५॥
प्रति प्राशव्याँ इतः सम्यञ्चा बर्हिराशाते।
न ता वाजेषु वायतः ॥ ऋ. ८।३१।६॥
न देवानामपि ह्नुतः सुमतिं न जुगुक्षतः।
श्रवो बृहद् विवासतः ॥ ऋ. ८।३१।७॥

इन ऋचाओंका देवता "दम्पती" स्त्रीपुरुष है। अर्थात् जाया और पतिके कर्तव्यका वर्णन है। (देवास) हे विद्वान् पुरुषो! (या दम्पती) जो पत्नी और पति (समनसा सुनुत) एक मन होके साथ यज्ञ करते हैं (च आ धावत) और स्वस्ति प्रार्थना उपासना के द्वारा परमात्माके निकट दौड़ते हैं (नित्यया आशिरा) नित्य ईश्वरके आश्रय से सब कार्य करते हैं। वे कदापि दु:खक्लेश नहीं पाते हैं॥

(प्राशव्यान् प्रति इत) वे दोनों प्राशव्य अर्थात् नाना भोगोंको पाते हैं। जो (सम्यञ्चा बर्हि आशाते) सदा सम्मिलित हो यज्ञका सपादन करते हैं, (ता वाजेषु न वायतः) वे दोनों अन्नोंके लिये इधर उधर नहीं जाते हैं। अर्थात् विविध सुखोंसे सदा पूर्ण रहते हैं॥

(देवाना न अपि ह्नुत) दम्पती विद्वानोंके उपदेशोंको और देवभागों को नहीं छिपाते, (सुमतिं न जुगुक्षत) शोभन मतिको कभी गुप्त करना नहीं चाहते, (बृहत् श्रवः विवासत) जो अपने शुभ कर्मोपार्जन द्वारा महान् यशको सर्वत्र विस्तृत करते हैं। वे कदापि दु:खभागी नहीं होते। [आशिरा= आश्रय आशीर्वाद। प्राशव्य=भक्ष्यपदार्थ। अन्नप्राशन शब्द की तुलना करो। वायत =वयतिर्गत्यर्थ (सा०) ह्नुत =ह्नुङ्=अपनयन। जुगुक्षत =गुह संवरणे]॥

पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः।
उभा हिरण्यपेशसा। ऋ. ८।३१।८॥

वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्ताऽमृताय कम् ।

समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुतो दुवः ।   ऋ. ८।३१।९॥

(ता) वे यज्ञ करनेहारे पत्नी और पति (पुत्रिणा) पुत्रपुत्रीवाले होते हैं (कुमारिणा) कुमारकुमारियोंसे सदा युक्त रहते हैं (विश्वं आयु व्यश्नुत) पूर्ण आयुको भोगते (उभा हिरण्य पेशसा) और दोनों जगत् में निष्कलंक रहके सदा सच्चरित्ररूप सुवर्णभूषणों से देदीप्यमान होते हैं ॥

(वीति होत्रा) जिन दोनोंको अग्निहोत्र कर्म प्रिय है (कृतद्वसू) जो धर्मरूप धनोंसे सम्पन्न हों (दशस्यन्ता) जो परम उदार दानी हों ऐसी दम्पती (अमृताय कम्) अन्तमें मोक्षके योग्य होते हैं एवं ये दोनों (ऊध रोमश) बहुत ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करते हुए (सहते) सदा सम्मिलित रहते हैं अर्थात् इनमें वियोग नहीं होता । (देवेषु दुव कृणुत) ऐसेही दम्पती विद्वानों के मध्य सेवा भी कर सकते हैं ॥

आशय—यहां 'दम्पती' 'सम्यञ्चा' आदि शब्द ही सिद्ध करते हैं कि दोनों स्त्रीपुरुष सम्मिलित हो यज्ञादि शुभ कर्म करें ।

यम–यमी सूक्त ।

(नियोग)

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवं

जगन्वान् । पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि

प्रतरं दीध्यानः ॥   ऋ. १०।१०।१॥

(ओचित्) ऐ जी ! मैंने (सखायं) समान गुणकर्मस्वभाववालेको (सख्या) सख्यभाव=साँझेपनके लिए (ववृत्याम्) वरण किया था । वह (वेधा) ज्ञानी (पुरूचित्) बहुत बड़े, इस (अर्णव) संसार सागर के (जगन्वान्) पार जानेके लिए (प्रतरं) बहुत (दीध्यानः) विचार करता हुआ (अधिक्षमि) इस जगत् में (पितु) अपने पिता की (नपात) सन्तति-वंश को (आदधीत) धारण रखे, स्थिर रखे ।

विवाह का प्रयोजन वंश चलाना है । स्वयंवर विधिसे विवाह होने चाहिए ।

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा

भवाति । महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्ता-

र उर्विया परि ख्यन् ॥   ऋ. १०।१०।२॥

(ते सखा एतत् सख्यं न वष्टि) तेरा सखा इस सख्यको नहीं चाहता

कि नु (सलक्ष्मा) उसके समान उद्देश्यवाली होती हुई (विषुरूपा) विरुद्ध स्वभाववाली बन जाए । (असुरस्य) प्राणप्रद परमेश्वर के (वीराः) बहादुर भक्त हों (महस्पुत्रास) सब तेजस्वी पुत्र होते हैं, ऐसा (दिव धर्तारः) दिव्य ज्ञानधारी महात्मा (उर्विया) विशाल ज्ञाननेत्रों से (परि ख्यन्) सब ओर देखते हैं ।

पहले मन्त्रमें पत्नीने विवाह का उद्देश्य जतला कर पतिसे सन्तानकी कामना प्रकट की है। दूसरे मन्त्रमें पति उत्तर देता है। दृष्टिकोण को विस्तृत करो, जो धार्मिक, देशहितकारी, ईश्वरभक्त लोग हैं, उन सबको अपनी सन्तान मान लो। सच्ची सन्तान तो वही है।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं
मर्त्यस्य । नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पति-
स्तन्वमा विविश्याः ॥ ऋ. १०।१०।३॥

जो (अमृतास) अमर होना चाहते हैं, (ते) वे लोग (एतत्) इस की सन्तान की (उशन्ति घ) कामना करते ही हैं। और (एकस्य मर्त्यस्य) एक मरने की कामना करने वाले को यह (त्यजसंचित्) त्याज्य ही है। अर्थात् जो लोग संसार में अपना नाम अमर करना चाहते हैं, वे अवश्य सतान की कामना करते हैं। दूसरे भले ही न करें। हे पति देव ! (ते मन) अपने मन को, मेरे (मनसि) मन में (धायि) धारण कर, अर्थात् तेरा मन मेरे चित्त के अनुकूल हो। (जन्यु) सन्तान पैदा करने को अभिलाषी (पति) पति, मेरे (तन्वम्) शरीर में (आ विविश्या) गर्भ धारण कर।

गृहस्थ जिस उद्देश्य से सन्तान चाहा करता है, उसको कितने सरस एवं मनोरम शब्दोंमें वर्णन किया है। पत्नी पतिको विवाहकाल की प्रतिज्ञा स्मरण करा रही है। कितना स्वाभाविक वर्णन है।

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं
रपेम । गंधर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः
परमं जामि तन्नौ ॥ ऋ. १०।१०।४॥

(नूनं न कद्ध) निश्चय से उसे कभी न करेंगे, (यत् पुरा चकृम) जो हम ने पहले किया। अर्थात् अब गृहस्थ कार्यों में प्रवृत्त न होंगे। (ऋता वदन्त अनृतं रपेम) ज्ञान की चर्चा करते हुए हम क्या अनृत=झूठ=संसारिक व्यवहार करें। (गन्धर्व) पति तो (अप्सु) यज्ञ कर्मोंके निमित्तसे पति होता है। (च) और (योषा) पत्नी भी (आप्या) यज्ञगतकर्मोंसे पत्नी कहलाती है। (सा) यह यज्ञक्रिया ही (न नाभि) हमारा संबन्ध करानेवाली है। (तत्) वही यज्ञ=परोपकार ही हमारा (परमं) सर्वश्रेष्ठ (जामि) सन्तानकर्म है।

पुत्र यश और कीर्तिके साधक होते हैं। यदि निकम्मी सन्तान हुई, तो अपकीर्तिका कलङ्क माथेपर लगता है। अतः हम स्वयं ही पुत्रसाध्यकीर्तिसाधक कार्य्य करें।

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता
विश्वरूपः। न किरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद
नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥ ऋ. १०।१०।५॥

(गर्भेनु) गर्भही में=गृहस्थमें ही (जनिता) जगदुत्पादक (त्वष्टा) जगन्निर्मायिता (सविता) सर्वेश्वर, सर्वप्रेरक (विश्वरूप) सबको रूप देनवाले भगवान्ने (नौ) हम दोनोंको (दम्पती) पतिपत्नी (क) बनाया है। (अस्य व्रतानि) इसके नियमोंको (न कि प्रमिनन्ति) कोई नहीं तोड़ता। वह (नौ) हमारे (अस्य) इस संबन्धको जानता है कि यह (पृथिवी) पत्नी (उत) और यह (द्यौ) पति है।

पत्नीकी प्रेरणा कितनी प्रबल है?

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह
प्र वोचत्। बृहन् मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव
आहनो वीच्या नॄन् ॥ ऋ. १०।१०।६॥

(अस्य प्रथमस्य अह्न कः वेद) उस पहले दिनकी बात कौन जानता है। (क ईं ददर्श) किसने उसे देखा। (इह) इस विषयमें (क प्रवोचत्) किसने कहा। अर्थात् तुम अमूल बात कह रही हो, गप्प जड़ रही हो। (मित्रस्य वरुणस्य) जहाँ प्रभुका (धाम) धाम (बृहत्) बड़ा है। हे (आहन) व्रतभंगतत्परे 'मर्यादानाशिनि' तू (वीच्या) छलसे (नृन्) मनुष्योंको (कदु ब्रव) क्या कहती है?

पति कहता है, तेरी इस बातका कि 'प्रभुने गर्भमें ही दम्पती बनाया है' क्या प्रमाण है? अर्थात् तू नियमों के तोड़ने पर उतारू हुई है, इसी वास्ते यह व्यर्थ बातें कहने लगी है।

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सह
शेय्याय। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव
रथ्येव चक्रा॥ ऋ. १०।१०।७॥

(समाने योनौ सह शेय्याय) एक स्थानपर साथ सोनेके लिए (मा) मुझको (यमस्य यम्य) यमविषयक अभिलाषा हुई है, कि मैं (पत्ये) पतिके प्रति (जाया इव चित्) पत्नीके स्वरूपमें ही (तन्वं विरिरिच्या) शरीर प्रकट करसकूं। हम दोनों (रथ्या चक्रा इव) रथके चक्रोंकी भांति (वृहेव) पुरुषार्थ करें।

गृहस्थरूपी रथके पति और पत्नी दो चक्र हैं। यमी कहती है। मेरे न माननेसे रथ टूट जाएगा।

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये,
चरन्ति। अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह
रथ्येव चक्रा ॥ ऋ. १०।१०।८॥

(देवाना ये स्पशा इह चरन्ति) देवदर्शी जो इस संसारमें भ्रमण करते है, (एते) वह लोग (न तिष्ठन्ति, न निमिषन्ति) न ठहरते हैं, न आंख झपकते है। अर्थात् वीतराग न स्थान बनाते है और नहीं सोते हैं, तू समान स्थान में साथ सोनेकी बात कह रही है, यह कैसे हो सकता है? हे (आहन) मर्यादाशून्ये! (तूयं) शीघ्र (मत् अन्येन) मेरे अतिरिक्त किसी के साथ (याहि) जा। (तेन) उस के साथ (रथ्येव चक्रा विवृह) रथके पहिए के सदृश चेष्टा कर।

यहां सन्तानाभिलाषिणी पत्नीको पति ने नियोग की अनुज्ञा दे दी।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरु-
न्मिमीयात्। दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमी-
र्यमस्य बिभृयादजामि ॥ ऋ. १०।१०।९॥

(सूर्यस्य चक्षु मुहु उन्मिमीयात्) सूर्यका नेत्र बार बार खुले, और (रात्रीभि अहर्भि अस्मै दशस्येत्) और दिनरात के द्वारा इसे उपदेश दे, कि (दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू) द्यौ और पृथिवी यह जोड़ा परस्पर संबद्ध हैं=समान बन्धनवाले हैं तब क्या (यमी) यमी (यमस्य) यम के (अजामि) सम्बन्धविच्छेद को (बिभृयात्) धारण करे।

पत्नी दिनरात, द्यावापृथिवीके दृष्टान्तसे पतिपत्नी के संबन्धकी तुलना करती है। परन्तु यह है दृष्टान्ताभास। क्योंकि यमी तो यमको पास रखना चाहती है किन्तु दिनरात या द्यौ और पृथिवी कभी इकट्ठे हो नहीं सकते।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण-
वन्नजामि। उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व
सुभगे पतिं मत् ॥ ऋ. १०।१०।१०॥

(ता उत्तरा युगानि आगच्छा घा) विवाहके पश्चात् ऐसे समय आते ही है, (यत्र जामय अजामि कृणवन) जब पत्नियें अपत्नीकार्य्य करती है। हे (सुभगे) सौभाग्यवति! (मत् अन्यं) मुझसे भिन्न (पतिं) पति की (इच्छस्व) कामना कर। (वृषभाय) किसी दूसरे समर्थके प्रति (बाहुं उपबर्बृहि) अपनी भुजा फैला।

यम शान्ति से अपने प्रनपर दृढ़ है।

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्नि-
र्ऋतिर्निगच्छात्। काममूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा
मे तन्वं१ सं पिपृग्धि ॥ ऋ. १०।१०।११॥

(किं भ्राता असत्) वह तुच्छ पति होता है (यत्) जिसकी विद्यमानता में पत्नी (अनाथा भवाति) अनाथ हो जाए । (स्वसा किमु) वह गर्भाधान की अभिलाषिणी ही क्या हुई, जो (निर्ऋति निगच्छात्) इच्छाविघातरूप दुःख को सहे । (काममूता एतत् बहु रपामि) कामसे बन्धी मैं यह बहुत बातें कह रही हूं कि (मे तन्वा तन्वं संपिपृग्धि) मेरे शरीर से अपना शरीर संयुक्त कर ।

यमी यमके हृदय को हिलाना चाहती है ।

न वा उ ते तन्वा तन्वं१ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः
स्वसारं निगच्छात्। अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व
न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ ऋ. १०।१०।१२॥

(ते तन्वा तन्वं उ न वै संपपृच्याम्) तेरे शरीर के साथ अपने शरीर को किसी प्रकार भी संयुक्त नहीं कर सकता । उसे (पापं) पापी (आहुः) कहते हैं (यः) जो संयमकी प्रतिज्ञा करके भी (स्वसारं निगच्छात्) संगमाभिलाषिणी से संगम करे । (मत् अन्येन) मुझ से भिन्न किसी अन्यके साथ (प्रमुदः कल्पयस्व) श्रेष्ठ भोग प्राप्त करो । हे (सुभगे) सौभाग्यवति ! (ते भ्राता एतत् न वष्टि) तेरा पति यह नहीं चाहता ।

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबु-
जेव वृक्षम् ॥ ऋ. १०।१०।१३॥

(बत) हा शोक ! हे (यम) यम तू (बत असि) बलहीन है (ते मनः च हृदयं नैव अविदाम) तेरे दिलदिमाग को हम न जान पाए । यमी अब यमपर आक्षेप करती हुई कहती है—(अन्या किल त्वा परिष्वजाते) कोई दूसरी तुझ से आलिंगन करेगी (इव) जैसे (कक्ष्या) पेटी (युक्तं) घोड़का, अथवा (इव) जैसे (लिबुजा वृक्षम्) लता वृक्षका आलिंगन करती है ।

यहां यमीने मर्मस्थल पर प्रहार किया है किन्तु यम अविचल रहता है और कहता है

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव
वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणु-

ष्व संविदं सुभद्राम् ॥ ऋ. १०।१०।१४।

हे (यमि) यमि! (अन्यं उ त्वं सु) किसी दूसरे को तू अच्छी प्रकार आलिंगन कर। और (अन्यः उ त्वां पारिष्वजाते) कोई दूसरा ही तुझे आलिंगन करे (इव) जैसे (लिबुजा वृक्षं) लता वृक्षको करती है। (त्वं तस्य मन इच्छ) तू उसके मनकी इच्छा कर। (वा वा) और (स तव) वह तेरे मन की। (अध) और (सुभद्रां संविदं कृणुष्व) कल्याणमय भोग को कर। अर्थात् सन्मान लाभकर ॥

विधवाविवाह

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ ऋ. १८।३।१॥

हे (मर्त्य) मनुष्य! (इयं नारी) यह स्त्री (पतिलोकं वृणाना) पतिलोक अर्थात् वैवाहिक अवस्थाको स्वीकार करनेकी इच्छा करनेवाली, (पुराणं धर्मं अनुपालयंती) प्राचीन सनातन धर्मका पालन करती हुई (प्र-इत त्वा उप निपद्यते) प्राप्त हुए तेरे पास आती है, (अस्यै) इसके लिये (प्रजां द्रविणं च) संतान और धन (धेहि) दे।

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ऋ. १८।३।२॥

हे (नारि) स्त्री! तू (एतं गतासु) इस गतप्राण पतिके पास (उप शेषे) पड़ी है, वहांसे (जीवलोकं अभि उदीर्ष्व) जीवित मनुष्योंके स्थानमें उठकर आ, (एहि) यहां आ। (तव) तेरे (हस्त-ग्राभस्य दिधिषोः) पाणि ग्रहण करनेवाले (पत्युः) पतिके साथ (इदं जनित्वं) इतनाही पत्नीत्व (अभिसंबभूथ) उत्पन्न हुआ था।

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्। अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ ऋ. १८।३।३॥

(मृतेभ्य) मरे हुए पतियोंसे (नीयमाना) दूर ली गई (जीवां युवतिं) जीवित तरुणी स्त्रीका (परिणीयमाना) विवाह किया हुआ (अपश्यं) देखा है (यत्) जो (अन्धेन तमसा) गाढ अंधेरे के शोकसे (प्रावृता आसीत्) आच्छा-

दित थी, (एनां) उस (अपाचीं) अलग पड़ी हुई स्त्रीको (प्राक्) प्रगतिशील मैं (अनयम्) लाया हूं ।

विधवा तरुण स्त्रीका पुनर्विवाह होता है। विधवा अवस्थामें जो स्त्री शोकाकुल थी, उसीको उठाकर विवाहित कर देनेसे उसका शोक दूर हो सकता है।

प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंच-
रन्ती। अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोक-
मधि रोहयैनम् ॥ अ. १८।३।४॥

हे (अघ्न्ये) घातपात न करनेवाली स्त्री ! (जीवलोकं प्रजानती) जीवित मनुष्योंकी अवस्थाको जाननेवाली और (देवाना पन्थां) देवोंके मार्गका (अनु-संचरन्ती) अनुसरण करनेवाली तू हो। (अयं) यह (ते गोपतिः) तेरी इंद्रियोंका पति=रक्षक है, (तं जुषस्व) उसकी सेवा कर, और (एनं) इसको (स्वर्गं लोकं) सुखमय लोकमें (अधि रोहय) प्राप्त कराओ।

अतिथि-सत्कार ।

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽ-
तिथेरश्नाति ॥ १ ॥ पयश्च वा एष रसं च० ॥ २ ॥
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च० ॥ ३ ॥ प्रजां च वा
एष पशूंश्च० ॥४॥ कीर्तिं च वा एष यशश्च० ॥ ५ ॥
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः
पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥ एष वा अतिथिर्यच्छ्रो-
त्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥ अशिताव-
त्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्यावि-
च्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥ अ. ९।६।३॥

(य) जो (अतिथ पूर्वं) अतिथिसे पहिले (अश्नाति) खाता है वह (गृहाणां) घरोंका (इष्टं) इष्ट सुख (पूर्तं) पूर्णता, (पय) दूध, (रसं) रस, (ऊर्जा) पराक्रम (स्फातिं) वृद्धि, प्रजा पशु, कीर्ति, यश, श्री (संविदं) ज्ञान (अश्नाति) खाता है। (यत् श्रोत्रिय) जो वेदज्ञानी है (एष वै अतिथि) वहीअतिथि है। (तस्मात्) इसलिये उससे (पूर्वं न अश्नीयात्) पहिले भोजन नहीं करना

चाहिये। (अशितौ अतिथौ) अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् (अश्नीयात्) भोजन करे। (यज्ञस्य) यज्ञके (सात्मत्वाय) जीवनके लिये, यज्ञके (अविच्छेदाय) निरंतर चलनेके लिये। (तत् व्रतं) यही नियम है।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं
व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य
यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथा-
स्त्विति ॥ अ. १५।११।१।२॥

(यस्य) जिसके (गृहान्) घरमें (एवं विद्वान्) इस प्रकारका ज्ञानी (व्रात्य) व्रतशील विद्वान् अतिथि घरमें (आगच्छेत्) आजाये, (स्वयं) स्वयं (एनं अभ्युदेत्य) उठकर उसे (इति ब्रूयात्) यह कहे कि (व्रात्य) हे व्रतशील विद्वान्! (क अवात्सी) तू कहां था? (उदक) यह जल है, (तर्पयन्तु) तुझे तृप्त करें, (यथा ते प्रियं, तथा अस्तु) जो तुझे अभीष्ट हो, वह हो जाएगा। (यथा ते वशः तथा अस्तु) जो तुझे चाहिये वही होगा, (यथा ते) जो तेरी (निकाम.) इच्छा है, (तथा अस्तु) वैसा ही करेंगे।

इस प्रकार अतिथिसत्कार करना चाहिये।

❀ ब्राह्मण ❀

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १ ॥
ऋ. ७।१०३।१॥

(सं-वत्सरं शशयाना) वर्षकी अवधितक समाधिकी शान्त वृत्ति में रहते हुए (व्रत-चारिणः) नियमों के अनुसार आचरण करने वाले तथा (मण्डूका-मण्डंति भूषयंति विभाजयंति वा मण्डूका) मंडन और खंडन करनेवाले (ब्राह्मणाः) विद्वान् लोक (पर्-जन्य जिन्वितां वाचं) पूर्तिकारक प्रेरणा से वाणीको (प्र अवादिषुः) विशेष प्रकार बोलते हैं।

'मंडूक' मंडन, इत्यादि शब्द 'मंड्' धातुसे बने हैं, जिसका अर्थ 'भूषित करना, शोभायुक्त बनाना, मंडन करना' ऐसा होता है। 'मंड्' धातु का दूसरा अर्थ 'विभाजन' अर्थात् 'भेदन, छेदन, खंडन करना, है। अर्थात् 'सत्यका मंडन

और असत्यका खंडन करने का भाव 'मंडूक' में है। जो 'धर्मका मंडन और अधर्मका खंडन करता है' उसकी पदवी मंडूक होती है।

'पर्जन्य' शब्द का अर्थ 'पूर्ति-जन्य' पूर्तिजनक, पूर्णत्वका उत्पादक है। पूर्णता करनेका गुण विद्वानों की प्रभावयुक्त वाणी में ही हुआ करता है। पर-जन्य-जिन्वितां वाचं' का अर्थ 'पूर्णता उत्पन्न करने की इच्छा से कही हुई वाणी अथवा वक्तृता' ऐसा है। यह ब्राह्मणोंका काम है, कि वे अपनी वक्तृता से राष्ट्र में ज्ञान के विषय में पूर्णता उत्पन्न करें और किसी स्थान पर न्यूनता न रखें।

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्स-रीणम्। अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित् ॥ ऋ. ७।१०३।८॥

(सोमिन) सौम्य शांत (अ—ध्वर्यव) अहिंसायुक्त कर्म करनेवाले, (सिष्विदाना घर्मिण) तपने वाले, तपस्वी (ब्राह्मणासः) विद्वान् लोग (ब्रह्म परिवत्सरीणं कृण्वन्तः) वेदको समग्र संसारमें फैलानेवाले, (गुह्या न केचित्) किसी प्रकार गुप्तता न रखते हुए (आविर्भवन्ति) बाहर आते हैं और (वाचं अक्रत) वक्तृता करते हैं। अर्थात् विश्वम्भर में वेदप्रचार के अभिलाषी विद्वान् शान्त अहिंसाशील तपस्वी ब्राह्मण बाहर आकर उपदेश करते हैं, पक्षपातको छोड़कर, अन्दर कुछ बाहर कुछ इस प्रकार न करते हुए, ठीक सत्यका मंडन असत्य का खडन करते हैं।

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सु-धातु-दक्षिणम्। अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ य. ७।४६॥

(अद्य ब्राह्मणं विदेयं) हम सब आज विद्वान्‌को प्राप्त करें, जो विद्वान् १ (पितृमन्तं) पितृमान् अर्थात् उत्तम पिता से उत्पन्न हुआ हो, २ (पैतृमत्यं) जिनका पितामह अच्छा हो, ३. (आर्षेयं) ऋषियों का सब ज्ञान जिसने पढ़ा हो, तथा ४ (ऋषिं) जो स्वय दिव्य दृष्टिसे युक्त हो और ५. (सु-धातु-दक्षिणं) उत्तम वीर्य धारण करने में दक्ष हो, अर्थात् इन्द्रियनिग्रही ऊर्ध्वरेता हो (अस्मत्-द्राता) हम से प्रगति को प्राप्त होकर (देव-त्रा) विद्वानोंमें जो (प्र-दातारं) विशेष दानशील हो, उनके पास (गच्छत) जाओ और उसमें (आविशत) प्रविष्ट होकर रहो।

शस्त्रधारी ब्राह्मण।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शर-
व्यां ३ न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोत
दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ अ. ५।१८।९॥

(तीक्ष्ण-इषव) जिनके बाण तीखे हैं, और जो (हेति-मन्तः) हथियार धारण करते हैं, ऐसे (ब्राह्मणा) ब्राह्मण (यां शरव्यां) जिन शस्त्रों को (अस्यन्ति) फेंकते है, (सा न मृषा) वे शस्त्र व्यर्थ नहीं होते। वे (मन्युना) तेजस्वी बलके साथ (तपसा) तपके अर्थात् कष्ट सहन करके (अनुहाय) शत्रुका पीछा करके (उत) निश्चय से (एन) इस शत्रुको (दूरात् अव भिन्दन्ति) दूरसे हि भेदन करते है।

क्षत्रिय लोगों के उन्मत्त होनेकी अवस्था में ब्राह्मण लोग शस्त्रधारण करके राष्ट्रका संरक्षण करें। ब्राह्मणके पास ज्ञान की विशेषता होनेसे उनके शस्त्र अधिक कार्य करने में समर्थ होंगे, इसमें कोई शंका नहीं है। इसमें कहे हुए शस्त्रास्त्र विशेषकर ब्राह्म युद्धके हैं, क्षात्रयुद्ध के नहीं।

पुरोहित

अ. ३।१९॥

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं १ बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥

(मे इदं ब्रह्म) मेरा यह ज्ञान (संशित) अत्यन्त सूक्ष्म और तीक्ष्ण हो, मेरा (वीर्य) वीर्य और (बलं) बल (संशित) प्रभावशाली हो, उनका (संशितं क्षत्रं) प्रभाव युक्त क्षात्रतेज (अजर अस्तु) न दबने वाला=विशेष होवे, (येषां) जिनका मै (जिष्णु पुर.हित) विजयी पुरोहित=मुखिया-अग्रसर-अगुआ (अस्मि) हूं।

राष्ट्र का मुख्य, समाजका नेता, जातिका अग्रसर जो होता है, उसको उचित है, कि वह प्रयत्न करके अपने में तथा अपन समाज, जाति या राष्ट्रमें ज्ञान, शौर्य, वीर्य, बल, प्रभाव, पुरुषार्थ आदि की पराकाष्ठा तक वृद्धि करे। और किसीको पीछे न रखे।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं १ बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

(एषां राष्ट्रं) इनका राष्ट्र (अहं संस्यामि) मैं तैयार करता हूं। इन

का (ओज वीर्यं बलं) ओज वीर्य और बल मैं (सं) उत्तम प्रकार से सिद्ध करता हूं। (अनेन हविषा) इस आदानसे मैं (शत्रूणां बाहून्) शत्रुओं के बाहुओं को (वृश्चामि) छेदन करता हूं।

राष्ट्र के नेताको चाहिये कि वह राष्ट्र के सब लोगोंके अन्दर राष्ट्रीय भावना, ओज, वीर्य, बल, तेज, शौर्य, उत्साह आदि गुण बढ़ावे। और लोगों को सदा तैयार रखे, ताकि जिस किसी समय शत्रुका हमला होनेका संभव हो, उसी समय अपना बचाव करने के लिये सब राष्ट्र सिद्ध रहे।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं

पृतन्यान्। क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥३॥

वे सब शत्रु (नीचैः पद्यन्तां) नीचे गिरें और (अधरे भवन्तु) अधोभाग में रहें, (ये) जो शत्रु (नः मघवानं सूरिं) हमारे महान् ज्ञानीपर (पृतन्यान्) सैन्यसे चढ़ाई करते हैं। (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ज्ञान से (अमित्रान्) (क्षिणामि) शत्रुओंका नाश करता हूं और (स्वान् उन्नयामि) अपने लोगोंको उन्नत करता हूं।

जो ज्ञानी पुरुषों को कष्ट दें, उन शत्रुओं को नीचे दबाना चाहिये। ज्ञान से ही शत्रुका पराजय होता है, इस लिये शत्रुको पराजय करने वालोंको उचित है, कि वे अपनी प्रगति ज्ञानक्षेत्र में अधिक करें और अपनी उन्नति करें। शत्रुको परास्त करना और अपने स्वजनोंकी उन्नति करना चाहिये।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

(परशोः) कुल्हाडी से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण, (अग्नेः तीक्ष्णतराः) अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण, (इन्द्रस्य वज्रात्) इन्द्र के वज्रसे भी (तीक्ष्णीयांसः) तीक्ष्ण उनके शस्त्र हों, (येषां) जिनका मैं (पुरः हितः अस्मि) अग्रगामी हूं।

नेताको उचित है कि वह अपने अनुयायियों के शस्त्रास्त्र उत्तम तीक्ष्ण रखे।

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥५॥

(अहं) मैं (एषां आयुधा) इनके शस्त्रास्त्र (संस्यामि) तीक्ष्ण करता हूं। (एषां राष्ट्रं) इनका राष्ट्र (सुवीरं) उत्तमवीरोंसे युक्त करके (वर्धयामि) बढाता हूं। (एषां क्षत्रं) इनका शौर्य (अ-जरं अस्तु) अन्यून हो। (एषां जिष्णु चित्तं) इन के विजयी चित्त को (विश्वे देवाः) सब देव (अवन्तु) रक्षण करें ॥

नेता अपने सब वीरों के शस्त्रास्त्र तैयार रखे। अपने राष्ट्रमें वीरों की

संख्या तथा उनके शौर्यका प्रमाण बढाकर, उनके चित्त में सदा उत्साह रहे। ऐसी सुशिक्षा उन्हें दें, जिससे राष्ट्र के लोग सदा विजयी होते रहें।

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु
घोषः। पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

हे (मघवन्) प्रभो! (वाजिनानि) सैन्य (उद्धर्षन्तां) आनन्दसे युक्त रहें, (जयतां वीराणां घोषः) विजयी वीरोंका घोष (उद् एतु) ऊंचा उठे। (उलुलयः घोषाः) सेनासमूहों के शब्द (केतुमन्तः) झंडों के समेत (उदीरतां) ऊपर उठें। (इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्रको मुख्य माननेवाले (मरुतः देवाः) मरुत् देव (सेनया यन्तु) सेनाके साथ चलें ॥

मुख्य वीर इन्द्र होता है और मरने के लिये तैयार हुए सैनिक मरुत् (मर उत्) कहलाते हैं ॥

युद्धके समय सैन्यमें शौर्य और उत्साह रहे। उत्साहका शब्द चारों ओर होता रहे, अपने अपने झंडोंके समेत सब सेना तैयार हो जाय। सेनापतिके साथ सब सेना हमला करनेके उद्देश्यसे चले।

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः। तीक्ष्णे-
षवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

हे (नरः) नेता लोगो! (प्र इत) धावा करो, (जयत) जीतो, (वः बाहवः) तुम्हारे बाहु (उग्राः) प्रचंड (सन्तु) होवें। हे (तीक्ष्णेषवः उग्रायुधाः) तीक्ष्ण बाणों और तीक्ष्ण शस्त्रवाले वीरो! हे (उग्र-बाहवः) उग्र बाहुवाले वीरो! शत्रुओंको (अबलधन्वनः) निर्बल धनुष्यवाले तथा (अबलान्) अशक्त करके (हत) मारो।

नेता लोग आगे बढें और जय प्राप्त करें। सदा यह ध्यान रखें कि अपने शस्त्रास्त्र शत्रुके शस्त्रास्त्रकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हों, जिससे निःसंदेह विजय प्राप्त हो।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। जयामित्रान्प्र
पद्यस्व जह्येषां वरं वरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

हे (ब्रह्म-संशिते शरव्ये) ज्ञानसे तीक्ष्ण शर! (अवसृष्टा परापत) छोडा हुआ तू शत्रुपर जाकर गिर। (अमित्रान् जय) शत्रुओंको जीत (प्रपद्यस्व) आगे बढ (एषां वरं वरं) शत्रुके बडे बडे वीरको (जहि) मार डाल, (अमीषां कश्चन) इनमेंसे कोईभी (मा मोचि) न छूटे।

शस्त्र शत्रुके वीरों पर नियमसे गिरने चाहियें। शत्रुसैन्यमें जो मुख्य मुख्य वीर हों, उनको चुन चुन कर मारना चाहिये, जिससे शत्रुके पास

योजक सेनापति कोईभी न रहे। क्यों कि ज्ञानपूर्वक योजना होनेसे ही जय मिलता है।

क्षत्रिय

अ. ४।२२॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रंधयास्मा अहमुत्तरेषु॥१॥

हे (इन्द्र) प्रभो! (इम क्षत्रिय) इस क्षत्रियको (वर्धय) बढा। (त्वं) तू (इमं) इसको (मे विशां एकवृषं) मेरी प्रजाओंमें अद्वितीय बलिष्ठ (कृणु) कर। (अस्य अमित्रान्) इसके शत्रुओंको (निरक्ष्णुहि) निर्बल कर दे। (अहमुत्तरेषु) स्पर्धाके अंदर (तान् सर्वान्) उन सब शत्रुओंका (रंधय) नाश कर।

राष्ट्रमें क्षत्रियोंकी शक्ति बढानी चाहिये। राष्ट्र अद्वितीय क्षात्र बलसे युक्त करना चाहिये। जिससे स्पर्धाके समय सब अन्य शत्रु परास्त हो जांय।

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रंधय सर्वमस्मै॥२॥

(इम) इसका (ग्रामे) ग्राममें (अश्वेषु गोषु) घोडों और गौवोंमें (भज) सेवन कर। (यः) जो (अस्य) इसका (अमित्र) शत्रु है (तं) उसको (निर्भज) अलग कर। (अयं राजा) यह राजा (क्षत्राणां वर्ष्म) क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ है। हे (इन्द्र) प्रभो! (अस्मै) इसके (सर्वं शत्रुं) सब शत्रुको (रंधय) नष्ट कर।

राजाको अपने पास उत्तम घोडे और उत्तम गौवें रखनी चाहियें। स्वयं उत्तम क्षात्र बलसे युक्त होकर संपूर्ण शत्रुओंको पादाक्रांत करना चाहिये।

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निंद्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥३॥

(अयं) यह (धनानां धनपति) धनोंका धनपति (अस्तु) होवे। यह (विशां) प्रजाओंका (विश्‌पति) योग्य पालन करनेके कारण (राजा) राजा होवे। हे (इन्द्र) प्रभो! (अस्मिन्) इसमें (महि वर्चांसि) बडे तेज (धेहि) धारण कर (अस्य शत्रु) इसके शत्रुको (अ-वर्चसं कृणुहि) निस्तेज कर।

राजा धनका योग्य उपयोग करे। तथा प्रजाओंका उत्तम प्रकारसे पालन करे। राजा अत्यंत तेजस्वी होवे. और वह शत्रुओंको निस्तेज बना देवे।

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥

(ते) तेरा (उत्तरावंतं इन्द्रं) उत्कृतर प्रभुके साथ (युनज्मि) संयोग करता हूं। (येन जयन्ति) जिससे जय पाते हैं और (न पराजयन्ते) कभी परा जित नहीं होते। (यः) जो (त्वा) तुझको (जनानां एकवृषं) मनुष्योंमें श्रेष्ठ बलवान् (करत्) करे तथा (मानवानां) मानवोंमें और सब (राज्ञां) राजाओंमें (उत्तमं) उत्तम करे।

राजाको प्रभुकी भक्ति करनी चाहिये। इससे उसका जय होगा और कभी पराजय नहीं होगा। राजाको उचित है कि वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजाओंमें बलिष्ठ और अद्वितीय प्रभावशाली बननेका यत्न करे।

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रति-
शत्रवस्ते । एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा
भरा भोजनानि ॥ अ. ४।२२।६॥

हे राजन् (त्वं उत्तर) तू अधिक श्रेष्ठ हो, तेरे (सपत्ना) शत्रु जो (प्रति शत्रवः) विरोधी हैं, वे सब (अधरे) नीचे हों। तू (एकवृष) अद्वितीय बलवान् (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) विजयी होकर (शत्रूयतां) शत्रुके समान व्यवहार करनेवालोंके (भोजनानि आभर) भोगोंको लाकर रख दे।

राजाको उचित है कि वह सब बातोंमें अधिक प्रवीण बने। शत्रुओंको सदा दबाकर नीचे रखे। अद्वितीय प्रभावशाली परमेश्वरका भक्त विजय प्राप्त करनेवाला होकर शत्रुओंके सब भोग अपने पास लाकर रखे।

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ अ. १।१६।५॥

(ये) जो (शुभ्रा) गौरवर्ण, (घोर-वर्पस) बडे शरीरवाले, (सुक्षत्रासः) उत्तम क्षत्रिय, (रिशादसः) शत्रुका संहार करनेवाले होते हैं, उन (*मर-उद्भिः*) *मरनेके लिए तैयार वीरोंके साथ* (*अग्ने*) *हे तेजस्वी वीर !* (आगहि) यहां आ

अपने राष्ट्र में ऐसे तेजस्वी वीर होने चाहिये, कि जो बडे शरीरवाले, उत्तम क्षत्रिय, तेजःपुंज कान्तिसे युक्त, और शत्रुका नाश करनेवाले होते हैं। हरएक के मनमें यही इच्छा रहनी चाहिये।

वीर-प्रशंसा।

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभ-
ध्वम्। ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म
प्रमृणन्तमोजसा॥ ऋ. ६।९७।३॥

हे (सखाय) मित्रो! (इमं वीरं) इस वीरकी (अनु हर्षध्वं) अनुकूलता से हर्ष करो। यह (ग्राम-जितं) समूहों को जीतनेवाला, (गो-जितं) भूमिको जीतनेवाला, (वज्र बाहुं) बलवान्, (अज्म जयन्तं) युद्ध में विजयी (ओजसा प्रमृणन्तं) वेग से शत्रुका पराजय करनेवाला है, इस (उग्रं इन्द्रं) तेजस्वी शूर वीरके साथ (अनु संरभध्व) अनुकूल रहकर अपनी उन्नति के कार्य प्रारम्भ करो।

शूरको उचित है, कि वह अपने अन्दर उग्रता, तेजस्विता, युद्धकौशल, वेग से शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य, शारिक और मानसिक बल तथा विजयी उत्साह बढावे और सर्वत्र विजयी होवे।

शर्धंशर्धं व एषां व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिः।
अनु क्रामेम धीतिभिः॥ ऋ. ५।५३।११॥

हे वीरो! (एषां व.) आपका (शर्धं शर्धं) प्रत्येक बल (व्रातं व्रातं) प्रत्येक समूह और (गणं गणं) प्रत्येक समाज अथवा जत्था है, उसका (सुशस्तिभिः धीतिभि) उत्तम प्रशंसनीय बुद्धियों के द्वारा (अनु क्रामेम) हम अनुसरण करें।

बड़े वीर तथा सत्पुरुषोंके जो बल, और सामाजिक कार्य होते हैं, तथा उन में जो सामाजिक शक्ति वसती है, उस का अनुकरण हरएक को करना चाहिये। वीरोंके कारण राष्ट्रमें "व्रात" अर्थात् समूहका बल बढना चाहिये।

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो
रथे शुभः। अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः
शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥ ऋ. ५।५४।११॥

हे (मरुत =मर्-उतः) मरनेके लिये उद्यत वीरो! (व अंसेषु ऋष्टयः) आपके कन्धों पर शस्त्र हैं, (पत्सु खादयः) पावोंमें कडे आदि हैं, (वक्षःसु रुक्माः) छाती पर कण्ठे आदि है, (गभस्त्योः) हाथोंमें (अग्नि-भ्राजसः विद्युत.) चमकनेवाले बिजलीके अस्त्र हैं, (शीर्षसु) सिरमें (हिरण्ययी शिप्राः) सुवर्णमयी पगडी (वितताः) फैली हैं।

इस प्रकार शस्त्रास्त्र से युक्त होकर वीर आगे बढ़ते हैं।

लोगोंके मनोंका वशीकरण ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्ते-
भिरेत । मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम
यातमनु वर्त्मान एत ॥ १२ ॥ अ. ३।८।६॥

(अहं) मैं (मनसा) अपने मनसे (मनांसि) आपके मनोंको (गृभ्णामि) लेता हूं। आप (मम चित्तं) मेरे चित्तके (अनु) अनुकूल अपने (चित्तेभिः एत) चित्तोंसे हो आओ। (वः हृदयानि) आपके हृदयोंको (मम वशेषु) अपने वशमें करता हूं। (मम यातं) मेरे चाल चलनके (अनुवर्त्मान) अनुकूल चलनेवाले होकर (आ इत) आओ।

नेता वीर अपने शुभ मनसे अन्योंके मनोंका आकर्षण करें। लोगोंके चित्तोंको अपने चित्तके साथ मिला देवें। सबको अपने हृदयके उच्च उच्च भावोंसे वश करें। और अपने चालचलनके अनुकूल सबको चलावें।

वीरोंका कर्तव्य ।

अधा नो विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम ।
धनानि सुषणा कृधि ॥ ऋ. १।४२।६॥

हे (विश्व सौभग) सर्व मंगलमय (हिरण्य-वाशी-मत्-तम) सुवर्ण मुष्टिवाली तलवार बरतनेवाले वीर! (अधुना) अब (न) हमारे लिये (धनानि) धनों को (सु-सना) सुगमतासे मिलने योग्य (कृधि) कर।

वीरोंको उचित है, कि वे अपने राष्ट्रमें संपूर्ण जनोंके लिए धन की सुगमतासे योग्य व्यवस्था करें।

अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु ।
पूषन्निह क्रतुं विदः ॥ ऋ. १।४२।७॥

हे (पूषन्) पोषक वीर! (सश्चत) आक्रमण करने वाले शत्रुओं का (अति) उल्लंघन करके (नः नय) हमें परे ले जाओ। हमारे (सुपथा सुगा) उत्तम जाने योग्य मार्ग को सुगम (कृणु) कर, (इह) यहां (क्रतुं) कर्म और सद्बुद्धि को (विदः) जान ले।

वीर मनुष्यको उचित है, कि वह अपने पक्षके लोगोंको शत्रुसे बचावे, उनका मार्ग भी सुकर कर और सब प्रकारके कर्म उत्तम बुद्धिके साथ करके जनता का सुख बढावे।

शग्धि पूर्धि प्र यंसि च शिशीहि प्रास्युदरम् ।
पूषन्निह क्रतुं विदः ॥ ऋ. १।४२।९॥

हे (पूषन्) पोषक वीर! (इह क्रतुं विद) यहां बुद्धि और कर्म का ज्ञान रख और (शग्धि) समर्थ हो, (पूर्धि) पूर्ण कर, (प्र-यंसि) दान दो, (शिशीहि) तीक्ष्ण कर, (उदरं प्रासि) और पेट भर दो।

वीरों को उचित है, कि वे अपने राज्य में उन्नति के मार्गों को जानकर उनको सिद्ध करनेका यत्न करें, जिससे वे देशकी उन्नति करनेके कार्यमें समर्थ हों। राज्यमें सब लोग सब प्रकारकी परिपूर्णता करें सत्पात्रमें दान दें, अपने अपने शस्त्रास्त्र तीक्ष्ण करें, और ऐसी व्यवस्था करें, कि सबके पेट भरने की व्यवस्था हो जाय, और कोई मनुष्य खाली पेट न रहे।

वाशीमन्तः ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान
इषुमन्तो निषङ्गिणः। स्वश्वाः स्थ सुरथाः
पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥ ऋ. ५।५७।२॥

हे (मरुतः) वीरो! (वाशीमन्त) परशु धारण करनेवाले; (निषंगिणः) तलवार धारण करनेवाले, (स्वश्वाः) उत्तम घोड़ोंपर सवार होनेवाले, (सुरथा) उत्तम रथोंसे युक्त. (पृश्नि-मातर) भूमिको माता माननेवाले, (स्वायुधा) उत्तम आयुधों को चलानेवाले, (स्थ) आप हैं, अब (शुभं याथन) शुभ परिणाम तक पहुंच जाओ।

वीर उत्तम शस्त्रास्त्रोंसे युक्त होकर उत्तम विजय प्राप्त करें। अपनी मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये अपनी संपूर्ण शक्तियोंको अर्पण करें। मातृभूमि की सेवा करना वीरोंका मुख्य कर्तव्य है।

परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः।
अग्नितपो यथासथ॥ ऋ. ५।६१।४॥

हे (वीरास) वीरो! आप (भद्र-जानय) कल्याण के लिये ही जन्म धारण करनेवाले, (मर्यास) मर्त्य वीर (अग्नि-तप) अग्नि के समान तेजस्वी (यथा असथ) जैसे दिखाई देते, वैसे (परा एतन) चढ़ाई करो।

हरएक मनुष्यके लिये चाहिये; कि वह 'अपना जन्म कल्याणमय पुरुषार्थ करने के लिये ही है' ऐसा सिद्ध कर, तेजस्वी बने और मरने के लिये उद्यत होकर शत्रुपर चढाई करे।

नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः। नृभिः
सुवीर उच्यसे॥ ऋ. ६।४५।६॥

तू (द्विषः) शत्रुओंको (इत् उ अति नयासि) निश्चयसे हमसे दूर ले जाता है और सबको (उक्थ-शंसिन कृणोषि) प्रशंसा करनेवाले बनाता है, इस लिये (नृभि) सब मनुष्य तुझे (सुवीरः) उत्तम वीर (उच्यसे) कहते हैं।

उत्तम वीर वह है, कि जो शत्रुओंको दूर भगाता है और सबकी प्रशंसा

अपनी ओर खींचना है। सब को उचित है, कि वे उत्तम वीरों की ही प्रशंसा करें भीरु जनों की प्रशंसा कदापि न करें।

वीरता।

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं
पुषेम। मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण
पृतना जयेम ॥ ऋ. ५।३।१॥

हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर! (विहवेषु) युद्धोंमें (मम वर्च अस्तु) मेरा तेज होवे। (वयं) हम (त्वा इंधाना) तुझे प्रकाशित करते हुए (तन्वं पुषेम) शरीरका पोषण करें, (चतस्रः प्रदिश) चारों दिशाएं (मह्यं) मेरे सामने (नमन्तां) नम्र हों, (त्वया अध्यक्षेण) तुझ अध्यक्षके साथ (पृतना जयेम) युद्धोंमें जय प्राप्त करेंगे।

हरएक वीरको उचित है, कि वह परमेश्वरकी भक्ति करे और अपने तेज का विस्तार करे। ऐसा पराक्रम करे कि, जिससे चारों दिशाएं इस के सामने झुक जांय और इसीका सर्वत्र विजय होता रहे।

वीर पुरुष।

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षःसु रुक्मा रभ-
सासो अञ्जयः। अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि
वयो न पक्षान्व्यनु श्रियो धिरे। ऋ. १।१६६।१०॥

(नर्येषु बाहुषु) मनुष्योंका हित करनेवाले बाहुओंमें (भूरीणि भद्रा) बहुत कल्याणकारी धन है, (वक्ष सु) छातीके ऊपर (रुक्मा. रभसास अञ्जय) तेजस्वी चंचल आभूषण हैं। (अंसेसु) कंधोंपर (एताः) ये मालाएं हैं (पविषु क्षुरा) आयुधोंमें तेज़धारा है। (वय पक्षान् न) पक्षी जैसे पंखोंको धारण करते हैं, उस प्रकार (श्रिय) उक्त शोभायुक्त भूषण (अनु वि धिरे) धारण किये हैं।

शूर वीरोंके बाहुओंपर विविध रत्न लटकते हैं, छातीपर कंठे हैं, कन्धों पर मालाएं हैं, शस्त्रोंको तीक्ष्ण धारा है। इस प्रकार वीर पुरुष शोभते हैं।

प्रत्वक्षसः प्रतवसो विरप्शिनोऽनानता अविथुरा
ऋजीषिणः। जुष्टतमासो नृतमासो अंजिभि-
र्व्यानज्रे केचिदुस्रा इव स्तृभिः॥ ऋ. १।८७।१॥

(प्र-त्वक्षस) बलवान्, (प्रतवस.) प्रभावशाली, (विरप्शिन) जयघोष

करनेवाले, (अनानता:) जो किसीके सामने नम्र नहीं होते, (अविथुरा:) रक्षक संघकी धुरामें रहनेवाले, (ऋजीषिण:) शुद्धता करनेवाले, (जुष्टतमास:) सेवा करने योग्य, (नृतमास:) बहुत मनुष्य पास रखनेवाले, (स्तृभि: अंजिभि) उत्तम आभूषणों से (व्यानज्रे) चमकते हैं, जैसे (उस्रा) सूर्यकिरणों या नक्षत्रों से आकाश शोभता है।

श्रेष्ठ वीरोंके ये लक्षण हैं।

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा

अरेपसः। पावकासः शुचयः सूर्या इव सत्वानो

न द्रप्सिनो घोरवर्पसः॥ ऋ. १।६४।२॥

(ते) वे (ऋष्वास) दर्शनीय (उक्षण) बलवान् (रुद्रस्य मर्या) रुद्र के मनुष्य, वीरनायक वीर, (असु-रा) जीवन देनेवाले, (अ-रेपस) निष्पाप), (पावकास) शुद्धता करनेवाले (सूर्या इव) सूर्यके समान (शुचय) शुद्ध (सत्वान: न) सत्ववान् बलवान्-वीरों के समान(घोर-वर्पस) बडे शरीरों से युक्त (द्रप्सिन:) पसीनेके बूंदोंसे युक्त हैं।

वीरोंके गुण ये हैं। वीर, दर्शनीय, बलिष्ठ, अपना जीवन अर्पण करने वाले, निष्पाप, शुद्ध, पवित्र, सत्वशील, सुदृढ शरीरोंसे युक्त होते हैं।

चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधि

येतिरे शुभे। अंसेष्वेषां नि मिमृक्षुर्ऋष्टयः साकं

जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः॥ ऋ. १।६४।४॥

(वपुषे) शरीरको (चित्रै अंजिभि) विचित्र आभूषणोंसे (व्यंजते) सुशोभित करते हैं। (वक्ष:सु) छातीपर (शुभे) शोभा के लिये (रुक्मान्) भूषणों को (अधियेतिरे) लगाते हैं। (एषा) इनके (अंसेषु) कंधोंपर (ऋष्टय) आयुध (निमिमृक्षु) लटक रहे हैं। ये वीर (दिव नर:) दिव्य मनुष्य है, जो (स्वधया साकं) अपनी धारणाशक्तिके साथ (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए हैं।

ये दिव्य वीर शरीरपर आभूषण, छातीपर कंठ और कंधोंपर शस्त्र धारण करके अपनी निजशक्ति से यशस्वी होते हैं। ये दूसरोंकी शक्तिकी अपेक्षा नहीं करते हैं। क्यों कि ये अपनी ही शक्ति पर निर्भर रहते हैं। अर्थात् विजय प्राप्त करनेयोग्य प्रबल शक्ति इनके पास रहती है।

विश्ववेदसो रयिभिः समोकसः संमिश्लास-

स्तविषीभिर्विरप्शिनः। अस्तार इषुं दधिरे

गभस्त्योरनन्तशुष्मा वृषखादयो नरः॥ ऋ. १।६४।१०॥

(नरः) नेता (विश्ववेदसः) ज्ञानी (समोकस) एकही घरमें रहनेवाले, (रयिभिः तविषीभि) धन और शक्तिसे (संमिश्लासः) युक्त (विरप्शिन.) बडे महान् वीर (अस्तारः) शत्रुको भगानेवाले (गभस्त्यो) बाहुओंपर (इषुं दधिरे) बाणको धारण करनेवाले (अनंत-शुष्मा) अनंत बलसे युक्त (वृष-खादय) वनस्पतिरस पीनेवाले, अथवा शत्रु को उखाड फेंकने वीर हैं।

वीर पुरुष ज्ञानी, धन और शक्तिसे युक्त, समान भावसे एक घरमें रहने वाले, शत्रुका पराभव करनेमें प्रवीण, शस्त्रास्त्रोंसे युक्त शाकाहारी होने चाहियें।

क ईं व्यक्ता नरः सनीळा रुद्रस्य मर्या अधा

स्वश्वाः ॥ १ ॥ न किर्ह्येषां जनूंषि वेद ते अंग विद्रे

मिथो जनित्रम् ॥ २ ॥ ऋ. ७।५६ ॥

(अध) अजी ! (स्वश्वा) उत्तम घोडोंपर बैठनेवाले (स-नीलाः) एक आश्रयसे रहनेवाले और (व्यक्ता नर) अलग अलग दीखनेवाले पुरुष (के) कौन हैं ? वे (रुद्रस्य मर्या) रुद्रके अर्थात् भद्रवीरके मनुष्य हैं। (एषां जनूंषि) इनके जन्मका वृतान्त (न किः वेद) कोईभी नहीं जानता। हे (अंग) प्रिय ! (ते मिथ) वेही परस्पर एक दूसरोंका (जनित्रं) जन्म (विद्रे) जानते हैं।

वीर लोगोंके चरित्र वीर ही जान सकते हैं। भीरु लोग वीरोंके चरित्रोंका रसास्वाद नहीं ले सकते।

अग्निश्रियो मरुतो विश्वकृष्टय आ त्वेषमुग्रमव

ईमहे वयम् । ते स्वानिनो रुद्रिया वर्षनिर्णिजः

सिंहा न हेषक्रतवः सुदानवः ॥ ऋ. ३।२६।५॥

(ते रुद्रिया मरुत) वे रुद्रके पुत्र मरुत् (अग्नि-श्रियः) अग्निके समान तेजस्वी, (स्वानिन) उत्तम शब्द बोलनेवाले, (सिंहा न हेषक्रतव) सिंहके समान गंभीर शब्द करनेवाले, (वर्ष-निर्णिज) स्वदेशकी पोशाक पहिनते हुवे, (सु-दानव) उत्तम दान करनेवाले, (विश्व-कृष्टय) सर्व मनुष्यों वशमें रखते हैं। (वयं) हम सब (त्वेषं उग्रं अव) तेजस्वी शौर्यमय संरक्षण उनसे (आ ईमहे) प्राप्त करते हैं।

वीर मनुष्य अपने देशके बने पदार्थ उपभोगते हैं। संपूर्ण जनताके लिये लाभ पहुंचानेवाला पुरुषार्थ करते हैं, उत्तम दातृत्वके साथ महान् कार्य करते हैं, और सब अन्योंका संरक्षण करनेमें अपने आपको समर्पित करते हैं।

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवंतो

गभीराः । चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा

उरवो व्रातसाहाः ॥ ऋ. ६।७५।९॥

वीर (स्वादुः संसदः) जिनकी संगति अच्छी होती है, सभामें जो उत्तम बोलते हैं, जिनका संघठन बड़ा ही मीठा फल देनेवाला होता है, (पितरः) जो सबका संरक्षण करते हैं, (वयो-धाः) बडी आयुको धारण करनेवाले, दीर्घ-जीवी अथवा जीवनको देनेवाले, नवजीवनको स्थापित करनेवाले होते हैं, (कृच्छ्रे-श्रिता) कठिन प्रसंगमें आश्रय करने योग्य, मुश्किलके समय जिनसे सहायता प्राप्त होती है, (शक्तिवन्तः) हरएक प्रकारकी शक्तिका धारण करने वाले, (गभीरा) गंभीर, महान् आशयसे युक्त, विशाल अंत करण धारण करने वाले, (चित्र सेना) जिनके पास विचित्र और विलक्षण प्रकारका प्रभावशाली सैन्य है, विविध प्रकारके सैन्यसे युक्त, (इषुबला) बाणोंका तथा शस्त्रास्त्रोंका बल धारण करनेवाले, (सतो वीरा) सत्य पक्षके लिये ही वीर बनकर लडने-वाले, सत्यपक्षके संरक्षणके लिये असत्य पक्षका निवारण करनेवाले, (अ-सृध्रा) जिनके ऊपर हमला होना अशक्य है, जो कभी दबनेवाले नहीं होते हैं। (उरवः) जिनकी कल्पना विशाल होती है, हरएक प्रकारसे जो बड़े होते हैं। (व्रात—साहा) शत्रु समूहका हमला जो सहज रीतिसे सहन कर सकते हैं।

इस प्रकारके शूर वीर होते हैं।

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ् जेता पवस्व सनिता धनानि ॥ तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥ ऋ. ९।९०।३॥

(शूरग्राम) शौर्यवीर्यादि क्षात्र गुणोंसे युक्त (सहवान्) सहनशक्तिसे युक्त, (जेता) विजयशाली, (धनानि सनिता) धनोंका उत्तम विभाग करनेवाला, (तिग्मायुध) जिसके भयंकर शस्त्रास्त्र हैं, (क्षिप्र-धन्वा) धनुष्ययुद्धमें प्रवीण (समत्सु अषाढ) युद्धोंमें शत्रुओंके लिये असह्य परन्तु (पृतनासु शत्रून् साह्वान्) युद्धोंमें शत्रुओंके साथ मुकाबला करनेवाला जो होता है, वह (सर्व वीर) सब प्रकारसे वीर कहा जाता है। हे ईश्वर! इन गुणोंसे हमको (पवस्व) पवित्र करो।

तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः। अनातुरा अजरा स्थामविष्णवः सुपीवसो अतृषिता अतृष्णजः ॥ ऋ. १०।९४।११॥

(तृदिला) शत्रुको छिन्नभिन्न करनेवाले, परन्तु (अ-तृदिलासः) स्वयं शत्रुसे छिन्न भिन्न न होनेवाले, ऐसे (अद्रय) सुदृढ, अतएव (अ-श्रमणा) श्रान्त न होनेवाले, बहुत परिश्रम करनेपर भी जिनको थकावट नहीं होती, क्योंकि वे (अ-शृथिता) शिथिल नहीं होते, इसलिये (अ-मृत्यवः) वे मरते नहीं, अर्थात् अकाल मृत्युसे नहीं मरते। तथा वे (अन्-आतुरा) रोगी नहीं होते। (अ-जरा) जीर्ण भी नहीं होते, अर्थात् वृद्ध अवस्थामें भी तरुण जैसे

उत्साही रहते हैं, तथा (भ्रम विष्णव:) बलके साथ सर्वत्र आनेवाले किंवा संचार करनेवाले, (सु-पीवस) हृष्टपुष्ट होते हैं। तथा वे (अ तृषिता:) तृष्णासे दूर होते हैं तथा (अ तृष्णजः) तृष्णासे उत्पन्न होनेवाले संपूर्ण दोषोंसे वे दूर (स्थ) होते हैं।

इस मन्त्रका प्रत्येक शब्द स्मरण रखने योग्य है।

वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुसदृशः
सुपेशसः ॥ पिशंगाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्व-
क्षसो महिना द्यौरिवोरवः ॥ ऋ. ५।५७।४॥

(वात-त्विष) वायुके समान बलिष्ठ (यमा इव सुसदृश:) युगल भाईयोंके समान एक जैसे दिखाई देनेवाले, (सुपेशस) सुंदर रूपवाले, (पिशंगाश्वा· अरुणाश्वाः) भूरे और लाल रंगोंके घोड़ोंपर बैठनेवाले, (अ-रेपसः) निष्पाप, (प्र-त्वक्षस) विशेष शक्तिमान् (वर्ष निर्णिजः मरुत) स्वदेशी कपड़े पहननेवाले मरनेके लिये तैयार वीर हैं, इसलिये वे (महिना द्यौ इव उरव·) महिमासे द्युलोकके समान विशाल हैं।

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वरा-
णामभिश्रियः। अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहो-
ऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ॥ ऋ. १०।६६।८॥

(धृत-व्रता) व्रतों धारण करनेवाले, नियमोंके अनुसार चालनेवाले, (यज्ञ-निष्कृत) सत्कार-संगति-दानात्मक सत्कर्म करनेवाले, (बृहद्दिवा) अत्यंत तेजस्वी, (अ-ध्वराणां अभिश्रिय) अहिंसामय कर्मोंसे शोभनेवाले, (अग्नि-होतार) हवन करनेवाले, (ऋत-साप) सत्य-निष्ठ, (अ-द्रुह) धोखा न करनेवाले, जो क्षत्रिय होते हैं, वे (वृत्र-तूर्ये) शत्रुके साथ होनेवाले युद्धमें (अपः अनु असृजन्) अपने सब कर्म ठीक करते हैं।

राष्ट्रके पोषक।

सं वसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो
ह्य १ क्षाः। तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं
स्याम पतयो रयीणाम् ॥ अ. ७।१०९।६॥

(व नामधेयं) आपका नाम (सं वसव· इति) उत्तम वसु है, जो मनुष्योंके निवासका उत्तम साधन होता है, वही 'सं-वसु' कहलाता है, आपका (उग्रं पश्याः) स्वरूप क्षात्र तेजसे युक्त है, तथा आप (राष्ट्र-भृतः)

राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले अतएव राष्ट्रके (अङ्गा·) अंग है । (तेभ्य·व·) उन आप राष्ट्रभृत्योंके लिये (हविषा) अर्पण द्वारा (इन्द्व) शांतिसुख (विधेम) हम सब करें, दें । जिससे (वयं) हम सब (रयीणां पतय) धनोंके स्वामी (स्याम) होवें ।

'राष्ट्रभृत्य' राष्ट्रके स्वयंसेवक होते हैं । इनकी शक्तिसे राष्ट्र सुरक्षित होता है, इसलिये कहा जाता है, कि ये ही राष्ट्रका भरणपोषण करते हैं ।

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सह-
मान उग्रः । अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्र-
मिन्द्र रथमातिष्ठ गोविदन् ॥ अ. १९।१३।५॥

(बलविज्ञाय) बल जाननेवाला, (स्थविर) अनुभवी वृद्ध, (प्रवीर) बडा वीर, (सहस्वान्) शक्तिसे युक्त, (वाजी) बलिष्ठ, वीर्यवान्, (सहमान) विजयी, (उग्र) प्रचण्ड, (अभिवीर) अपने चारों ओर वीरोंको रखनेवाला, (अभिषत्वा) चारों ओर सत्व संपन्न पुरुषोंको रखनेवाला, (सहो जित्) बलसे जीतनेवाला होकर, हे (इन्द्र) शूर ! तू (गो-विदन्) पृथ्वीके देशों तथा इंद्रियोंको जाननेवाला होकर (जैत्रं रथ) विजयी रथपर (आतिष्ठ) चढ ।

उक्त गुण अपने अंदर बढाकर विजय प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये ।

हिरण्य-हस्तो असुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ
यात्वर्वाङ् । अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः
प्रतिदोषं गृणानः ॥ य. ३४ । २६ ॥

(हिरण्य-हस्त) हाथमें सुवर्णके आभूषण धारण करनेवाला (सु-नीथ) उत्तम नेता (सु-मृडीक) सुन्दर सुखकारी (स्ववान्) आत्मविश्वासी (असुर) शत्रुको दूर फेंकनेवाला वीर (अर्वाङ् यातु) हमारे पास आवे । और वह (प्रति दोषं) प्रतिदिन (गृणानः) स्तुति करने योग्य (देव) देव (रक्षस) राक्षसों को (अप सेधन्) दूर करता हुआ तथा (यातु-धानान्) अन्याय से दूसरों के पदार्थ धारण करनेवालों को दूर करता हुआ (अस्थात्) अपने स्थान पर स्थिर रहे ।

उत्तम वीर आत्मविश्वासी, अपनी शक्तिसे विजय करनेवाला, प्रशंसनीय नेता और शत्रुको हटानेवाला होता है । इस प्रकारके वीर अपने राष्ट्रमें शान्ति स्थापन करनेके लिये सब दुष्ट शत्रुओंको दूर हटा देवें और अपने राष्ट्रको विजयी बनावें ।

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं

सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् । ईड्यं
नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥ अ. १७।१।१॥

(विषासहिं) विजयी, (सहमानं सासहानं, सहीयांसं) शत्रुको दबानेकी शक्ति धारण करनेवाले, (सहो-जितं) बलवान्को जीतनेवाले, (स्वर्जितं) आत्म-शक्ति धारण करनेवाले, (गोजितं) भूमिको जीतनेवाले, (सधन-जितं) धन प्राप्त करनेवाले, (ईड्य) प्रशंसनीय, (इन्द्र नाम) इन्द्र नामसे (ह्व) पुकारता हूं । इस प्रार्थना से मैं (आयुष्मान् भूयास) दीर्घायु होऊं ।

विजयी, बलवान्, आत्मिक बलसे युक्त प्रभावशाली पूर्ण ऐश्वर्यवान् परमात्मा की मैं प्रार्थना करता हूं । इससे मैं वीर बनकर दीर्घ आयुसे युक्त हो आऊंगा ।

राजनीतिप्रकरण

नेता के गुण ।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ अ. १।२१।१॥

(स्वस्ति दा) मंगल देनेवाला, (विशां पति) प्रजाओं का पालक और (विमृध) विशेषत हिंसाको (वशी) वशमें करनेवाला (वृषा) बलवान् (सोम-पा) वनस्पतिका रस पीनेवाला, (अभयं-कर) अभय करनेवाला, (इन्द्र) शत्रु नाशक वीर (न) हमारे (पुर एतु) आगे चलनेवाला हो ।

उक्त प्रकारका वीर और शूर अग्रगामी नेता होनेसे ही अन्य लोगों का भी वैसा ही आचरण हो सकता है । तथा इस प्रकार के मंगलकारी, संयमी, निर्भय और शत्रुनाशक वीरके नेतृत्वमें रहकर ही राष्ट्रका उद्धार होता है ।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ अ. १।२१।२॥

हे (इन्द्र) शत्रुविदारक ! (न· मृध) हमारे शत्रुओंको (विजहि) मारडाल (पृतन्यत·) सैन्यके साथ चढाई करनेवालोंको (नीचा यच्छ) नीचे ही रोक दे । (य) जो (अस्मान् अभिदासति) हमारा नाश करता है (तं तम. गमय) उसको अन्धकार में पहुचा दे ।

जो शत्रुसैन्यके साथ लडाई करनेवाले हैं, तथा अन्य रीतिसे नाश करने वाले हैं, उन को पराजित करके नीचे दबाकर रखना चाहिये। कभी उन को उठने नहीं देना चाहिये।

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।

यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च॥ अ. १।२९।६॥

(यथा) जिससे कि (सपत्न क्षयणः) शत्रुओंका नाश करके (वृषा) बलवान् होकर (विषासहि) और सदा विजयी बनकर (अहं) मैं (अभिराष्ट्रः) राष्ट्र की सेवा करता हुआ (वीराणां) वीरोंके तथा (जनस्य) लोगों के बीचमें (विराजानि) विराजूं, ऐसा यत्न मैं करता हूं।

शत्रुका पराभव करना, बलवान होना और विजयी बनना, ये तीन गुण राष्ट्रसेवाके लिये आवश्यक हैं। इस प्रकार के राष्ट्रसेवक नेता लोग वीरों और लोगों में शोभायमान होते हैं।

राष्ट्र के लिये ही बढना।

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे।

तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय॥ अ. १।२९।१॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानपते! (येन) जिस (अभीवर्तेन मणिना) विजयी मणि से (इन्द्र) शत्रुनाशक वीर (अभिवावृधे) बढा था, (तेन) उससे (अस्मान्) हम सबको (राष्ट्राय) राष्ट्रके लिये (अभिवर्धय) तू बढा।

मणि शब्द रत्नवाचक है। ज्ञानीके पास ज्ञानरत्न, वीरके पास शौर्यरत्न, वैश्यके पास धनके रत्न, तथा शूद्रोंके पास कारीगरीके रत्न होते हैं। ये ही मणि हैं। इस मणिसे उस उस वर्णका पुरुष राष्ट्रके लिये योग्य होता है। ज्ञानीका कर्तव्य है, कि वह अपने ज्ञानकी योजनासे प्रत्येक वर्णके पुरुषको यथा योग्य रत्न-जेवरसे सुशोभित करके उनको राष्ट्रकी सेवा के योग्य बनाए। प्रत्येक वर्णका हरएक पुरुष अपने योग्य रत्नों से सुशोभित होकर राष्ट्र की सेवाके लिये सिद्ध होजाय।

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।

अभि पृतन्यंतं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ अ. १।२९।२॥

हे वीर! (सपत्नान्) प्रतिपक्षियोंको तथा (या नः) हमारे जो (अरातयः) शत्रु हैं, उनको (अभिवृत्य) जीतकर, (पृतन्यन्तं) सेनाके साथ लडाई करनेवालेको

तथा जो हम सबको (दुरस्यति) बुरा व्यवहार करता है, उसको (अभितिष्ठ) दबाकर रख ॥

वीर पुरुषोंको उचित है, कि वे प्रतिपक्षियों शत्रुओं, सेनासे आक्रमण करनेवाला तथा अनुदार पुरुषोंका वीरताके साथ प्रतिबंध करें और उनको बुरे व्यवहार न करने दें।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ अ. १।२९।४॥

(अभीवर्त) शत्रुको जीतनेवाला, (अभिभव) शत्रुका हरानेवाला, (सपत्न-क्षयण.) प्रतिपक्षियोंका नाश करनेवाला, यह (मणि) रत्न है उसको (मह्यं) मुझ पर (राष्ट्राय) राष्ट्रके लिये तथा (सपत्नेभ्य) वैरियोंका (पराभुवे) पराभव करनेके लिये (बध्यता) बाधा जाय।

प्रत्येक वर्णके जो पूर्वोक्त रत्न हैं, उनके कारण उस उस प्रकारके शत्रु नष्ट होते हैं, और पराभूत होकर दूर भाग जाते हैं। इस लिये ये रत्न हर एक वर्णको धारण करके अपने राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये सिद्ध होना चाहिये। ब्राह्मण ज्ञानरत्नसे, क्षत्रिय वीररत्नसे, वैश्य धनरत्नसे, और शूद्र कलारत्नसे, शोभायंत होकर अपने राष्ट्रकी सेवा करे ॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।

यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ अ. १।२९।५॥

(असौ सूर्य) यह सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है, वैसे ही (इदं मामकं वचः) यह मेरा वचन (उत्) उदयको प्राप्त हो। (यथा अहं) जिससे मैं (शत्रुह) शत्रुका मारनेवाला, स्वय (अ सपत्न) शत्रुरहित और (सपत्नहा) विपक्षियोंका नाश करनेवाला, (असानि) होऊं।

सूर्य उदय होता है, उस प्रकार मैं भी उदयको प्राप्त होता हूं। अपने संपूर्ण विरोधी शत्रुओंको पूर्णतासे पराजित करनेसेही अपना अभ्युदय होता है। अभ्युदय प्राप्त करनेकी यही रीति है।

राजाके लिये उपदेश ।

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां

पतिरेकराट् त्वं विराज। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो

ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ अ. ३।४।१॥

हे राजन् ! (राष्ट्रं) यह राष्ट्र (त्वा आगन्) तुझको प्राप्त हुआ है (वर्चसा सह) तेजके साथ (उदिहि) उदय हो। (प्राङ् विशांपतिः) पूजित होकर प्रजाका पालन करनेवाला (एक राट्) एक राजा बनकर तू (विराज) विराजमान हो। (सर्वा प्रदिश) सब प्रदिशाओंमें रहनेवाली प्रजाएं (त्वाऽऽह्वयन्तु) तुझे पुकारें। (इह) यहां (नमस्य) वंदनीय और (उपसद्य) सबको प्राप्त होनेवाला तू (भव) हो।

चुने हुए नवीन राजाके लिये यह उपदेश है (१) हे राजन्! तुझे राष्ट्रने पसंद किया है, (२) तेजस्वी बनकर व्यवहार कर, (३) प्रजाका पालन कर, (४) सब प्रजाओंका प्रिय बन, और (५) सब प्रजाओंको प्राप्त हो। अर्थात् ऐसे स्थानपर न रहो कि, जहां कोई तुम्हें देख भी न सके।

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पञ्च॑
दे॒वीः। वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न
उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि ॥ अ. ३।४।२॥

हे राजन्! (राज्याय) राज्यके लिये (विश.) प्रजाएं तथा (इमा पंच प्रदिश देवी) ये पांच दिशाओंमें रहनेवाली प्रजाएं (त्वां वृणतां) तुझकोही स्वीकार करें। (राष्ट्रस्य) राष्ट्रके (वर्ष्मन् ककुदि) ऐश्वर्ययुक्त अच्छे स्थानपर (श्रयस्व) आश्रय ले। (तत) पश्चात् (उग्र) शूर वीर बनकर (वसूनि) धनोंका (न विभज) हमारे लिये विभाग कर।

हे राजन्! (१) सब प्रजाजन तुझेही राज्यके लिये स्वीकार करें। यदि उनकी संमति न हुई तो तुमसे राज्य छीना जायगा। इसलिये तू ऐसा राज्य कर कि सब प्रजाजन सतुष्ट रहें और क्लेशयुक्त न हों (२) सब राष्ट्रके शिरोभागमें बैठकर सर्वत्र धन विभाग उत्तम रीतिसे कर, जिससे धनकी विषम स्थिति होकर किसीको कोई क्लेश न हो सके।

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः
सं च॑रातै। जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवंतु ब॒हुं ब॒लिं
प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ॥ अ. ३।४।३॥

(स जाता) सजातीय लोग (हविन) हवन करते हुए (त्वा) तेरे पास (अच्छ यन्तु) संमुख होकर मिलें। (अजिरः) चपल (अग्नि दूत) अग्निके समान तेजस्वी दूत (संचरातै) संचार करे। (जाया पुत्राः) स्त्रियां और उनकी संतान (सुमनसः भवन्तु) उत्तम मनवाले बनें। ऐसा होनेके पश्चात् (उग्र) तू शूर होकर बहुत (बलि) कर-भेंट (प्रति पश्यासै) देखेगा।

(१) तेरे राज्यमें यज्ञयाग करनेवाले बहुत हों। (२) देशदेशांतरमें चतुर दूत भेजे जाएं, (३) तेरे राज्यमें स्त्रियोंका सदाचार रहे और संतान गुणसंपन्न

हों। (४) यदि तेरी राज्यव्यवस्था इस प्रकारकी होगी तो तुझको बहुत भेंट मिलेगी। नहीं तो नहीं मिलेगी।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥ अ. ३।५।२॥

हे (पर्ण-मणे) पालन करनेमें मन रखनेवाले! तू (मयि) मुझमें (क्षत्रं) क्षात्र बल और (रयिं) धन (धारयतात्) स्थापित कर। (अहं) मैं राष्ट्रके (अभिवर्गे) हितकर्ताओंमें (उत्तम निज) उत्तम निज बनकर (भूयासं) रहूंगा।

(१) राजाके अंदर क्षात्र बल और धन होना चाहिये तथा उसका मन सदैव प्रजापालनमें तत्पर रहना चाहिये। (२) राजा तथा राजपुरुष राष्ट्रके निज अर्थात् स्वकीयसे बनकर रहें अर्थात् उपरी न रहें।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।

उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अ.३।५।६॥

(ये धीवानः) जो बुद्धिमान हैं (रथकाराः) गाडी बनानेवाले और (कर्माराः) शिल्पी अथवा लुहार आदि है तथा जो (मनीषिणः) मननशील विद्वान् हैं। हे (पर्ण) पालक! तू उन (सर्वान् जनान्) सब जनोंको (मह्यं अभितः उपस्तीन्) मेरे चारों ओर (कृणु) कर।

राजाको उचित है कि वह अपने पास ज्ञानी, विचारी, मननशील, बुद्धिमान्, विद्वान्, तत्वज्ञानी, कारीगर, तर्खाण, लुहार आदि सब प्रकारके लोग रखे और उनको उत्तेजना देकर कारीगरीको बढावे।

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।

उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अ.३।५।७॥

(ये राजानः) जो सरदार और जो (राजकृतः) राजाओंको बनानेवाले राजाके चुनावमें मत देनेवाले सज्जन हैं तथा (सूताः) गाथाओंको सुनानेवाले तथा (ग्रामण्य) ग्रामके नेता लोग हैं, हे (पर्ण) पालक! (सर्वान्) तू उन सबको मेरे पास कर।

राजाको उचित है कि वह सब सरदारोंको, तथा राजाके चुनावमें मत देनेवाले जो सज्जन हैं उनको, कथा करनेवाले ऐतिहासिकों और ग्रामके नेता महाजनोंको अपने अनुकूल करके अपने साथ अपने सहायक बनाकर रखे।

राजा की महत्ता।

राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु॥

ऋ. ७।३४।११॥

(राजा) राजा (नदीनां राष्ट्राणां) गमनशील राष्ट्रोंको (पेशः) रूप है। इसलिये (अस्मै) इसके पास (विश्वायु) सब प्रकारका (अनुत्तं क्षत्रं) उत्तम क्षात्रतेज होवे।

राजाही राष्ट्रोंकी उन्नति करनेके कारण राष्ट्रोंको रूप देनेवाला है। इसलिये उसके पास उत्तम क्षात्रतेज होना चाहिये। अन्यथा वह सब राज्यका संरक्षण न कर सकेगा।

समिति की रचना।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान्पा-
दयस्व। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते
समितिः कल्पतामिह ॥ अ. ६।८८।३॥

हे राजन्! (ध्रुवः) दृढ और (अच्युतः) पदच्युत न होता हुआ (शत्रून् प्रमृणीहि) शत्रुओंका नाश कर। और (शत्रूयत) शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको (अधरान्) नीचे (पादयस्व) गिरावे। (सर्वा दिश) सब दिशाओंमें रहनेवाले लोग (सं मनस) उत्तम मनवाले और (सध्रीची) मिल जुलकर रहनेवाले हों और (इह) इस राष्ट्रमें (ते ध्रुवाय) तेरी स्थिरताके लिये (समिति कल्पतां) सभा समर्थ होवे।

राजा अपनी उत्तम शासनप्रणालीसे सुदृढ होकर राज्य करे। सब शत्रुओंका पूरा पूरा नाश करे, तथा जो शत्रुके समान आचरण करनेवाले हों उनको दबाकर रखे। सब लोगोंकी संघशक्ति बनाकर राष्ट्रमें अपूर्व सामर्थ्य उत्पन्न करे और समिति द्वारा राज्यशासन कराके, लोकसमितिकी अनुमतिसे स्वयं सुदृढ होकर उत्तम राज्यशासन करे।

राज सभा।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ
संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु
वदानि पितरः संगतेषु ॥ १ ॥ अ. ७।१२॥

(प्रजा-पते) प्रजारक्षक राजाकी (दुहितरौ) पुत्रीवत पालन योग्य (सभा) लोक-सभा और (समिति) राष्ट्रपरिषद् हैं, ये दोनों (मा अवतां) मेरी रक्षा करें। ये दोनों (संविदाने) मेल करनेवाली हैं। (येन) जिस सभासदके साथ (संगच्छे) मैं मिलूं, (स मा उपशिक्षात्) वह मुझे ज्ञान दे। हे (पितरः) पालन करनेवाले सभासदो! (संगतेषु) सभाओंमें (चारु वदानि) मैं ठीक बोलूं॥

(१) सभा-ग्रामके लोगोंकी सभा है, (२) समिति-राष्ट्रके प्रतिनिधियोंकी परिषद् है। (३) ये दोनों सभाएं प्रजाकी पालन करनेवाले राजाकी दुहिताएं हैं। पिता दुहिता अर्थात् पुत्रीका पालक होता है, परन्तु पुत्रीपर अधिकार पति का होगा, पिताका नहीं। ठीक इस प्रकार राजा लोग सभाओंका पालक है, परन्तु लोकसभा राजाके अधिकारसे बाहर है अर्थात् राज्यशासन का सुधार आदि करने में लोकसभा पूर्ण स्वतन्त्र है। (४) इन दोनों सभाओं में प्रजाकी सम्मतियोंको मेल होता है, इस लिये इन सभाओंके सभासदोंसे मिलकर प्रजा के मतका ज्ञान राजा प्राप्त करे। (५) लोकसभाके सभासद भी राजाको अपनी निःपक्षपात सम्मति देते रहें। (६) वास्तविक राज्यके शासक और पालक लोकसभाके सभासद ही हैं। (७) राजा और लोक-सभाके सभासदोंका सदा परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण होवे और कभी विद्वेषके शब्द न उच्चारे जाएं।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ अ. ७।१२।२॥

हे (सभे) सभा! तेरा नाम (विद्म) जानते हैं। तेरा नाम (न-रिष्टा) अविनाशक है। (ये के च) जो कोई (ते सभासदः) तेरे सभासद हैं (ते) वे (मे) मेरे साथ (सवाचसः सन्तु) सत्यवचन बोलने वाले होवें।

लोकसभाका नाम (न-रिष्टा) किसीका नाश न करनेवाली, स्वयं नष्ट न होनेवाली अथवा (नर्-इष्टा) लोगोंके लिये इष्ट करनेवाली है। जिस राज्य में लोकसभा होती है और लोक सभा द्वारा जहां का राज्यशासन चलाया जाता है, वहां राजाको और लोगोंको अर्थात् किसीकोभी कोई कष्ट नहीं होता। परंतु लोकसभा से अधिक लाभ प्राप्त होनेके लिये सब सभासद् सत्यभाषण करने वाले होने चाहियें। तभी सत्यभाषी सभासदोंकी सभासे राष्ट्रका सच्चा कल्याण हो सकता है।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु॥

अ. ७।१२।३॥

(एषां समासीनानां) इन बैठे हुए सभासदों का (वर्चः विज्ञानं) तेज और ज्ञान (आददे) मैं लेता हूं। (अस्याः सर्वस्याः) इस सब (संसदः) सभाका, हे (इन्द्र) प्रभो! (मां भगिनं कृणु) मुझे भागी कर।

राजाको तथा सभापतिको उचित है, कि वह संपूर्ण सभाके सब सदस्यों का मत क्या है, यह निःपक्षपातसे जानकर उसका उपयोग करें। अपने आप को सभाका भागी अर्थात् अंश बनाकर रहे और सभाके ज्ञानसे ज्ञानी और सभाके तेज से तेजस्वी बनकर कार्य करे॥

सभासद।

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं
यमस्यामी सभासदः। अविस्तस्मात्प्र मुंचति
दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ १ ॥ अ. ३।२९ ॥

(यमस्य) नियम पालन करनेवाले राजाके (अमी सभासदः राजान) ये सभासद् राजे (इष्टा-पूर्तस्य षोडशं) अन्नादि भोगका सोलहवां भाग (वि भजन्ते) विभक्त करते हैं। यह सोलहवां भाग (दत्तः) दिया हुवा (अविः) रक्षक होता है और वह (शितिपात्) हानिसे (प्रमुञ्चति) मुक्तकर देता है और (स्वधा) अपना धारण करता है।

राजसभाके सभासदही सचमुच राजे हैं। ये प्रजासे लाभका-धनधान्य आदि उत्पन्नसे-सोलहवा भाग राजाके लिये अलग करते हैं। लोग यही कर राजाको देते हैं। यह दिया हुआ करही प्रजाका संरक्षण करता है, अर्थात् यह कर लेकर राजा सब प्रजाकी रक्षा करता है और राष्ट्रमें धारणाशक्ति बढाता है। उत्पन्नका १६ वां हिस्साही कर रूपसे राजाको देना चाहिये।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन्।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥ अ. ३।२९॥

पूर्वोक्तकर (दत्त.) दिया हुआ (अवि) रक्षक बनकर (शितिपात्) हानि से (न उपदस्यति) नाश नहीं करता। परन्तु (आकूति-प्र) संकल्पोंको पूर्ण करता हुआ (सर्वान् कामान्) सब कामनाओंको (आभवन्, प्रभवन्, भवन्) विजयी, प्रभावी और वृद्धियुक्त होकर (पूरयति) पूर्ण करता है।

राजाको सोलहवा भाग कर रूपसे देनेपर वह प्रभावशाली बनकर सब प्रजाको नाशसे बचाता है।

सत्य पालक राजा।

ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा।
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जनेजने ॥ ऋ. ५।६५।२॥

(ता) वे (राजाना) राजा लोग (श्रेष्ठवर्चसा) उत्तम तेजस्वी, (दीर्घ श्रुत्तमा) अत्यन्त ज्ञानी, (सत्पती) उत्तम पालन करनेवाले, (ऋतावृधा) सत्य और सरलता साथ बढनेवाले (जने जने) प्रत्येक संघमें (ऋतावाना) सत्यके रक्षक हैं।

राजा लोगोंको इन गुणोंसे युक्त होना चाहिये।

स्वराज्य ।

यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय ।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ अ. १०।७।३१॥

(अज) हलचल करनेवाला (प्रथमं) सबसे प्रथम (यत्) जब (सं बभूव) मिलजुल कर प्रकट होता है (तत्) तब (स ह) वही (स्वराज्य) स्वराज्यको (इयाय) प्राप्त करता है, (यस्मात्) जिस स्वराज्यसे (अन्यत्) दूसरा कोई (परं) श्रेष्ठ (भूतं न अस्ति) हुआ नहीं है।

वेदका यह मन्त्र स्वराज्यकी महिमा बता रहा है। इस मन्त्रका हरएक कथन विचार करने योग्य है। यहा 'अज' शब्द हलचल करनेवाला, नेता, संचालक, चलानेवाला, आदि भाव बताता है। "अज्" धातुसे यह शब्द बनता है, इस 'अज' धातुका अर्थ जाना, चलना, हिलना, हलचल करना, आदि हैं। अर्थात् जो अग्रभाग में जाता है, जो चलाता है, जो आगे बढनेके लिये हलचल करता है, जो अन्योंका नेता होकर उनको आगे बढाता है, वह 'अज' कहलाता है

इस मन्त्रमें कहे 'स्वराज्य" का अधिक अर्थ निम्नलिखित मन्त्र से खुल सकता है।

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः ।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥ ऋ. ५।६६।६॥

(मित्र) हे मित्रता रखनेवालो-अर्थात् जिनके अन्दर विरोध नहीं ऐसे सज्जनो! (ईय चक्षसौ) जिनकी दृष्टि विशाल हुई है ऐसे सज्जनो! तुम सब तथा (वयं) हम सब (सूरय.) विद्वान् मिलकर (व्यचिष्ठे) विस्तृत तथा (बहुपाय्ये) अनेकोंकी सहायतासे जिसका पालन होता है, ऐसे (स्वराज्ये) स्वराज्यमें (आयतेमहि) स्वराज्य व्यवस्थाको ठीक चलानेका उत्तम प्रकारसे यत्न करें।

स्वराज्यके लिये (१) मित्र दृष्टिवाले लोग, (२) विस्तृत दृष्टिके लोग और (३) ज्ञानी लोग, ये तीन प्रकार के लोग योग्य होते हैं। अर्थात् (१) आपस में झगडनेवाले, (२) संकुचित दृष्टिवाले, और (३) अज्ञानीलोग स्वराज्य चलानेमें समर्थ नहीं हो सकते।

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहि-
मर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ. १।८०।१॥

हे (शविष्ठ वज्रिन्) बलवान् शस्त्रधारी। (इत्था) इस प्रकार (मदे सोमे हि) आनन्दकारक शान्तिवर्धक सोमके विषयमें ही (ब्रह्मा) ज्ञानी (इत्) निःसन्देह (वर्धनं चकार) संवर्धन करता है। तू (ओजसा) शक्तिके साथ (पृथिव्या अधि) भूमिके शत्रुको (निःशश) दंड दे। और (स्वराज्यं) स्वराज्यका (अनु अर्चन्) योग्य पूजा करनेवाला बन।

ज्ञानी सुविचारोंका संवर्धन करे, शस्त्रधर अथवा बलवान् शत्रुओंका प्रतिकार करें, और सब मिलकर स्वराज्यशासनका महत्त्व फैलावें, यह उक्त मंत्रका तात्पर्य है।

लोक सभा की स्थापना।

विराड् वा इदमग्र आसीत्

तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥

यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

सोदक्रामत् सामंत्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥

यन्त्यस्यामंत्रणमामंत्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥

अ. ८।१०।(१)॥

(१) (अग्रे) सृष्टिके प्रारम्भमें केवल एक (वि-राड्) अर्थात् राजासे विहीन प्रजाशक्ति ही केवल थी। इस राज विहीन अवस्था को देखकर (सर्व) सब (अबिभेत्) भयभीत हो गये और ख्याल करने लगे कि क्या (इयं-ति) यही अवस्था हमेशा रहेगी।

२—(सा) वह प्रजाशक्ति (उदक्रामत्) उत्क्रांत हो गई और (गार्हपत्ये) गृहपति में परिणत हो गई। अर्थात् जो अलग अलग मनुष्य थे उनके व्यवस्थित कुटुम्ब बन गये, और (गृहमेधी) कुटुम्ब बननेसे गृहपति भी बन गया। अर्थात् स्वामी की कल्पना प्रथम कुटुम्बमें उत्पन्न हो गई ॥ २-३ ॥

३-वह (वि-राज्) प्रजाशक्ति (उदक्रामत्) उत्क्रांत हो गई और (सभायां) सभामें (न्यक्रामत्) परिणत हो गई। (य॑ ति) जो यह जानता है वह सभ्य अर्थात् सभाके योग्य बनता है॥ ८-९॥

४-वह (वि-राज्) प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होने लगी और (समितौ) समितिमें (न्यक्रामत्) परिणत हो गई। जो यह जानता है वह समितिके योग्य बनता है॥ १०-११॥

अर्थात् अनेक ग्रामोंके समूहोंकी सुव्यवस्थाके लिये ग्राम-सभाओंके प्रतिनिधियोंसे समितियां बनी।

५-वह प्रजाशक्ति उत्क्रमणको प्राप्त हुई और (आमंत्रणे) आमंत्रणमें परिणत हो गई। जो यह जानता है वह इस आमंत्रण परिषद्‌के लिये योग्य बनता है॥ १२॥ १३॥

ग्रामकी लोकसभाका नाम "सभा" है। प्रांतकी प्रांतिक लोकसभाका नाम "समिति" है। और जो मन्त्रिमण्डल राष्ट्रका नियमन करता है उसका नाम "आमंत्रण" होता है। ये तीन सभायें राष्ट्रकी स्वराज्यपद्धतिकी शासक सभाएं हैं। इनके शासनसे बहुपाय्यका शासन चलाया जाता है।

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत। अ. १५।८।१॥

(स) वह (अरज्यत) प्रेम करने लगा, रञ्जन करने लगा, (ततः) इसलिये (राजन्य) राजा (अजायत) बन गया।

जो लोगोंका रंजन, जनताके ऊपर प्रेम करता है वह राजा होता है।

स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत्॥ २॥

विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च

प्रियं धाम भवति य एवं वेद। अ. १५।८।३॥

वह (सबन्धून् विशः) बन्धुजनों सहित प्रजाओंके प्रति अन्न (अन्नाद्यं) खाद्यपेयादिका (अभि उदतिष्ठत्) प्रबन्ध करता रहा। इसलिये बांधवों सहित सब प्रजाओंके अन्न तथा खाद्यपेयादिका वह प्रिय स्थान बना। जो यह जानता है वह भी वैसा होता है।

जो राजा प्रजाओंके अन्नादिका प्रबंध उत्तम रखता है, उसके लिये संपूर्ण उपभोग प्राप्त होते है।

स विशोऽनु व्यचलत्॥ १॥

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्॥२॥

सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च

प्रियं धाम भवति य एवं वेद। अ. १५।९।३॥

वह (विशः) प्रजाओंके (अनु) अनुकूल (व्यचलत्) आचरण करता रहा। उसके लिये (सभा) ग्रामसभा (समितिः) राष्ट्र-सभा, सेना और (सुरा) धनकोश (अनुव्यचलन्) अनुकूल हो चले। (य एवं वेद सभाया भवति) इस प्रकार जो जानता है वह ग्रामसभा, राष्ट्रपरिषद्, सेना और धनकोशका प्रिय स्थान होता है।

जो राजा प्रजामतके अनुकूल राज्यशासन करता है, उसीको लोकसभा, राष्ट्रिय महासमिति, सेना और खजाना प्राप्त होते हैं, क्योंकि इन पर लोकसभाका अधिकार होता है।

राजगद्दीपर बैठनेके समय राजाको उपदेश।

आ त्वाहार्षमन्तरैधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्। ऋ.१०।१७३।१॥

(त्वा आहार्षं) तुझे मैं लाया हूं, (अन्त एधि) अंदर आ। (ध्रुवः तिष्ठ) स्थिर रह (अविचाचलि) चंचल न रह। (त्वा सर्वा. विशः) तुझे सब प्रजा जन (वाञ्छन्तु) चाहते रहें और (त्वत्) तुझसे राष्ट्र (मा अधिभ्रशत्) न गिरे।

पुरोहित कहता है कि हे राजा! तू चुना गया है, राजगद्दीपर आ, स्थिर और दृढ होकर कार्य कर, सब प्रजाओंकी अनुकूलता प्राप्त कर और प्रजाओंकी सुसम्मतिसे स्थिर हो और ऐसा कोई कार्य न कर, जिससे तेरे कारण तेरा राज्य ही भ्रष्ट हो, अथवा तेरे आधीन राज्य न रहे।

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।

इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥ ऋ. १०।१७३।२॥

(इह एव एधि) यहां आ, (मा अपच्योष्ठा:) मत गिर जा। पर्वतके समान (अ-विचाचलि) स्थिर रह। (इन्द्र इव) प्रभुके समान यहां (ध्रुव) स्थिर होकर (राष्ट्रं) राष्ट्रका (उ धारय) उत्तम रीतिसे धारण कर।

साम्राज्य के लिये योग्य राजा।

ऋतावाना नि षेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू।

धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः॥ ऋ. ८।२५।८॥

(धृत-व्रता) नियम पालन करनेवाले (ऋतावाना) सत्यके अनुसार चलनेवाले क्षत्रिय प्रथम (क्षत्रं आशतु:) क्षात्र तेज प्राप्त करते हैं और (सुक्रतू) उत्तम कर्म करते हुए साम्राज्यके लिये (निषेदतुः) यत्न करते हैं।

जो राजा लोग नियमानुसार चलते हैं, सत्यका पालन करते हैं, और प्रशस्त कर्म करते हैं, वेही साम्राज्यके लिये योग्य होते हैं ।

घमण्डी राजा ।

ज्ञानी के अपमान का घोर परिणाम ।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।

परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ अ. ५।१९।६॥

(य राजा) जो राजा (उग्र मन्यमान) अपने आपको शक्तिशाली मानता हुआ (ब्राह्मण) ज्ञानीको (जि घत्सति) नष्ट करना चाहता है। (यत्र) जहा (ब्राह्मण जीयते) ज्ञानी दबाया जाता है। (तत् राष्ट्रं) वह राष्ट्र (परासिच्यते) बहुत गिर जाता है।

जो राजा अपने आपको बडा शक्तिशाली समझकर ज्ञानीको दबाता है, उसका नाश होता है और वह राज्यभी गिरजाता है। इसलिये किसीभी राजा को उचित नहीं है, कि वह ज्ञानी पुरुषोंको दबाए। हरएक राजा ज्ञानियोंको स्वतंत्र रखकर उनका सन्मान करे ।

तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।

ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ अ. ५।१९।८॥

(तद् वै) वह ज्ञानीको दबानेका दुष्टकर्म (राष्ट्र आस्रवति) राष्ट्रका नाश करता है। जिस प्रकार उदक (भिन्ना नाव) टूटी नौकाको नष्ट कर देता है। (यत्र) जहा (ब्रह्माण हिंसन्ति) ज्ञानीको सताया जाता है (तद् राष्ट्रं) वह राष्ट्र (दुच्छुना हन्ति) दुर्गतिसे नष्ट होता है।

ज्ञानीका जिस राज्यशासनमें सताया जाता है, उस राज्यशासनका नाश होता है। इसलिये किसी राजाको ज्ञानीको सताना योग्य नहीं है ।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।

प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ अ. ५।१९।११॥

(ता) वे (नव नवतय) निन्यानवे (भूमि) देश (व्यधूनुत) हिल गये हैं। (ब्राह्मणीं प्रजां) ज्ञानी लोगोंको (हिंसित्वा) सताकर (असंभव्यं परा भवन्) सभावनासे भी अधिक हारे गये हैं ।

सौमें निन्यानवे देशोंके राजाओंका पराभव हुआ जिन्होंने ज्ञानियों को सताया। इसलिये कोई राजा ज्ञानीको न सताये ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च
धर्मश्च ॥ ७ ॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च
त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ ८ ॥ आयुश्च
रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च
श्रोत्रं च ॥ ९ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च
सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥
तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य
जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ११ ॥ अ. १२।५॥

(१ ओज·) शारीरिक बल, (२ तेज) तेजस्विता, (३ सहः) सहनशक्ति, (४ बलं) आत्मिक बल (५ वाक्) वाचाकी शक्ति, (६ इन्द्रियं) इन्द्रियोंकी शक्तियां, (७ श्री) शोभा (८ धर्म·) कर्तव्य पालन करनेका स्वभाव, (९ ब्रह्म) ज्ञान, (१० क्षत्रं) शौर्य, (११ राष्ट्रं) राष्ट्रशक्ति, (१२ विश) वैश्योंकी व्यापारिक शक्ति, (१३ त्विषि) अधिकारशक्ति, (१४ यश) सम्मान, (१५ वर्च) सामर्थ्य, (१६ द्रविणं) पैसा, धन, (१७ आयु·) दीर्घ आयु, (१८ रूपं) सौन्दर्य, सुंदरता, (१९ नाम) नामका अभिमान, (२० कीर्ति) नेकनामी, प्रसिद्धि, (२१ प्राण·) जीवनशक्ति, (२२ अपान) रोगनिवारक शक्ति, (२३ चक्षु) सूक्ष्म दृष्टि (२४ श्रोत्रं) ज्ञानमें प्रवीणता, (२५ पय) वीर्यका बल, (२६ रस) रुचि, प्रेम, सहृदयता हमदर्दी, सौन्दर्य, सत्व, (२७ अन्नं अन्नाद्यच) खान पान, (२८ ऋतं) न्यायानुकूल यथायोग्य नियमपूर्वक बर्ताव, (२९ सत्य) सत्यता, (३० इष्टं) अपना हित, (३१ पूर्तं) जनहित, दूसरोंका भला करना, (३२ प्रजा·) संतति, (३३ पशव) गाय, बैल, घोडा आदि पशु, ये सब (ब्रह्मगवी) ब्राह्मणकी गौ, वाणी आदिको (आददानस्य) लेनेवाले, प्रतिबंध करनेवाले और (ब्राह्मणं) ब्राह्मणको (जिनत) कष्ट देनेवाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय राजासे (अपक्रामन्ति) दूर हो जाते हैं।

मातृभूमिका वैदिक गीत।

अथर्व. १२।१

"वैदिक धर्ममें" राष्ट्रिय भावना और सार्वजनिक हितकी कल्पना प्रमुख होनेके कारण "मातृभूमि" के विषयमें अत्यन्त आदरका भाव होना

स्वभाविक ही है। अथर्ववेदमें एक "वैदिक राष्ट्रिय गीत" अथवा "मातृभूमिका सूक्त" इसी मातृभूमिकी भक्तिका द्योतक प्रसिद्ध है।

(१) ग्राम पत्तनादि-रक्षणार्थम्।

(२) पुष्टिकाम, कृषिकाम, व्रीहियवाब्जकामः, पुत्रधनादिकाम मणिहिरण्यादिकाम, पृथिवीमहाशांतिकाम भूमिकाम पृथिवीमुपतिष्ठते।

(अथर्व सा.'भा.)

"ग्राम पत्तन नगर राष्ट्र आदिकी रक्षाके समय, तथा (२) पुष्टि, कृषि, धनधान्य आदिकी प्राप्तिके प्रयत्न करनेके समय भूमिकी प्राप्तिकेलिये प्रयत्न करनेके समय, तथा मातृभूमिमें जिस समय अशांति होती है, उस समय देशमें पुन शान्ति प्रस्थापित करनेके अवसर पर इस "भूमि-सूक्त" का पाठ किया जाता है।

इसलिये हरएक वैदिक धर्मीको इस सूक्तका अध्ययन तथा मनन करना आवश्यक है। इस सूक्तके कई मंत्र यहां दिये जाते हैं।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं
धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं
पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

(सत्यं) सत्य, (बृहत्) वृद्धि, (ऋतं) न्याय्य व्यवहार, (उग्रं) क्षात्र तेज, (दीक्षा) दक्षता, (तपः) द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति, (ब्रह्म) ज्ञान, (यज्ञः) सत्कार संगति दानात्मक शुभ कर्म, ये आठ गुण (पृथिवीं) मातृभूमिका, (धारयन्ति) धारण करते हैं। (सा) वह (नः) हमारी (पृथिवी) मातृभूमि, जो हमारे (भूतस्य) भूत और (भव्यस्य) भविष्य तथा वर्तमान अवस्थाकी (पत्नी) पालन करने वाली है, वह (नः) हमारे लिये (उरुं लोकं) विस्तृतस्थान (कृणोतु) करे।

मातृभूमिकी स्वतन्त्रता का संरक्षण जिन श्रेष्ठ सद्गुणों से होता है वे आठ गुण ये है (१) सत्यनिष्ठा, (२) सवर्धन, (३) न्याय्यव्यवहार (४) प्रबल क्षात्र तेज, (५) कर्तव्यदक्षता, (६) शीत उष्ण सहन करने की शक्ति, (७) ज्ञान-आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ज्ञान तथा विज्ञान, और (८) श्रेष्ठों का सत्कार आपस की एकता और अनाथोंकी सहायता करनेके लिये आवश्यक कर्तव्य कर्म करना। इन गुणों से अर्थात् इन गुणोंके जनता में बढनसे-मातृभूमिका धारण होता है॥ इन गुणोंसे जिस मातृभूमिका धारण हुआ है, ऐसी मातृभूमि वहा के लोगोंकी भूत,भविष्य और वर्तमान कालीन अवस्थाका सरक्षण करती है। और वहां के लोगोंको अपने देशमें जितना चाहिये उतना विस्तृत स्थान, अर्थात् फैलनेके लिये स्थान देती है। तात्पर्य यह है कि उक्त आठ गुणोंसे मातृभूमिकी स्वतन्त्रता का संरक्षण हो, और अपने देशमें हरएक का अपने विस्तारके लिये पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो।

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु। नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

(यस्या) जिस मातृभूमिके (मानवानां) मननशील मनुष्योंके (मध्यत.) अंदर (उत्-वतः) उच्चता और (प्र-वतः) नीचता तथा (समं) समताके विषयमें (बहु) बहुत ही (अ-सं-बाधं) निर्वैरता है। और (या) जो (नानावीर्या ओषधी) नाना प्रकारके वीर्योंसे युक्त औषधियोंको (बिभर्ति) धारण, पोषण करती है, वह (न· पृथिवी) हमारी मातृभूमि (नः प्रथतां) हमारी कीर्तिकी (राध्यतां) साधन होवे।

जिस हमारे राष्ट्रके विचारशील मनुष्यों में परस्पर द्रोहभाव नहीं है, प्रत्युत उनमें पूर्ण ऐक्यभाव है, और उनमें उच्चता, नीचता और समता के विषय में कोई झगडे नहीं हैं, तथा जो हमारी मातृभूमि विविध गुणों से युक्त अनन्त वनस्पतियोंको उपजाती है; वह हमारी मातृभूमि हमारे यशकी फैलाने के लिये कारणीभूत हो ॥ २ ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

(यस्यां) जिसमें समुद्र (उत) और (सिन्धु) नदी तथा (आपः) जलाशय बहुत हैं, और (यस्यां) जिसमें (कृष्टय) खेतियां (अन्नं) अन्न की (संबभूवु) उत्पत्ति करती हैं, (यस्यां) जिस पर (इदं प्राणत्) यह श्वास लेने और (एजत्) हलचल करनेवाला प्राणिजात (जिन्वति) चलता फिरता है, (सा) वह (भूमि) हमारी मातृभूमिमें (न) हमको (पूर्वपेये) पूर्ण पेय अर्थात् समस्त खान पानके पदार्थ (दधातु) देवे।

जिस हमारी मातृभूमिमें समुद्र, नद, नदियां, तालाब, कूप, झील, आदि बहुत हैं, उनके जलसे सब कृषीवल अनेक प्रकारकी खेतियां करके जहां विविध धान्यादि उत्पन्न करते हैं, तथा उस अन्न और पानका सेवन करके अनेक उत्तम उत्तम प्राणी जहां आनन्दसे रहते हैं, वह हमारी मातृभूमि उत्तम खानपान हमें देती रहे। अर्थात् ऐसा कभी न हो कि हमारी मातृभूमिसे उत्पन्न हुए अन्नसे दूसरे तो पुष्ट होते रहें, और हमें खानेको कुछ भी न मिले ॥ ३ ॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

(यस्याः पृथिव्या) जिस मातृभूमिकी (चतस्र प्रदिशः) चारों दिशाओंमें (कृष्टयः) विविध खेतियां (यस्यां) जिसमें (अन्नं) अन्नको (सं बभूवुः) उत्पन्न

करती हैं। और उसमें (या) जो भूमि (एजत् प्राणत्) घूमनेवाले प्राणिमात्र को (बहु-धा) बहुत प्रकारसे (बिभर्ति) पुष्ट करती है, (सा) वह (न भूमिः) हमारी मातृभूमि हमें (गोषु) गौओं में और (अन्ने अपि) अन्नमें भी (दधातु) रक्खे।

जिस हमारी मातृभूमिमें चारों दिशाओंमें खेतीसे विविध प्रकारका अन्न उत्पन्न होता है, जिसको खाकर सब प्राणिमात्र हृष्ट-पुष्ट होते हैं और आनन्दसे जिसपर विचरते हैं, वह भूमि हमें विपुलअन्न और बहुत गौवें देनेवाली होवे। अर्थात् हम सदा अन्न और गौवोंके बीचमें मातृभूमिकी कृपासे रहें। ऐसा कभी न हो, कि हमारी मातृभूमिकी गौवोंका दूध और कृषिसे उत्पन्न हुआ अन्न दूसरेही ले जाएं, और हम वंचित ही रहें ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना वि॑ चक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

(यस्यां) जिस मातृभूमि में हमारे (पूर्वे) प्राचीन (पूर्वजना) पूर्वजोंने (वि-चक्रिरे) विविध कर्तव्य किये थे और (यस्यां) जिसमें (देवा) देवोंने (असुरान्) असुरोंको (अभ्यवर्तयन्) हराया था। तथा जो (गवां) गौओं, (अश्वानां) घोडों, (च वयस) और पक्षियोंका (विष्ठा) विशेष निवास स्थान है, वह (नः पृथिवी) हमारी मातृभूमि हमें (भग) ऐश्वर्य और (वर्च) तेज (दधातु) देवे।

जिस मातृभूमि में हमारे प्राचीन पूर्वजों ने विविध प्रकार के पराक्रम किये थे, जिसमें सज्जनोंने दुष्टोंका पराभव किया था, और जिसमें गौवें, घोडे तथा अन्य पशुपक्षी भी, आनन्द से रहते हैं, वह हमारी आश्रयदात्री मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देनेवाली होवे। ॥ ५ ॥

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो
निवेशनी। वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा
द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

(विश्वं-भरा) सबको पोषण करनेवाली, (वसुधानी) रत्नोंकी खान, (प्रतिष्ठा) सबका आधार (हिरण्य-वक्षा) जिसके अन्दर सुवर्ण है, (जगत निवेशनी) प्राणियों का निवास करने वाली, (वैश्वा-नर) सब मनुष्य समूहरूप (अग्नि) अग्निको (बिभ्रती) धारण पोषण करनेवाली और (इन्द्र ऋषभा) इन्द्रसे जिस पर वृष्टि होती है, ऐसी हमारी (भूमि) मातृभूमि (नः) हमको (द्रविणे) धन धान्य और बलके बीचमें (दधातु) रखे।

जो हमारी मातृभूमि सब प्रकारके रत्न, सोना, चान्दी, आदि की खान है, सब प्रकारके खानपान देकर जो सब प्राणियोंका पोषण कर रही है, जो मनुष्य समुदायरूपी राष्ट्रिय अग्निको जगाती है, और जहां स्वयं इन्द्र ही वृष्टि करता है, वह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि हमें सब प्रकारके धनोंके बीचमें रखे ॥ ६॥

(इन्द्र का अर्थ मेघ या सूर्य होता है)

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् । सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

(विश्व-दानीं) सब कुछ देनेवाली (यां पृथिवीं भूमिं) जिस विस्तृत मातृभूमिकी (अ-स्वप्नाः) सुस्ती न करनेवाले (देवा) देवता लोग (अ-प्रमादं)प्रमादरहित होकर (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (सा) वह (न) हमको (प्रियं मधु) प्रिय मधु (दुहां) देती रहे (अथो) और (वर्चसा) तेजके साथ (उक्षतु) बढावे ।

जिस हमारी मातृभूमिकी रक्षा ज्ञानी और शूर पुरुष प्रमादरहित हो और सुस्तीको छोड़कर करते आये हैं वह हमें सब कुछ देनेवाली मातृभूमि सदा हमारे लिये मीठे मीठे पदार्थ देती रहे और हमारा तेज और बल बढाती रहे ॥७॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः । यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः । सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

(अग्रे) प्रारम्भमें (या) जो (अर्णवे) समुद्रके (अधि) ऊपर (सलिलं) जलरूप (आसीत्) थी और । (मनीषिणः) बुद्धिमान्‌लोग (मायाभिः) बुद्धि और और कुशलता आदिसे (यां) जिसकी (अन्वचरन्) सेवा करते आये हैं, (यस्या पृथिव्या हृदयं) जिस पृथ्वीका हृदय (परमे व्योमन्) बडे आकाशमें (सत्येन) आवृतम्) सत्यसे आवृत होनेके कारण (अ-मृतं) अमृतरूप है । (सा) वह (न) हमारी (भूमि) मातृभूमि हमारे (उत्तमे राष्ट्रे) उतम राष्ट्रमें (त्विषिं) तेज और (बलं) बल (दधातु) धारण करे ।

प्रारभमें जो समुद्रके बीचमें थी, जिसका बीचका भाग भी सत्य आत्मासे व्याप्त है, जिसकी सेवा ज्ञानी लोग बुद्धिसे और कुशलतासे करते आये हैं, वह मातृभूमि हमारे श्रेष्ठ राष्ट्र में उत्तम तेजस्विता और बलकी वृद्धि करे ॥ ८ ॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति । सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

(यस्यां) जिसमें (परि-चरा)मातृभूमिकी सेवा करने वाले स्वयं सेवक (समानी आप)जलके समान शांतिसे और समान भावसे (अहोरात्रे) दिनरात (अप्रमादं क्षरन्ति) भूल न करते हुए चलते हैं, (सा) वह (भूरि-धारा) अनेक धारणशक्तियों से युक्त (न भूमि) हमारी मातृभूमि हमें(पय दुहां) दूध और अन्न देवे (अथो) और (वर्चसा) तेज के साथ (उक्षतु) बढावे ।

जिस मातृभूमिकी सेवा, उत्तम स्वयंसेवक शांति और समान भावोंसे युक्त तथा प्रमादरहित होकर दिनरात करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें उत्तम भक्ष्य भोज्य और पौष्टिक पेय देवे, और हमारे तेजकी वृद्धि करे ॥९॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे । इन्द्रो
यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः । सा नो
भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

(यां) जिसको (अश्विनौ) अश्वी देवोंने (अमिमातां) नापा है, (यस्यां) जिसमें विष्णुने (वि चक्रमे) पराक्रम किया, (शचीपति इन्द्र) प्रज्ञाशील इन्द्रने (यां) जिसको (आत्मने) अपने लिए (अन्-अमित्रा) शत्रुरहित किया । (सा) वह (न) हमारी (माता भूमिः) मातृभूमि हमारे लिये भोग्य पदार्थ देवे, जिस प्रकार पुत्र के लिये माता (पय) दूध देती है ।

जिस भूमिको अश्वी देवों (वेगवान् ज्ञानियों) ने नापा है । विष्णुने (प्रजा-संघने) जिसमें विविध पराक्रम किये हैं और कर्मकुशल प्रज्ञाशील इन्द्र अर्थात् नरेन्द्रोंने जिसको शत्रुरहित किया है, अर्थात् जिसके शत्रुओं को भगाया है, वह हमारी मातृभूमि हमें सब भोग और ऐश्वर्य देवे ॥ १० ॥
(विश्=प्रजा । विष्णु=प्रजासंघ)

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योन-
मस्तु । बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं
पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् । अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां
पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (ते) तेरे (गिरय) पहाड़, (हिमवन्तो पर्वता) हिमवाले ऊंचे पर्वत और (अरण्यम्) वन हमारे लिये (स्योनं) सुख देनेवाले (अस्तु) होवें । (बभ्रुं) भरण पोषण करनेवाली, (कृष्णां) कृषित होनेवाली, (रोहिणीं) जिसमें वृक्षादि बढ़ते हैं ऐसी, (विश्व-रूपां) सब प्रकारकी (इन्द्रगुप्तां) वीरोंसे रक्षित (ध्रुवां) गतिके कारण स्थिर, और (पृथिवीं) विस्तृत (भूमिं) मातृभूमिका (अहं) मैं (अ-जीता) अपराजित, (अहत) न मारा जाकर, (अक्षत) व्रणादि रोगसे रहित होकर (अध्यष्ठां) अधिष्ठाता-अध्यक्ष-होता हूं ।

हमारी मातृभूमिके पर्वत, पहाड़, वन और अरण्य तथा सब अन्य स्थान हमारे लिये सुखदायी हों । हमारी मातृभूमि अनेक प्रकारके धान्यादि की उत्पत्ति करनेके कारण हमारा उत्तम पोषण कर रही है । इसलिये मैं नीरोग, बलवान् और विजयी होकर यहांका अध्यक्ष और अधिष्ठाता होता हूं ।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा

यो वधेन। भूमे रंधय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (यः) जो (नः) हमारा (द्वेषत्) द्वेष करे, (य. पृतन्यात्) जो हमारे ऊपर सेना चढ़ावे, (य) जो (मनसा) मनसे (अभिदासात्) हमें दास बनाने का विचार करे और (य. वधेन) जो वधसे हमारा नाश करनेका यत्न करे, हे (पूर्व-कृत्वरि) पूर्ण कर्मों में कुशल (न) हमारी (भूमे) मातृभूमि ! तू (तं) उसका (रंधय) नाश कर।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (ये) हम सब (मर्त्या) मनुष्य (त्वत् जाता) तुझ सेही उत्पन्न हुए हैं, और (त्वयि चरन्ति) तुझ पर ही चलते हैं (त्वं) तू ही (द्वि-पद.) दो पांववाले मनुष्यादिकोंको तथा (चतुष्-पदः) चार पांववाले पशु आदिकोंको (बिभर्षि) धारण पोषण करती है, (येभ्य) जिन (मर्त्येभ्य) प्राणियों के लिये (अमृतं ज्योति.) अमृतमय प्रकाश (उद्यन् सूर्यः) उदय होनेवाला सूर्य (रश्मिभि) अपने किरणोंसे (आ-तनोति) फैलाता है, वे (इमे) ये हम (पंच मानवा) पांच प्रकार के मनुष्य (तव एव) तेरे ही हैं।

हे मातृभूमि ! हम सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अर्थात् ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और अशिक्षित ये पांच प्रकारके मनुष्य तुझसे ही उत्पन्न हुए हैं और तुझ परही भ्रमणादि व्यवहार करते हैं। हमारे लिये यह अमृतपूर्ण सूर्य अपने किरणोंसे जीवन युक्त प्रकाश फैला रहा है, हम सब तेरेही सुपुत्र हैं।

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा

वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

(ताः) वे (समग्रा) सब (न प्रजा) हमारी प्रजायें (सं) मिलकर (दुह्रतां) पूर्णता प्राप्त करें। हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (वाचो मधु) वाणीकी मीठास (मह्यं) मुझको (धेहि) दे।

हे मातृभूमि ! हमारे में से प्रत्येक के अन्दर वाणी की मधुरता रहे इस मधुरता से हम सब प्रजाजन संघ शक्तिसे प्रभावशाली बन कर संपूर्ण रीति से पूर्णता संपादन करें।

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्। शिवां स्योनामनु चरेम विश्व-हा ॥ १७ ॥

(ओषधीनां मातरं) औषधियों की माता अर्थात् उत्पादक, (शिवां) कल्याणकारक, (स्योना) सुखदायक और (धर्मणा धृतां) धर्मसे धारण की हुई (ध्रुवां

पृथिवी भूमि) स्थिर और विस्तृत भूमिकी (विश्व-हा) सर्वदा (विश्व स्वं) सर्वस्व अर्पण करके (अनु-चरेम) सेवा करें।

जो संपूर्ण औषधियों को उत्पन्न करती है, जो कल्याण देनेवाली तथा सुख-दायिनी है और धर्मसे जिसकी रक्षा की गयी है, ऐसी हमारी प्रशंसनीय मातृभूमि की सेवा, हम सब स्वयं-सेवक अपने सर्वस्व का अर्पण करके ही, सर्वदा करते रहें और मातृभूमिकी सेवासे हम कभी पीछे न हटें॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः॥
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा
पृथिवी कृणोतु॥ २२॥

(भूम्या) हमारी मातृभूमिमें (देवेभ्य) अग्न्यादि देवों के लिये (अर-कृतं) सुसंस्कृत किये हुए (हव्य) हवनीय पदार्थोंका (यज्ञ) यज्ञ (ददति) करते हैं। इसी (भूम्या) भूमि पर (मर्त्याः मनुष्या) मरण धर्मवाले मनुष्य (स्व-धया) अपनी धारणाशक्तिसे और अन्नसे (जीवन्ति) जीवित रहते हैं। इस प्रकार की (सा) वह (न पृथिवी भूमि) हमारी विस्तृत मातृभूमि हमारे लिये (प्राण) प्राण का बल, (आयु) दीर्घ आयु (दधातु) देवे और (मा) मुझे (जरदष्टिं) वृद्ध अर्थात् अति दीर्घ आयुसे युक्त (कृणोतु) करे॥

जिस भूमिमें देवोंके प्रीत्यर्थ यज्ञयाग और इष्टियां करते हैं और जहां सब मनुष्य उत्तम अन्नका भोग करके अपनी निज धारणाशक्तिसे उन्नत होते रहते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये आयु, आरोग्य और दीर्घ जीवन तथा बल देवे।

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥ २६॥

(शिला) शिला, (अश्मा) पत्थर, तथा (पांसु) धूलिरूप यह (भूमि) मातृभूमि है। (सा) उसका (सं-धृता) उत्तम रीतिसे धारण होनेपरही वह (धृता) सुरक्षित होती है। (तस्यै) उस (हिरण्य-वक्षसे) अपने अन्दर सुवर्ण धारण करनेवाली (पृथिव्यै) मातृभूमि के लिये मैं (नमः) नमन (अकरं) करता हूं।

जिसमें मिट्टी, पत्थर, शिला आदि है और सोना, चांदी आदि खनिज पदार्थ भी विपुल हैं, वही हमारी मातृभूमि है। इसका प्रथम मंत्रोक्त आठ गुणों से उत्तम प्रकार धारण होनेसे ही इसकी स्वतंत्रताकी रक्षा होती है। इसलिये इस प्रकार की वंदनीय मातृभूमि के लिये मेरा प्रणाम है।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि॥ २७॥

(यस्यां) जिसमें (वानस्पत्याः वृक्षा) वनस्पतियां और वृक्ष (विश्वहा) सदा (ध्रुवा) स्थिर (तिष्ठन्ति) रहते हैं। उस (विश्व-धायसं) सबका धारण करनेवाली और जिसका हमने (धृतां) धारण किया है, ऐसी (पृथिवीं) मातृभूमिका (अच्छ आ वदामसि) हम स्वागत करते हैं ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष, वनस्पतियां और विविध औषधियां सदा फूलती और फलती हैं, जो हम सबका धारण कर रही हैं और हम सब (प्रथम मंत्रोक्त आठ गुणोंके द्वारा) जिसका धारण कर रहे हैं, अर्थात् जिसकी स्वतंत्रताकी रक्षा कर रहे हैं, उस वन्दनीय मातृभूमिका हम सब स्वागत करते हैं ।

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।

पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥

(उदीराणा) उठते हुए (उत आसीना) और बैठे हुए (तिष्ठन्त) खड़े होते हुए, तथा (प्र क्रामन्त) चलते फिरते और दौड़ते हुए (दक्षिणसव्याभ्यां) दायें और बायें (पद्भ्यां) पावोंसे (भूम्यां) भूमिमें (मा व्यथिष्महि) कष्ट उत्पन्न न करें ।

हमारी किसी प्रकारकी हलचल राष्ट्र मे कष्ट उत्पन्न करनेवाली न हो ।

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा

वावृधानाम् । ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि

नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥

(वि-मृग्वरीं) विशेष खोज करनेके योग्य,(ब्रह्मणा) ज्ञानसे जिसकी (वावृधानां) वृद्धि होती है, (ऊर्जं) बलकारक (पुष्टं) पुष्टिकारक (घृतं अन्नभागं) घी और अन्न आदि भोग्य पदार्थ (बिभ्रतीं) धारण करनेवाली, (क्षमां) निवास करनेयोग्य (पृथिवीं) विस्तृत (भूमिं) मातृभूमिकी मैं (आ वदामि) प्रार्थना करता हूं कि हे (भूमे) मातृभूमि! (त्वा) तुझपर (अभि निषीदेम) हम सब बैठें ।

हमारी भूमि अत्यन्त उत्तम है, इसलिये उसकी अनेक प्रकारसे खोज होनी चाहिये। खोज करके उसका अधिकाधिक उपयोग करके अन्नपयादि भोग्यपदार्थ विशेष प्रकारसे प्राप्त करके हम अपना बल, पुष्टि, शक्ति और अन्य प्रकारका तेज बढाएं । और अधिक विस्तृत प्रदेश प्राप्त करके आनंद से बढ़ें।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥

हे (पृथिवी) मातृभूमि ! (शुद्धाः आपः) शुद्ध निर्मल जल (नः तन्वे) हमारे शरीरके लिये (क्षरन्तु) बहता रहे) (यः) जो (नः सेदुः) हमारा नाश करने का यत्न करेगा, (तं) उस दुष्टको हम (अ-प्रिये) अप्रियता में (नि दध्मः) रखें । मैं (मां) अपने आपको (पवित्रेण) पवित्रतासे (उत् पुनामि) उत्तम पवित्र करता हूं ॥

हमें सदा शुद्ध जल प्राप्त होता रहे और जल आदिसे हमारे शरीर पवित्र होते रहें। हम शुद्ध सरल और श्रेष्ठ आचार और विचारोंसे अपने आपको सदा पवित्र बनायें। और जो शत्रु हमारा नाश करनेका यत्न करे, उसको हम योग्य दंड दें॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपंथिनो वरीयो
यावया वधम् ॥ ३२॥

हे (भूमे) मातृभूमि ! (नः) हमको (मा पश्चात्) न तो पीछेसे, (मा पुरस्तात्) न आगेसे, (मा उत्तरात्) न ऊपरसे, (उत) और (न) न (अधरात्) नीचेसे (नुदिष्ठा) हटाओ। (न) हमारे लिये (स्वस्ति भव) कल्याणकारिणी हो। (परि-पथिन) बटमार चोर अथवा दुष्ट हमको (मा विदन्) न मिलें, और (वधं) मृत्युको हमसे (वरीय) बहुत दूर (यावय) हटा दे।

हमें किसी स्थानमें प्रतिबन्ध न हो, हम सब दिशाओंमें प्रगति करते हुए आगे बढें, कोई भी शत्रु हम पर हमला न करे, और किसी दुष्टके कारण हमारा वध न हो और सब प्रकार हमारा कल्याण हो।

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

हे (भूमे) मातृभूमि ! (यावत्) जब तक (मेदिना सूर्येण) आनन्ददायी सूर्यप्रकाशसे (ते) तेरा विस्तार (अभि वि पश्यामि) चारों ओर विशेष प्रकार से देखूं, (तावत्) तब तक (उत्तरां उत्तरां समा) अगली अगली आयुमें (मे चक्षु) मेरी चक्षु आदि इन्द्रियां (मा मेष्ट) क्षीण न हों।

सूर्यप्रकाशसे मातृभूमिके विस्तारका निरीक्षण करता हुआ मैं दीर्घजीवी बनूं, और आरोग्यसंपन्न होकर अन्त तक मेरी सपूर्ण शक्तियां अक्षीण रहें अर्थात् बढती जायं।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥३६॥

हे (पृथिवि भूमे) विस्तृत मातृभूमि ! (ते ग्रीष्म) तेरे ग्रीष्म, (वर्षाणि) वर्षा तथा शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ये (ऋतवः) ऋतु (ते हायिनी) तेरे वर्षोंके सम्बंधी समय तथा (अहोरात्रे) दिन और रात्रि अर्थात् ये सब काल (न) हमारे लिये (दुहातां) पूर्णता अर्पण करें।

अपनी मातृभूमि में संपूर्ण ऋतुओं में तथा मासों और दिनों में हमें पूर्णता प्राप्त हो।

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥

(यस्यां) जिस भूमिमें (सदो हविर्धाने) सभा और अन्नके स्थान हैं (यस्यां) जिसमें (यूप) यज्ञस्तंभ (निमीयते) खडा किया जाता है। (ब्रह्माण) ज्ञानीलोग जिसमें (ऋग्भि ···) ऋग्, साम और यजु मन्त्रोंसे (अर्चन्ति) ईश्वरकी उपासना करते हैं, और (यस्यां) जिसमें (ऋत्विज·) ऋतुके अनुसार यज्ञ करनेवाले यज्ञकर्ता लोग (इन्द्राय पातवे) *इन्द्रके पानके लिये (सोमं) सोमरसका (युज्यन्ते) उपयोग करते हैं।

हमारी मातृभूमिमें परिषद् और सत्र तथा अन्नके स्थान बहुत हैं। जहां यज्ञस्तंभ खडा किया जाता है और जहां ऋक् यजु और साम मन्त्रोंसे ईश्वर की उपासना की जाती है, और यज्ञोंमें जहां सोमरसका पान किया जाता है ।

यस्यां पूर्वे भूत-कृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

(यस्यां) जिस भूमिमें (पूर्वे) पूर्व (वेधस) ज्ञानी (भूतकृतः ऋषय) देश के भूतको बनानेवाले महापुरुष (सत्-त्रेण) सज्जनोंके पालन करनेके (यज्ञेन) सत्कर्म और (तपसा) तपके (सह) साथ (सप्त गा) सप्त इन्द्रियोंका, सप्त छंदों या वेदवाणीका (उत्-आनृचुः) उत्तम प्रकारसे सत्कार करते आये हैं।

हमारी मातृभूमिके संपूर्ण ज्ञानी जन प्रजापालक शुभ कर्म करते और अनुष्ठानसे गौ, वाणी और भूमिका सत्कार करते आये हैं। इस कारण हमारी मातृभूमि पवित्र है।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनु प्रयुंक्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

(सा) वह (न भूमि) हमारी मातृभूमि, (यत् धनं) जो धन हम (कामयामहे) चाहते हैं, हमें (आ दिशतु) देवे। (भग) धनवान् (अनु) पीछेसे (प्रयुङ्क्ताम्) चले, और (इन्द्र·) प्रमुख वीर (पुरोगव) अग्रगामी होकर (एतु) चले॥

उक्त प्रकारकी हमारी मातृभूमि हमें सब प्रकारका धन देवे। वीरलोग सबसे आगचलें और धनी उनके पीछे अनुकूलतासे धन द्वारा सहायता करें।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः। युध्य-

*इन्द्रो वै यजमान। श ब्रा २।१।२।११॥ इन्द्रो यज्ञस्य नेता। श ब्रा ४।१।१५॥ इन्द्रो यज्ञस्य देवता। ऐ ब्र ५।३४॥ इंद्र एव यदुद्गाता। जै उ. १।२२।२

न्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः। सा नो भूमिः
प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

(यस्यां) जिस (भूम्यां) मातृभूमिमें (वि-ऐलबा) विशेष प्रेरणा करनेवाले वीर (मर्त्या) मनुष्य (गायन्ति) गाते हैं और (नृत्यन्ति) नृत्य करते हैं। (यस्यां) जिसमें (आक्रन्द) गर्जना करते हुवे वीर लोग (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, और जिसमें (दुन्दुभि) ढोल (वदति) बजता है। (सा पृथिवी भूमि) वह हमारी विस्तृत मातृभूमि (न) हमारे (सपत्नान्) शत्रुओंको (प्रणुदतां) हटा देवे और (मा) मुझे (अ-सपत्नं) शत्रुरहित (कृणोतु) करे।

जिस मातृभूमिमें हम सब लोग आनंदसे गाते और नाचते हैं, जिसकी स्वतंत्रताके लिये हम युद्ध करते हैं और रणवाद्य बजाते हैं। वह हमारी मातृभूमि हमें शत्रुरहित करे और सब शत्रुओंको दूर भगा देवे।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पंच कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

(यस्याः) जिस भूमिपर (अन्नं) अन्न (व्रीहियवौ) चावल और जौ होते हैं, (यस्या) जिसपर (इमा) ये (पंच कृष्टय) पांच प्रकारके मनुष्य रहते हैं, उस (वर्ष-मेदसे) वर्षासे संबंध रखने वाली (पर्जन्य पत्न्यै) पर्जन्यसे पालन होनेवाली (भूम्यै) भूमिके लिये (नम: अस्तु) नमन हो।

जिस मातृभूमिमें विविध प्रकारका अन्न, धान्य, चावल, जौ आदि, विपुल होता है, वृद्धिसे जहांकी खेती उत्तम प्रकारकी होती है और जहां ज्ञानी शूर, व्यापारी, कारीगर और अशिक्षित लोग आनंदसे रहते हैं, उस मातृभूमिकी वंदना मैं करता हूं।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते। प्रजापतिः
पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

(यस्या) जिसके (पुर) नगर (देवकृता) देवता लोगोंने बनाये हैं, (यस्या) जिसके (क्षेत्रे) खेतोंमें मनुष्य (वि कुर्वते) विविध कार्य करते हैं, उस (विश्वगर्भा) सबको गर्भमें धारण करनेवाली (पृथिवीं) भूमिको (प्रजापति) प्रजापालक (आशां आशा) प्रत्येक दिशामें (न) हमारे लिये (रण्यां) रमणीय (कृणोतु) करे।

हमारी मातृभूमिमें जो नगर हैं, वे सब देवता लोगोंके बसाये हुए हैं, जहां सब मनुष्य विविध प्रकारके उद्योग करके अपनी उन्नतिका साधन करते रहते हैं, प्रजाओंका पालन करनेवाला प्रभु हरएक दिशामें इस मातृभूमिको अत्यंत रमणीय बनावे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

अपनी (गुहा) गुहाओंमें, खानोंमें (निधिं) निधि (बहुधा) अनेक प्रकारसे (बिभ्रती) धारण करनेवाली हमारी (पृथिवी) मातृभूमि (मे) मुझे (वसु) धन, (मणिं) रत्न और (हिरण्यं) सुवर्ण आदि (ददातु) देवे। (वसुदाः) धन देनेवाली (वसूनि) धनोंको (रासमाना) देती हुई (देवी) मातृभूमि (सुमनस्यमाना) मानो प्रसन्न मन होकर (नः) हमारा (दधातु) धारण करे।

जिसकी खानोंमें विविध प्रकारके रत्न, सोना, चांदी आदि धातु तथा अन्य प्रकारके विविध धन हैं, वह हमारी मातृभूमि अपना धन हमें ही देवे। अर्थात् कोई अन्य शत्रु आकर वह धन हमसे छीनकर अन्यत्र न लेजाने पावे। उस भूमिका धन वहांके जनोंके काममें ही आता रहे।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

(वि-वाचस) अनेक प्रकारकी भाषा बोलनेवाले तथा (नाना-धर्माणं) नाना प्रकारके कर्तव्य करनेवाले (जनं) मनुष्योंको (बहुधा) अनेक प्रकारसे (यथा ओकसम्) एकही घरमें रहनेके समान (बिभ्रती) धारण करनेवाली (ध्रुवा) स्थिर (पृथिवी) मातृभूमि (मे) मुझे (द्रविणस्य) धनकी (सहस्र धारा) सहस्र धाराएं (दुहां) दुहे=दे, जैसे (अनपस्फुरन्ती) निश्चल (धेनुः) गौ दूधकी धारा देती है।

अनेक प्रकारकी भाषाएं बोलनेवाले अथवा विविध विचारोंको धारण करने वाले, तथा विविध प्रकारके विभिन्न कर्तव्य करनेवाले मनुष्योंको एक घरके परिवारके समान जो मातृभूमि हम सबको समान रीतिसे धारण कर रही है, वह मातृभूमि हम सबको अनेक प्रकारका धन देवे।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

(ये) जो (ते) तेरे ऊपर (बहवः) बहुतसे (पन्थानः) मार्ग (जनायनाः) मनुष्योंके चलनेके योग्य हैं, और जो (रथस्य) रथके तथा (अनसः) छकडेके (यातवे) चलनेके लिये (वर्त्म) मार्ग हैं, (यैः) जिनसे (उभये भद्रपापाः) दोनों भले और बुरे (संचरन्ति) चलते हैं; (तं) उस (अनमित्रं) शत्रुरहित और (अतस्करं) चोररहित (पन्थानं) मार्गको (जयेम) हम जीतें। (यत्) जो कुछ (शिवं) कल्याण मंगल है, (तेन) उससे (नः) हमें (मृड) सुखी कर।

हमारी मातृभूमिके ऊपर आने जानेके जो मार्ग हैं, जिनपरसे चलने

फिरनेका हरएकको अर्थात् भले और बुरे मनुष्योंको भी समान अधिकार है, वे सब मार्ग हम सबके लिये शत्रुरहित हों, और उन परसे सबलोग निर्भय होकर आते जाते रहें।

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति । उलं वृकं पृथिवि दुच्छुना-मित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! (ये ते) वे जो (आरण्याः) वनमें उत्पन्न हुए (पशवः) पशु (हिताः) हितकारी (मृगाः) हरिण आदि हैं, और (पुरुष-अदः) मनुष्योंको खानेवाले सिंह, व्याघ्र आदि (चरन्ति) घूमते हैं। (उलं) वन बिलाव, (वृकं) भेडिये और (दुच्छुनां) क्रूर पशु (ऋक्षीकां) रीछनी आदि तथा (रक्षः) घातक जीवोंको (इत) यहां से (अस्मत्) हम से (अप बाधय) दूर कर।

सब क्रूर प्राणियोंको दूर और हितकारक प्राणियोंको पास करके मनुष्यों को अपनी उन्नति सिद्ध करनी चाहिये।

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि । यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्या वयंश्च वृक्षान् । वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

(यां) जिसपर (द्विपादः) दो पांव वाले (पक्षिणः) पक्षी हंस, (सुपर्णाः) गरुड, (शकुनाः) चिड़ियां, (वयांसि) कौवे कोकिल आदि (सं पतन्ति) उडते रहते हैं। (यस्यां) जिसपर (मातरि-श्वा) आकाशमें चलनेवाला (वात) वायु (रजांसि) धूलीको (कृण्वन्) उडाता हुआ और (वृक्षान्) वृक्षोंको (च्यावयन्) हिलता हुआ (ईयते) चलता है। तथा (अर्चिः) प्रकाश (वातस्य) वायुके (प्र वां) गमन और (उप वां) संकोचके (अनु) अनुकूल (वाति) चलता है।

हमारी मातृभूमिपर हंस, गरुड, शकुन आदि सब प्रकारके सुंदर पक्षी आनंदसे चलते हैं समय समय पर वायु ऐसे प्रचंड वेगसे चलता है कि जो धूलिको उडाता हुआ वृक्षोंको भी उखाड देता है। प्रकाश तथा वायुका आनंद भी इस देशमें विशेष है।

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि । वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ॥ ५२ ॥

(यस्यां) जिस (भूम्यां) भूमिके (अधि) ऊपर (अरुणं च कृष्णं) प्रकाश-युक्त और कृष्णवर्ण (अहो-रात्रे) दिन और रात्री (संहिते) आपसमें साथ मिले

हुए (विहिते) हैं। (वर्षेण) वृष्टिसे (वृता आवृता) व्याप्त होनेवाली (सा पृथिवी भूमिः) वह विस्तृत मातृभूमि (प्रिये धामनि धामनि) प्रत्येक रमणीय स्थानमें (नः) हम सबको (भद्रया) कल्याण-पूर्ण अवस्थासे (दधातु) युक्त रखे।

जिस मातृभूमिपर दिन और रात योग्य प्रमाणसे आते हैं, जहां उत्तम वृष्टि होकर उत्तम फल फूल होते हैं, वह भूमि हमें प्रत्येक स्थानमें कल्याण देनेवाली हो।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

(भूम्यां) मातृभूमिपर (अहं) मैं (सहमानः) सहन शक्तिसे युक्त और (नाम) यशसे (उत्-तरः) अधिक श्रेष्ठ (अस्मि) हूं। मैं (अभी-षाड्) विजयी, (विश्वा-षाड्) विश्वको जीतनेवाला तथा (आशां आशां) प्रत्येक दिशामें (विषासहिः) शत्रुका पराजय करनेवाला (अस्मि) हूं।

अपनी मातृभूमिमें मैं श्रेष्ठ हूं और हरएक प्रकारके विजय प्राप्त करनेकी शक्ति रखता हूं। अर्थात् मातृभूमिके हरएक भक्तको अपनी इतनी उन्नति करनी चाहिये, कि उसका विजय सर्वत्र होता रहे। और उसके कारण मातृभूमिका नाम चारों दिशाओंमें फैले।

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

हे (देवि) भूदेवि! (यत् पुरस्तात्) जब आगेको (देवैः) देवोंने तुझे (प्रथमाना उक्ता) विशाल मानकर तेरा वर्णन किया, और (अदः महित्वम्) इस तेरे महत्वको चारों ओर (व्यसर्पः) फैलाया, (तदानीं) तब (सु-भूतं) उत्तम ऐश्वर्य (त्वा) तुझे (आ विशत्) प्राप्त हुआ और तूने (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंको (अकल्पयथाः) समर्थ किया।

ज्ञानी लोगोंने मातृभूमिका महत्व जान लिया, उसका प्रकाश किया और संपूर्ण जनताको समझा दिया। इससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग शक्तिमान् हुए हैं। इसी प्रकार जो लोग मातृभूमिकी भक्ति करेंगे, वे भी विलक्षण प्रभावशाली हो जायंगे।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

(ये ग्रामाः) जो गांव, (यत् अरण्यं) जो वन, (याः सभाः) जो सभाएं, (भूम्यां अधि) भूमि पर हैं, तथा (ये संग्रामाः) जो युद्ध होते हैं, और जो (समितयः) संमेलन होते हैं, (तेषु) उन सबमें (ते) तेरे विषयमें (चारु) सुन्दर आदर युक्त (वदेम) भाषण करें।

मातृभूमिपर जो ग्राम, नगर, प्रान्त, वन, अरण्य, पर्वत आदि स्थान होते हैं, उनस्थानोंमें जोजो सभायें, समितियें, परिषद्, महासभायें, तथा संमेलन अथवामेले होते हैं। किंवा युद्ध होते हैं. उन सब में मातृभूमिके विषयमें उत्तम आदर ही व्यक्त करना हरएकको आवश्यक है।

यद्वदा॑मि मधु॑मत्तद्व॑दामि यदीक्षे॑ तद्व॑नन्ति मा।
त्विषी॑मानस्मि जूति॑मानवान्यान्ह॑न्मि दो॑धतः ॥ ५८॥

(यत् वदामि) जो कुछ भी मैं बोलता हूं (तत्) वह (मधुमत् वदामि) मधुरता युक्त ही बोलता हूं। इसलिये (यत्) जो (ईक्षे) मैं देखता हूं, (तत्) उस के अनुसार (मा वनन्ति) मुझपर वे सब लोग प्रीति करते हैं। मैं (त्विषिमान्) तेजस्वी और (जूतिमान्) वेगवान् (अस्मि) हूं और (दोधत अन्यान्) घातक शत्रुओंको मैं (अवहन्मि) सब प्रकारसे नष्ट करता हूं।

मैं सदा मधुर भाषण करता हूं और मित्र दृष्टिसे सबको देखता हूं, इस लिये सब लोग मुझपर प्रेम करते हैं। मैंने अपने अन्दर ज्ञानका तेज और कर्म का वेग बढाया है, इसलिये मैं सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका नाश करता हूं। तात्पर्य यह है, कि मधुर भाषण और मित्रदृष्टिसे सर्वत्र प्रेम फैलाना चाहिये और सघशक्ति बढानी चाहिये। तथा हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह अपने अन्दर ज्ञान का तेज और कर्म का वेग बढा कर सज्जनों की रक्षा करे और दुर्जनों को दूर करे।

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥

(शन्ति-वा) शांति वाली, (सुरभिः) सु-गंधयुक्त, (स्योना) सुखदायिनी, (कीलालोध्नी) अन्नरसयुक्त, (पयस्वती) दूधसे युक्त, (पृथिवी भूमि) विशाल मातृभूमि (पयसा सह) दूध और अन्नके साथ (मे) मुझे (अधि ब्रवीतु) कहे ॥

शांतिसे परिपूर्ण आनंददायिनी तथा अन्न और पेयोंसे भरपूर हमारी मातृभूमि है, वह मुझे जो आज्ञा करेगी, उसे मैं उस के लिये करने को उद्यत रहूंगा। हरएक को उचित है, कि वह अपनी मातृभूमिके लिये हरएक प्रकारका अर्पण करने को उद्यत रहे ॥

त्वम॑स्यावप॑नी जना॑नामदि॑तिः कामदुघा॑ पप्रथा॒ना।
यत्त॑ ऊनं तत्त॒ आ पू॑रयाति प्रजाप॑तिः प्रथमजा ऋतस्य॑ ॥ ६१ ॥

हे मातृभूमि! (त्वं) तू (आवपनी) बडी उपजाऊ अतएव (जनानाम्) लोगों को (कामदुघा) इच्छा किये पदार्थ देनेवाली और (पप्रथाना) प्रख्यात (अदिति) देवमाता अथवा मातादेवी (असि) है। इस लिये (यत् ते ऊनं) जो

तेरे लिये न्यून होगा, (तत् ते) वह तेरे लिये (ऋतस्य प्रथमजा) सत्यका प्रथम प्रवर्तक अथवा उसका प्रेरक (प्रजा पतिः) प्रजा पालनेवाला (आ पूरयाति) पूर्ण करता है।

भूमिसे धान्यादिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये यही इच्छित पदार्थ देने वाली कामधेनु है। जो जो इस भूमिमें न्यून होता है, उसकी पूर्ति धान्यादि बोकर उस को जल देनेवाला खाद आदि प्रबंधसे करता है। जो इस प्रकार अधिक से अधिक धान्यकी उत्पत्ति करता है, वही सच्चा प्रजापालक है। इसलिये हरएक को उचित है, कि वह जलादिके उत्तम प्रबंध द्वारा भूमिसे धान्यादिकी उत्पत्ति अधिकाधिक करे और इस प्रकार प्रजापालन करता रहे॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥६२॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि! हम (ते प्रसूताः) तुझसे उत्पन्न, तेरे पुत्र हैं। अतएव (उप-स्थाः) तेरी गोद, आश्रयस्थानके सब पदार्थ (अस्मभ्यं) हम सबके लिये (अन मीवा) आरोग्य-कारक और (अयक्ष्मा) रोग रहित (सन्तु) होवे। (नः) हमारी (आयुः) आयु दीर्घ होवे। और (वयं) हम सब (प्रति बुध्यमानाः) उत्तम ज्ञानी बनकर (तुभ्यं) तेरे लिये (बलि-हृत) अपनी बलि देनेवाले (स्याम) होवें॥

मातृभूमिसे उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थ वहांके रहनेवालोंकोही मिलें और वे पदार्थ नीरोगता उत्पन्न करानेवाले, आरोग्य बढानेवाले, पुष्टि करानेवाले हों, तथा दीर्घ आयु बढानेवाले हों। इस प्रकार वहांके सब लोग पुष्ट, बलवान् और दीर्घायु होकर अपने सर्वस्वका बलि अपनी मातृभूमिके सामने रखनेके लिये उद्यत हों। इस प्रकारकी अवस्था जहां होगी, वही देश सुखसे युक्त होगा।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥६३॥

हे (मातः भूमे) मातृभूमि! (मा) मुझे (भद्रया) कल्याण अवस्थासे (सु प्रतिष्ठितम्) युक्त (नि धेहि) रख। हे (कवे) काव्यमयी मातृभूमि! तू (दिवा) प्रकाशके साथ (सं विदाना) संबंध रखती हुई (मा) मुझे (श्रियां) संपत्ति और (भूत्यां) ऐश्वर्यमें (धेहि) धारण कर।

जो मातृभूमिके भक्त कल्याणके मार्गसे उन्नतिका साधन करते हैं, वे ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित होकर संपत्ति और ऐश्वर्यसे परिपूर्ण होते हैं। इस लिये हरएक मनुष्य ज्ञान विज्ञानसे युक्त होकर मातृभूमिकी भक्ति करे और स्वयं-सेवक होकर मातृभूमिकी सेवा करे।

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथः॥ ऋ. १।२२।१५॥

हे (पृथिवि) मातृभूमि ! हमारे लिये तू (स्योना) सुख देनेवाली, (अन् ऋक्षरा) कंटक रहित, (निवेशनी) हमारा निवास करनेवाली (भर्ष) हो। और (सप्रथः) कीर्तिके साथ (शर्म) सुख हमें (यच्छ) दो।

मातृभूमि अपने पुत्रोंको सुख देनेवाली, कंटकरहित, और पुत्रोंके निवासके लिये विस्तृत स्थान देनेवाली तथा कीर्तिके साथ सुख देनेवाली होवे।

वीर-सूक्त ।

अथर्व० ११ । ६ ॥

मातृभूमिकी स्वतंत्रताकी रक्षा के अर्थ युद्ध करने की तैयारीकी सूचना देने वाले निम्नलिखित मंत्र है। इनका विचार करने से इस युद्ध विषय में अपनी तैयारी किस प्रकार करनी चाहिये, इसका पता वैदिक धर्मियों को लग सकता है। इस विषय की देवता "अर्बुदि" है। "अर्व्" धातु का अर्थ (गतौ, हिंसायां) गति और हिंसा करना है। शत्रु के ऊपर हमला करने और उस का नाश करने वाला वीर अथवा सेनापति इस पद का धात्वर्थ है। इस अर्थ को लेकर इस सूक्त के मंत्रों का विचार कीजिये—

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च। असीन्
परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि। सर्वं तदर्बुदे त्वम-
मित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ १ ॥

हे (अर्बुदे) शूरवीर ! शूर पुरुषों के (ये बाहवः) जो बाहु, (या इषवः) जो बाण, (च) और (धन्वनां) धनुष्यों के (वीर्याणि) जो पराक्रम हैं, तथा (असीन्) तलवारें, (परशून्) कुल्हाड़े, (आयुधं) शस्त्रास्त्र जो कुछ हैं, (च) तथा (हृदि) अंतःकरण में (यत्-चित्त-आकूतं) जो विचार और संकल्प हैं, (तत् सर्वं) उन सब को (त्वं) तू (अ-मित्रेभ्यो) शत्रुओं के सामने (दृशे कुरु) दीखने योग्य कर, और (उदारान्) उदार भावों को (प्रदर्शय) दिखा।

वीरों के जो बाहुबल और शस्त्र अस्त्र आदि हैं, तथा अन्तःकरण के अन्दर जो विचार और संकल्प हैं, उनको शत्रु के साथ युद्ध करने के समय अवश्य बरतना चाहिये। हरएक शस्त्रास्त्र को तथा विविध युक्तियों और उपायों को बरत कर शत्रु का पराजय और अपना विजय सम्पादन करना चाहिये। तथापि शत्रु के साथ युद्ध करने के पूर्व, युद्ध के समय तथा युद्ध के पश्चात् भी मन की उदारता के साथ सब व्यवहार करना चाहिये।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
संदृष्टा गुप्ताः वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ २ ॥

हे (मित्राः) मित्रदलके लोगो ! (यूयं) तुम (देवजनाः) देवता सदृश लोग हो। अब तुम (उत्तिष्ठत) उठो और (सं नह्यध्वं) योग्य रीतिसे तैयार हो आओ। हे (अर्बुदे) वीर! (या नः मित्राणि) जो हमारे मित्र हैं, वे (वः) तुम लोगोंके (संदृशाः) ठीक प्रकार देखे हुए और तुम्हारेसे (गुप्ता) सुरक्षित (सन्तु) होवें।

जो स्वयंसेवक अपने मित्र होकर, अपने दलके साथ रहकर, अपने शत्रुके साथ युद्धकरनेके लिये आते हैं, उनको "मित्रदल" कहते हैं। जो स्वार्थत्यागसे दुष्ट शत्रुको हटानेके लिये होनेवाले युद्धमें अपनी आहुती देनेको सिद्ध होते हैं, वे देवताओंके समान पूज्य होनेके कारण उनको "देव-जन" कहते हैं। इन सब वीरोंको युद्धके दिनोंमें सदा सर्वदा सब प्रकारसे सिद्ध अर्थात् तैयार रहना उचित है। किस समय युद्धका अवसर होगा इसका पता नहीं होता है, इस लिये सर्वदा सब प्रकारसे तैयार रहना आवश्यक होता है। युद्धके समय अपने मित्रोंको सुरक्षित रखना चाहिये, और शत्रुओंपर ही हमला करना चाहिये।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसन्दानाभ्याम्।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ ३ ॥

हे (अर्बुदे) वीर! (उत्तिष्ठत) उठो (आदान-सन्दानाभ्याम्) पकडने और बांधनेके उपायोंसे चढाईका (आरभेथाम्) आरम्भकरो। और (अमित्राणां सेना) शत्रुओंकी सेनाओंपर (अभिधत्तम्) चढाई करो।

युद्धके समय संपूर्ण तैयारी करके चढाईका प्रारंभ करना चाहिये, और चारों ओरसे शत्रुसैन्यको पकडने, घेरने और बांधनेके उपायोंसे उस शत्रुसैन्य पर हमला करना चाहिये॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परिवारय ॥ ५ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) देवता सदृश मनुष्य शूर सेनापति वीर! (त्वं) तू (सेनया सह) सेनाके साथ (उत्तिष्ठ) उठ। (अमित्राणाम्) शत्रुओंकी (सेनां) सेनाको (भञ्जन्) नष्ट भ्रष्ट करता हुआ, (भोगेभिः) सेनाकी व्यूह रचनाके द्वारा शत्रुका पेसा नाश हो जाय, कि फिर वह शत्रु न उठ सके।

उद्वेपय सं विजन्तां भियाऽमित्रान्त्सं सृज।
उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्याऽमित्रान्न्यर्बुदे ॥ १२ ॥

हे (अर्बुदे) वीर पुरुष ! शत्रुको (उद्वेपय) कंपा दे, (सं विजन्तां) शत्रु घबरा जाय, (अमित्रान्) शत्रुको (भिया सं सृज) भययुक्त कर। (उरु ग्राहैः) पकडनेके यन्त्रोंसे तथा (बाह्वङ्कैः) बाहुओंके चिन्होंसे अथवा बाहुबन्धनोंसे (अमित्रान्) शत्रुको (निविध्य) वेध ले।

शूर पुरुषों को उचित है कि वे शत्रुसैन्यपर हमला करके उनमें भय उत्पन्न होनेके समान घोर युद्ध करें, जिससे शत्रुके सब लोग भयभीत हो जायं। विविध प्रकारके यन्त्रों और उपायोंसे शत्रुका सब ओरसे पकडनेका यत्न करें।

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि।
मैषामुच्छेषि किंचन रदिते अर्बुदे तव ॥ १३ ॥

(एषां) इन शत्रुओंके (बाहव) बाहु (मुह्यन्ताम्) मोहित हो जांय, तथा (हृदि) हृदयमें (यत्) जो (चित्त-आकूतम्) विचार और संकल्प हों, वे भी मूढ हो जांय। हे (अर्बुदे) वीर! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेके पश्चात् (एषाम्) इन शत्रुओंमेंसे (किंचन) कोई एक भी (मा उच्छेषि) शेष न रहे।

शत्रुपर ऐसा जोरका हमला करना चाहिये, कि जिससे शत्रुके सब सैनिक घबरा जांय और पागलसे बनें, तथा उनके कोई भी संकल्प और विचार स्थिर न रह सकें।

उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः।
जयांश्च जिष्णुश्चाऽमित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥ १८ ॥

हे (अर्बुदे) शूरवीर! (अमित्राणाम्) शत्रुओंके (अमू सिचः) इन सेना पंक्तियोंको (त्वं उद्वेपय) तू कंपा दे। (अमित्रान्) शत्रुओंको (जयन्) जीतनेवाला और (जिष्णु) जयशाली वीर ये दोनों (इन्द्र-मेदिनौ) प्रभुके साथ रहते हुए (जयताम्) विजय प्राप्त करें।

शूरवीर ऐसा युद्ध करें, कि शत्रुकी सेना के सैनिक कांपने लग जांय। शत्रुको पराजित करनेवाले तथा जिनको जय प्राप्त हुआ है, ये दोनों प्रकार के वीर सदा परमेश्वरको स्मरण करें और अपने विजयसे घमंड न करें। परमेश्वरका ध्यान करके अपने चित्तको स्थिर और पवित्र रखें। यदि चित्त घमंडसे युक्त हो, तो विजय नहीं मिल सकता। इसलिये विजयी वीरों को तो अवश्यही परमेश्वरभक्ति करनी चाहिये।

तयाऽर्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥ २० ॥

हे (अर्बुदे) शूरवीर! (शचीपतिः इन्द्रः) शक्तिवाला सेनेन्द्र अर्थात् सेना-विभागोंका अध्यक्ष (प्रणुत्तानाम्) भागनेवाले (अमित्राणाम्) शत्रुओंके (वरं वरं) मुखिया मुखिया को चुन चुन कर (हन्तु) मारे। (अमीषाम्) इनमेंसे (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छूटे।

"शची" का अर्थ है "वाणी, गति, त्वरा, शक्ति, युक्ति"। शत्रुका पराजय करनेमें युक्तियोंका चातुर्य से उपयोग करनेवाला सेनापति ऐसी योजना करे, कि शत्रुके मुखिया वीर चुन चुन कर मारे जांय और उनमें से कोई भी न बचे।

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राणः उदीषतु।
शौष्कास्यमनु वर्ततामभित्रान् मोत मित्रिणः ॥ २१ ॥

शत्रुओंके (हृदयानि) हृदय (उत्कसन्तु) उकस जावें, हिल जावें। (प्राण·) उनका प्राण (ऊर्ध्वं उदीषतु) ऊपर चला जाए, (शौष्कास्यं) मुखका सूख जाना (अमित्रान् अनु) शत्रुओंके प्रति (वर्तताम्) होजावे, (उत्) परन्तु (मित्रिण· मा) हमारे मित्रदल में ऐसा न होवे।

अपने सैन्यसे ऐसा युद्ध कराना चाहिये, जिससे शत्रु के दिल उखड़ जांय उनमें घबराहट हो, उनका मुख सूख जाए और उनके प्राण स्थान पर न रहें। परन्तु अपने सैन्यमें ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिये, कि जिससे अपने सैनिकों के हृदय आत्मविश्वाससे परिपूर्ण रहें, प्राण में घबराहट उत्पन्न न हो, तथा व्यवस्था और स्वास्थ्य बल आदि सब उत्तम अवस्था में स्थिर रहें। ऐसा होनेसे ही अपना विजय हो सकता है।

ये च धीरा ये चार्धीराः पराञ्चो बधिराश्च ये। तमसा
ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः। सर्वांस्ताँ अर्बुदे
त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ २२ ॥

(ये च धीरा) जो धैर्यशाली हैं, (ये च अधीराः अधि·ईरा·) और जो विशेष बढ़नेवाले हैं, (पर·अञ्च) जो शत्रुपर वेगसे हमला करनेवाले हैं तथा (ये च बधिरा बधिरा) जो शत्रुसैन्यका वध करनेमें कुशल हैं, (ये च तमसा) जो धुएंके अस्त्रका उपयोग करनेवाले हैं और जो (तूपराः) शत्रुका छेदन भेदन करनेमें प्रवीण हैं, (अथो) तथा जो (बस्ताभिवासिन) छेदक शस्त्रका प्रयोग करनेमें निपुण हैं, (तान् सर्वान्) उन सबको, हे (अर्बुदे) वीर! (त्वं) तू (अमित्रेभ्यः) शत्रुओंके (दृशे कुरु) सामने दृष्टिगोचर कर। (च) और साथ साथ (उदारान् प्रदर्शय) उदार भावोंको दिखा।

अपने वीरोंमें जो अत्यन्त युद्धनिपुण वीर हों, उनके द्वारा शत्रुओंके ऊपर अत्यन्त वेगसे हमला करना चाहिये जिससे शत्रुओंका समूल उच्छेद हो सके। तथापि मनकी उदारता भी दिखानी चाहिये।

(१) धीर-(धी+र) जो धी अर्थात् बुद्धिसे काम करते हैं और अत्यन्त विकट प्रसंगमें भी उत्तम सलाह देते हैं, तथा सब कार्य धैर्यसे करते हैं, वे वीर "धीर" होते हैं। (२) अधीर-(अधि+ईर)=जो त्वरासे आगे बढते, तथा वेगसे शत्रुपर आक्रमण करते हैं, उनको "अधीर" कहा जाता है। (३) पराञ्च्— (परं+अञ्च्)=पर अर्थात् जो शत्रु हैं, उस पर जो आक्रमण करते हैं, उनका नाम "परांच्" होता है। (४) बधिर (वधिर)=शत्रुका वध करनेमें कुशल जो

होते हैं वे "बधिर" कहे जाते हैं। ब और व का अभेद होनेसे "वधिर" भी कहे जाते हैं। या शत्रुका घात हुआ देखकर जो खूनके दृश्यसे डरते नहीं वे निडर मनुष्य भी बधिर" कहलाते हैं। (५) तमसः=वह हैं, कि जो धूवेंके अस्त्र फेंकते हैं। धूम्रास्त्रका उल्लेख अ० ३।२।६ इस मंत्रमें आता है। (६) वस्तऽअभिवासिन्-काटनेवाले शस्त्रका नाम "वस्त" है, (वस्त्-अर्दने हिंसायां) इस हथियारसे लडनेवाले ये हैं। ये सब वीरोंके नाम हैं जो वैदिक युद्धकौशलको प्रकट कर रहे हैं।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना

यूयम्। इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥२६॥

(तेषां सर्वेषां) उन सबके (ईशाना) शासक होकर रहनेवाले हे (मित्रा देवजना) मित्र और देवता लोगो! (यूयं) तुम (उत्तिष्ठत) उठो और (स नह्यध्वं) तैयार हो जाओ। (इमं संग्रामं) इस युद्धको (संजित्य) उत्तम प्रकार जीतकर (यथा-लोकं) अपने अपने स्थानको (वि तिष्ठध्वम्) चले जाओ।

युद्धके समय सब सैनिक सदा तैयार रहें और अपनी पूर्ण शक्तिसे शत्रुके साथ लडें। जो हमारे सत्यके पक्षके साथ लडनेको उद्यत हुए हैं, वे मित्रदलके सैनिक देवतालोग ही हैं। इस युद्धमें जय प्राप्त होनेके पश्चात् वे अपने स्थानको चले जांय। परन्तु पूर्ण रीतिसे जय प्राप्त होनेतक उनका यहां रह कर ही युद्धमें अपना अपना कार्य अवश्य ही करना चाहिये।

युद्ध सूक्त।

(अथर्व० ११।१०)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।

सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ १ ॥

हे (उदारा) उदार पुरुषो! (उत्तिष्ठत) उठो और (केतुभि सह) झंडोंके साथ (सं नह्यध्वम्) संनद्ध हो जाओ। (सर्पा) सांपके समान घातक,(इतर—जना) अन्य अर्थात् शत्रुलोग हैं, तथा (रक्षांसि) राक्षस क्रूर (अमित्रान्) शत्रु हैं, उन सब पर (अनु धावत) धावा करो।

"उदार" पुरुष उनका नाम है, कि जो सबसे अधिक आत्मसमर्पण करता है। शूर वीर युद्धमें अपना जीवन ही देता है और जीवन सबसे अधिक प्रिय वस्तु है। इसलिये युद्धमें आनेवाले क्षत्रिय ही सबसे अधिक "उदार" पुरुष होते हैं।

वे सब वीर अपने राष्ट्रीय झंडे साथ लेकर युद्धकी तैयारी करके उद्यत रहें और योग्य समयमें शत्रुपर धावा करें।

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ २ ॥

हे (त्रि-संधे) शस्त्रधारी वीर! (वेद) मैं जानता हूं कि (अरुणैः) रक्तवर्ण (केतुभि सह) झंडोंके साथ रहनेवाले (ईशां वां) आप वीर शासकोंका ही (राज्यं) जो राज्य है, उसमें तथा जो अन्तरिक्षमें, द्युलोकमें तथा पृथिवीपर (दुर्णामान मानवा) दुष्ट मनुष्य हैं, वे ही (ते त्रि-सन्धेः) तुझ शस्त्रधारी वीरके (चेतसि) अन्तःकरणमें (उप आसते) रहते हैं।

"त्रि-सन्धि" शस्त्र वह होता है, कि जिसकी तीन धाराएं रहती हैं और वह तीनों ओरसे काटता है। जो वीर इस शस्त्रका उपयोग करते हैं, उनका भी यही नाम होता है।

जो वीर अपने राष्ट्रीय झण्डेकी रक्षाके लिये युद्ध करते हैं, और विजय प्राप्त करते हैं, वेही राष्ट्रके संरक्षक होनेके कारण सच्चे शासक हैं। और सब राज्य उनका ही है। इन वीरोंके मनमें वे ही लोग होते हैं कि जो दुष्ट और उपद्रवी होते हैं, अर्थात् इनका वेध हमेशा दुष्ट मनुष्योंपर ही होना चाहिये। वीर पुरुष दुष्टोंका शासन करें और शिष्टोंका पालन करें। यही शासन है। जो इस प्रकारका शासन करते हैं वेही क्षत्रिय "ईश" कहलाते हैं।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥ ५ ॥

हे (देवजन) देवतासमान (अर्बुदे) वीर सेनापते! अपनी (सेनया सह) सेनाके साथ (त्वं) तू (उत्तिष्ठ) उठ। (अयं बलि) यह भेंट (व·) आप सबके लिये (आहुतः) दी गई है। (त्रि-संधे·) शस्त्रधारियोंके लिये (आहुति· प्रिया) भेंट प्रियही होती है।

वीर अपनी सेनाके साथ चढाई करे। चढाईके लिये जो वीर नियुक्त हुए हों, उनको भेंट अवश्य देनी चाहिये।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरं वरम् ।
अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

हे (न्यर्बुदे) वीर! (अमित्रा) शत्रुओंको (मूढा) पागलसे बनाओ। (एषां) इनके (वरं वरं) मुखियाओंको (जहि) मार। (अनया) इस (सेनया) सैन्यसे (जहि) शत्रुको मार दे।

शत्रुके साथ ऐसा युद्ध करना चाहिये, कि शत्रु पागल बन जाय अर्थात्

उनका सिर ठिकानेपर न रहे। शत्रुके वीरोंमेंसे चुन चुन कर मुखिया वीरोंको मार दे।

यश्च कवची यश्चाऽकवचो ३ मित्रो यश्चाज्मनि।

ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥ २२ ॥

(य च कवची) जो कवचधारी, (य च अकवच) जो कोई कवचहीन है, (यः च अज्मनि) और जो युद्धमें (अ मित्र) शत्रु हुआ है, वह (ज्या पाशैः) धनुष्यकी डोरीके फंदोंसे, तथा (कवचपाशै) कवचोंके पाशोंसे (अज्मना) युद्धकी दौड़से (अभिहत) मारा जाकर (शया) सोवें।

कवचधारी, विना कवच अथवा अन्य प्रकारका जो कोई शत्रु बनकर युद्ध करनेके लिये आजाय, उसका पूरा पूरा अंत करना चाहिये।

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः।

सर्वांस्ताँ अर्बुदे हतांछ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥ २३ ॥

(ये अमित्रा वर्मिण) जो शत्रु कवचधारी हैं और जो (अवर्माण) विना कवच वाले हैं, तथा (ये वर्मिण) जो झिलमवाले हैं, हे (अर्बुदे) शूर वीर! (तान् सर्वान्) उन सब (हतान्) मारे गयोंको (श्वान) कुत्ते (भूम्यां) भूमिपर (अदन्तु) खावें।

कवचादि धारण करनेवाले अथवा न धारण करके लड़नेवाले जो शत्रु हों उन सबका निःपात पूर्ण रीतिसे करना चाहिये।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।

सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥ २४ ॥

(ये रथिन) जो रथी हैं (ये अ-रथा) जो रथी नहीं हैं, (असादा) वाहनरहित हैं, और जो (ये च सादिन) वाहिनमें बैठे हैं (तान् सर्वान्) उन सब (हतान्) मारे गयोंका (गृध्रा) गीध, (श्येना) श्येन तथा अन्य (पतत्रिण) पक्षी (अदन्तु) खावें।

युद्धमें रथी, पैदल आदि सबका ही वध करना चाहिये।

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्।

विविद्धा ककजाकृता ॥ २५ ॥

(वधानां समरे) शूरोंके युद्धमें (विविद्धा) छेदी हुई, (ककजा कृता) व्यास से दुःखी, (आमित्री सेना) शत्रुकी सेना (सहस्र कुणपा) हजारों मुर्दोंसे युक्त होकर (शेतां) सो जावे।

युद्धमें शत्रुसैन्यके सहस्रों सैनिकोंका वध करना चाहिये।

शत्रु का पराभव करना चाहिये।

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुतादेव इन्द्र युधये चिकेतति। अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान्वनुयाम सङ्गमे ॥ ऋ. १०।३८।३॥

हे (पुरुष्टुत) प्रशंसित' (इन्द्र) प्रभो! जो दास या आर्य अथवा (अदेव') राक्षसी स्वभाववाला दुष्ट (न युधये) हमारे साथ युद्ध करना (चिकेतति) चहाता है, (ते शत्रव') वे सब शत्रु (अस्माभि) हमारे द्वारा (सुसहा॰ सन्तु) पराजित हों, और हम (त्वया) तेरे साथ रहकर (सगम) युद्धमें (वनुयाम) विजय प्राप्त करेंगे।

दास आर्य अथवा राक्षस जो कोई हो, जो शत्रुता करेगा, उसको पराजित करना और अपना विजय संपादन करना चाहिये।

यो नो अग्नेऽभिदासत्यन्ति दूरे पदीष्ट सः। अस्माकमिद्वृधे भव ॥ ऋ. १।७९।११॥

हे (अग्ने) तेजस्वी देवे! (य) जो (अति दूरे) पास अथवा दूर (न अभिदासति) हमें दास करनेकी इच्छा करता है, (स पदीष्ट) वह नीचे गिर जावे। हे देव'! तू (अस्माकं वृधे) हमारी वृद्धिके लिये हो।

दास अथवा नाश करनेवाले जो होंगे वे सब शत्रु नष्ट होने योग्य हैं। इन शत्रुओंको नाश करके अपनी वृद्धि पूर्णतासे सपादन करनी चाहिये।

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्। स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥ अ. ३।१।१॥

(विद्वान् अग्नि) ज्ञानी सेनानायक (अभिशस्ति-अराति) विनाशक शत्रु को (प्रतिदहत्) भस्म करता हुआ (न शत्रून्) हमारे शत्रुओं पर (प्रति एतु) चढ़ाई करे। (स) वह (जात-वेदा) धन प्राप्त करने वाला (परेषां सेनां) शत्रु की सेना को (मोहयतु) मोहित करे (निर्हस्तान् च कृणवत्) तथा उनको कार्य करने में असमर्थ बनावे।

(जात-वेदा॰) जात अर्थात् प्राप्त वेधस् धन जिसको शत्रु के धन प्राप्त होते हैं। (अग्निर्वै देवानां सेनानी॰) अग्नि देवों में सेनापति है।

सेनापति शत्रु पर ऐसा हमला करे कि उनको वह मूढसा बनावे और उनका धन छीन ले तथा उनको कार्यक्षम न रखे।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभिप्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः
प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥ अ. ३।१।२॥

हे (मरु-उत) शत्रुको मारनेवाले वीरो! (यूयं) तुम (ईदृशे उग्रा.) ऐसे शूर हो। कि तुम (अभि प्रेत) आगे बढो, (मृणत) मारो और (सहध्वं) जीत लो, (इमे नाथिता) ये स्वामिभक्त (वसव.) वसनेवाले वीर (अमीमृणन्) शत्रुको मार रहे हैं, (एषा दूत) इन का दूत (विद्वान् अग्नि) ज्ञानी सेनापति भी (प्रत्येतु) चढाई करे।

वसनेवाले लोग शूर होने चाहिये, शत्रुपर हमला करनेवाले शूर वीर सदा आगे बढते रहें!

अमित्रसेनां मघवन्नस्मान् छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥ अ. ३।१।३॥

हे (मघवन्) धनयुक्त (वृत्रहन्) शत्रुनाशक (इन्द्र) प्रभो! वीर! तू (अग्नि) तथा तेजस्वी सेनापति दोनों मिलकर (अस्मान्) हमारे साथ (शत्रूयतीं) शत्रुत्व करनेवाली (अमित्र-सेनां) शत्रुकी सेनापर (अभि) चढाई करके उनको (प्रति दहत) जला डालो।

वीर और सेनापति ये सब मिलकर शत्रुपर हमला करें, कि उनका पूर्ण पराभव हो।

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्ति-
मरातिम्। स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च
कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥ अ. ३।२।१॥

(न दूतः) हमारा दूत (विद्वान् अग्नि) ज्ञानी सेनापति (अभिशस्ति अराति) घातक शत्रु को (प्रतिदहन्) जलाता हुआ (प्रति एतु) चढाई करे वह (परेषां चित्तानि) शत्रु के चित्तों मे (मोहयतु) भ्रम उत्पन्न करे। वह (जात-वेदा) शत्रु धन प्राप्त करने वाला वीर सैनिकों को (नि. हस्तान्) हस्त रहित अर्थात् कार्य करने में असमर्थ बनावे।

वीर शत्रु पर ऐसा हमला करे कि शत्रु भ्रान्त हो जांय और उनको भी न सके। इस प्रकार भयंकर हमला चढा कर शत्रु के सैनिकों को निकम्मा बनादे।

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥४॥ अ. ३।२।४॥

(एषां आकूतयः) इन शत्रुओं के विचार (वि इत) विरुद्ध दिशासे भाग जावें और इनके चित्त (मुह्यत) भ्रम युक्त हों। और (यत्) जो कुछ (अद्य) आज इनके (हृदि) मनमें है (तत्) वह इनसे (परि निर्जहि) पराभूत होने से नाशको प्राप्त हो।

वीरोंका हमला ऐसा होवे, कि जिससे शत्रुके विचार नष्ट हो जाए और उनके मन भ्रांतियुक्त हो जाएं। उनके विचार ठिकाने पर न रहें।

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे
परेहि। अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रां-
स्तमसा विध्य शत्रून्॥ ५॥ अ. ३।२।५॥

हे (अप्वे) सेना! (अमीषां चित्तानि) इन शत्रुओंके चित्तों और (अंगानि) अंगोंको (प्रति मोहयन्ती) मोहित करती हुई (गृहाण) पकड रख और (परा इहि) पीछे आ अर्थात् शत्रुको पकड कर यहां लेआ, (अभि प्रेहि) शत्रुपर चढाई कर और शत्रुओंके (हृत्सु) हृदयोंमें (शोकैः) दुःखोंसे (निर्दह) जलन पैदा कर दे। (ग्राह्या) पकडने की युक्तिसे और (तमसा) तमसास्त्रसे (अमित्रान् शत्रून्) दुष्ट शत्रुओंको (विध्य) छेद डाल॥

शत्रुपर हमला करके शत्रुसैनिकोंको कैद कर लाना चाहिए। उन पर ऐसा हमला करना चाहिये कि उनके मन दुःखसे जलें, और भ्रमयुक्त हों। पकडनेके जाल और तमसास्त्रसे शत्रुपर चढाई करनी चाहिए। इस तमसास्त्र किंवा धूम्रास्त्रका वर्णन अगले मन्त्रमें है।

घातक लोग।

मा नो विदन् विव्याधिनो मा अभिव्याधिनो विदन्।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय॥ अ. १।१९।१

(विव्याधिनः) शत्रु (नः मा विदन्) हम तक न पहुंचे। और (अभिव्याधिनः) मारनेवाले घातक लोग (मा विदन्) हमारे पास न पहुंचें। हे इन्द्र (विषूचीः शरव्याः) सब ओर फैलनेवाले बाण (अस्मत् आरात्) हमसे दूर (पातय) गिरा। सब घातक लोगोंसे अपना स्थान सुरक्षित रखना चाहिये।

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत॥ अ. १।१९।२॥

(ये) जो बाण (अस्ता) छोडे गये हैं और जो (विष्वंच) चारों ओर (अस्या) छोडे जायेंगे, वे (शरव) बाण (अस्मत्) हमसे दूर (पतन्तु) गिरें। (दैवी मनुष्येषवः) दैवी और मानवी बाण (मम अमित्रान्) हमारे शत्रुओंको (वि विध्यत) विद्ध करें।

शत्रुके बाणोंसे अपने आपको तथा अपने पक्षके वीरों को सुरक्षित रखकर अपने शस्त्रोंसे शत्रुका नाश करना चाहिये।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति। रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् विविध्यतु॥ अ. १।१९।३॥

(य न स्व) जो हमारा अपना (य अरण) जो दूसरा जो (सजात) स्वकीय, (उत निष्ट्य) अथवा जो निषाद अथवा हीन शत्रु बनकर (अस्मान् अभि दासति) हमको दास बना रहा है, हमारा नाश कर रहा है (एतान् मम अमित्रान्) इन मेरे शत्रुओंको (शरव्यया) बाणों से (रुद्र) वीरनायक (विविध्यतु) छेद डाले।

अपना नाश करनेवाला मनुष्य अपना हो या दूसरा दूर का हो, स्वजातीय हो या हीन संस्कारोंका हो, स्वदेशी हो, या विदेशी हो, स्ववर्णीय हो या अन्य वर्णका हो, कोई हो, जो अपना नाश करनेका यत्न कररहा है उसका नाश करना चाहिए।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः। देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ अ. १।१९।४॥

(य सपत्न) शत्रु अथवा (य अ-सपत्न) मित्ररूप शत्रु परन्तु (य च) जो (न. द्विषन्) हमारा द्वेष करता हुआ (शपाति) बुरा कहता है, अथवा हमारा बुरा चाहता है, (सर्वे देवा) सब देव (त धूर्वन्तु) उसका नाश करें। और (मम अतर) मेरे पास (ब्रह्म वर्म) ज्ञानका कवच संरक्षणके लिये हो।

जो हमारा नाश करता है, उसका प्रतिबन्ध करना चाहिये। और ज्ञानसे अपना बचाव करना चाहिये।

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥ य. ३६।२३॥, ३५।१२॥

(आप ओषधय.) जल और औषधियां (न) हम सबके लिये (सुमित्रिया) हितकारक (सन्तु) होवें। तथा (तस्मै) उस एकके लिये (दुर्मित्रिया) दुःखकारक (सन्तु) होवें, कि (य) जो अकेला दुष्ट (अस्मान् द्वेष्टि) हम सबका द्वेष करता है, (यं च) और जिस एकका (वयं) हम सब (द्विष्म) द्वेष करते हैं।

हम सबको जल, औषधि, आदि पदार्थ हितकारक होवें। परन्तु जो थोड़े आदमी सबका द्वेष करते हैं, ऐसे अल्प दुष्ट मनुष्योंको जल और औषधि आदि पदार्थ अहितकर होवे।

पिशाच।

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि॥ अ. ८।२।१२॥

(अ-रातिं) दान न करनेका भाव (नि ऋतिं) दुःखमय अवस्था, (आरात्) दूर रहे। (ग्राहिं) न छोडनेवाली पीडा, (क्रव्याद पिशाचान्) मांसभक्षक और रुधिर पान करनेवाले और जो (दुर्भूतं रक्ष) दुःखदायी दुष्ट प्राणी हैं (तत् सर्व) वह सब (तम इव) अंधकारके समान (अप हन्मसि)नष्ट कर देता हूं।

मनके बुरे भाव, रोग, पीडा, मांस भक्षण करना, और रक्त पीना आदि सब दुष्ट भाव दूर करने चाहिए। "निर्ऋति" उनको कहते हैं, कि जो ऋत नियमों-सत्य नियमोंके अनुकूल चलते नहीं। "क्रव्याद्" वह होते हैं, कि जो मांस भक्षण करते हैं। "पिशाच" उनका नाम है कि जो रक्त पीते हैं। "रक्ष." वे दुष्ट हैं कि जो क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं। इस प्रकारके लोगोंको समाजसे दूर करना चाहिये।

दुष्टोंको दूर भगाओ।

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः।
वसु स्पार्हं तदा भर। ऋ. ८।४५।४०॥

(विश्वा द्विष) सब द्वेषी शत्रुओंका (अप भिंधि) नाश कर। (बाधः मृध) बाधा करनेवाले संग्राम-कारिओंको (परि जहि) सब प्रकारसे नाश करो और पश्चात् (स्पार्हं वसु आभर) प्रशंसनीय धन प्राप्त कर।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये (१) शत्रुओंका नाश और (२) विघ्न करनेवालोंका घात करके (३) अनुकूल धन प्राप्त करना चाहिए।

दुष्टके शासनमें न रह।

रक्षा मा किर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत। मा
नो अद्य गवां स्तेनो माऽवीनां वृक ईशत॥ अ. १९।४७।६॥

(रक्ष) हमारी रक्षा करो (कि अघशंस) कोई भी पापी दुष्ट (मा ईशत) हम सबपर शासन न करे। (नो दुःशंस ईशत) कोई दुराचारी हमपर हुकूमत न चलावे। (गवां स्तेनः) गाय, भूमि, वाचा, आदि पदार्थोंकी चोरी करनेवाला हमारा स्वामी न बने। तथा (अवीनां वृक) बकरियों, संरक्षकों और ग़रीबोंका भेड़िया कभी स्वामी न बने, अर्थात् ग़रीबोंका संहार करनेवाला कभी बड़ा अधिकारी न बने।

शत्रुको दबाना।

सं वो मनांसि संव्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामासि ॥ अ. ३।८।५॥

(वः मनांसि सं) तुम्हारे मन उत्तम हों, (व्रता सं) कर्म ठीक हों, (आकूतीः सं नमामसि) संकल्प भी ठीक उत्तम हों, (अमी ये) जो ये (विव्रताः स्थन) विरुद्ध कर्म करनेवाले शत्रु हैं (तान् वः) उनको (सं नमयामासि) ठीक रीतिसे नम्र करते हैं।

अपने पक्षके मनुष्योंके मानसिक विचार, संकल्प और कर्म उत्तम प्रकारके अर्थात् एक विचारसे भरे हुए होने चाहिएं। तथा जो विरोधी और विरुद्ध कर्म करनेवाले शत्रु हैं, उनको ठीक प्रकार नम्र करके रखना चाहिए, अर्थात् शत्रुको ऊपर उठने नहीं देना चाहिये।

शत्रुको जड़से उखाड़ना।

परा ह यत्स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु ।
वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम् ॥ ऋ. १।३९।३॥

हे (नर) नेताओ, आप जो स्थिर होता है, उसको (परा हथ) दूर ढकेलते हैं जो (गुरु) बोझवाला होता है, उसको (वर्तयथा) फेंक देते हैं, तथा आप पृथ्वीपरके वनों, पर्वतों, और (आशा) सब दिशाओंमें (वि याथन) जाते हैं।

जो वीर होते हैं, वे स्थिर दृढमूल शत्रुओंको उखाड़ कर फेंक देते हैं, जो भारी होते हैं, उनको अपने स्थानसे हटा देते हैं; तथा वनों, पर्वतों और पत्थरोंमेंसे मार्ग निकालकर अपना विजय संपादन करते हैं, अर्थात् वीर पुरुषोंको कुछ भी अशक्य नहीं है।

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति ।
अप स्म तं पथो जहि ॥ ऋ. १।४२।२॥

हे (पूषन्) पोषक प्रभो ! (य. न) जो (अघः) पापी (वृकः) क्रूर, हमारे धनोंको हरनेवाला डाकू, (दु शेव) जिसकी सेवा करना अशक्य है, ऐसा जो दुष्ट मनुष्य (न आदिदेशति) हमपर हुकूमत करे (तं) उसको (पथः) मार्गसे (अप जहि) हटा दे।

पापी क्रूर घातकी मनुष्यको तत्काल समाजसे दूर करना चाहिये।

अप त्यं परिपंथिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्।
दूरमधि स्रुतेरज ॥ ऋ. १।४२।३॥

(त्यं परिपंथिनं) उस बटमार, (मुषीवाणं) चोर, (हुरश्चितं) कुटिल पापीको (स्रुते) मार्गसे दूर (अधि अप अज) भगा दे।

चोर लुटेरे डाकू कुटिल पापी आदि जो दुष्ट लोग हों, उनको समाजसे हटाना उचित है।

त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्य चित्।
पदाभि तिष्ठ तपुषिम् ॥ ऋ. १।४२।४॥

(तस्य द्वयाविन) उस धोखेबाज़ (अघशंसस्य) पापीके (तपुषिं) क्रोधपर अपना (पदा अभितिष्ठ) पांव रख।

जो धोखेबाज, छली, कपटी और पापी हों उनको दबाकर रखना चाहिये।

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान्।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्धि सहस्व च॥ अ. ३।६।६॥

हे अश्वत्थ ! (यथा) जिस प्रकार तू (वानस्पत्यान् आरोहन्) वृक्षोंपर आरूढ होकर (अधरान्) उनको नीचे (कृणुषे) करता है, (एवा) इस प्रकार (मे शत्रोः मूर्धानं) मेरे शत्रुके सिरको (विष्वक् भिन्धि) सब प्रकार तोड दे, और (सहस्व) उनको जीत ले।

जिस प्रकार पीपल दूसरे वृक्षोंपर फैलता है, और दूसरे वृक्ष उसके नीचे होजाते हैं, ठीक इस प्रकार शत्रुको नीचे रखना चाहिये और उनकी अपेक्षा अपनी उच्चता स्थापित करनी चाहिये। अर्थात् शत्रुका पराजय सब प्रकारसे करना चाहिये।

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बंधनात्।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनं ॥ अ. ३।६।७॥

(इव) जिस प्रकार (बंधनात् छिन्ना नौः) बंधनसे छूटी हुई नौका नीचे जाती है, उसी प्रकार (ते अधरांचः प्रप्लवन्तां) वे शत्रु नीचे होकर गिरते हैं। गिरे हुए मनुष्योंका (पुनः) फिर (निवर्तनं) लौटना नहीं हो सकता।

सब शत्रुओंका पूर्णतासे अधःपात होवे, क्योंकि एकवार निःशेष अधःपात होगया, तो फिर उनका उठना संभव ही नहीं है।

दुष्टका नाश

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि। वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ अ. २।१२।३॥

हे (सोम-प इन्द्र) सोमपालक प्रभो! (इदं) यह सुन, (यत्) जो मैं (शोचता हृदा) शोकपूर्ण हृदयसे (त्वा) तुझे (जोहवीमि) कहता हूं। (कुलिशेन वृक्षं इव) जिस प्रकार कुल्हाडे से वृक्ष को काटते हैं, उस प्रकार मैं (तं वृश्चामि) उस को काट डालूं, (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं मनः) इस मन को (हिनस्ति) हानि पहुंचाता है॥

मनके उत्साहको नष्ट करना बहुत बुरा है। इसलिये जो जनताके मनों को कमजोर बनाता है, उसको समाजसे दूर करना चाहिये। किसी मनुष्यको इस प्रकार समाजसे हटाना शोककी बात है, परन्तु सबकी भलाई के लिये एकका त्याग करना उचित है॥

चोर डाकू आदिकोंको दूर करना।

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्। अ. १।१६।१॥

(ये अत्रिणः) जो भूखे भटकनेवाले खाउ लोग (अमावास्यां रात्रिं) अमावसी की रात्रिमें (व्राजं) मनुष्य संघपर (उदस्थुः) चढाई करके आते हैं, उन (यातुहा) दुष्टोंका नाश करनेवाला (सः तुरीयः अग्निः) वह वेगवान् तेजस्वी (अस्मभ्यं) हमारे लिये (अधि ब्रवत्) अच्छे शब्द बोले।

डाकू लोग रात्री के समय, विशेषतः अमावसीकी रात्री में डाका डालने

के लिये आते हैं, उनका नाश करना चाहिये। तेजस्वी शूर मनुष्य उनका नाश करे और सज्जनों की रक्षा करे।

शत्रु-पराजय की भेदनीति।

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे। विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान्दुन्दुभे जहि॥ अ. ५।२१।१॥

हे दुंदुभि! (अमित्रेषु) वैरियोंमें (विहृदयं) हृदयकी व्याकुलता, (वैमनस्यं) मनकी चिंता, (वद) कहदे (विद्वेषं) फूट द्वेष (कश्मशं) विरोध और भय (अमित्रेषु) वैरियोंमें (निदध्मसि) हम उत्पन्न करते हैं। हे दुन्दुभि! (एनान्) शत्रुओं को (अव जहि) पराजित करदे।

ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, कि जिससे शत्रु सैन्यमें फूट, आपसमें वैर, वैमनस्य, व्याकुलता, कष्ट, दुःख, आपसका विरोध और भय उत्पन्न हो। यही भेदनीति है, इससे अपना विजय होता है।

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च। धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते॥ अ. ५।२१।२॥

(आज्ये हुते) घृतका हवन होनेसे, अपने सत्वकी आहुति देनेसे (बिभ्यतः अमित्राः) डरनेवाले शत्रु (प्रत्रासेन) घबराहटके साथ तथा मन, चक्षु, और हृदयसे (उद्वेपमानाः) कांपते हुए (धावन्तु) भाग जाएं।

अपने पराक्रमसे शत्रु भयभीत होकर भागने लगें और मन हृदय तथा इन्द्रियोंमें थरथराते रहें।

ज्याघोषा दुंदुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः। सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः॥ अ. ५।२१।६॥

हमारे (ज्या घोषा) धनुष्यकी डोरीके शब्द तथा दुंदुभिके शब्द (दिश) सब दिशाओंमें (अभिक्रोशन्तु) गर्जना करते रहें। (अमित्राणां) शत्रुओंकी (पराजिता सेना) पराजित सेना (अनीकश) अपने समूहों के साथ (यती) भागती रहे।

अपने सैन्यसे ऐसा पराक्रम हो कि जिससे शत्रुका पूर्ण पराजय हो और सेना के विभागके विभाग ही घबराकर भाग जाएं

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः। अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा॥ अ. ५।२१।१२॥

(पता सूर्यकेतव) यह सब सूर्यकी पताका लेकर युद्ध करनेवाली (सचेतस.) शांत चित्तवाली (देव-सेना) दिव्य सेना (नः अमित्रान्) हमारे शत्रुको (जयन्तु) जीते (स्व आ हा) अपना सर्वस्व अर्पण करते हैं।

हमारी सेना सूर्यचिन्हांकित ध्वज-झंडे-लेकर शांतचित्तसे अर्थात् न घयराती हुई, योग्य पराक्रम करके शत्रुका पूर्ण पराजय करे। शत्रुका पूर्ण पराजय करनेके लिए हम अपने सर्वस्वकी आहुति देते हैं। जिस समय सब लोग शत्रुको पराजित करनेके लिए आत्मसर्वस्व अर्पण करेंगे, उसी समय विजय प्राप्त होगा॥

युद्ध के बीच में स्थिति।

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। तत्रा नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥

ऋ. ६।७५।१७॥

(विशिखाः कुमारा) शिखा हीन कुमारों के समान जिस युद्धमें बाण गिर रहे हैं, (तत्र) उस युद्धमें (अदिति ब्रह्मणस्पति) अखंडित ज्ञानका अधिपति (नः शर्म यच्छतु) हमें सुख दे। (विश्वाहा) सर्वदा सुख दे॥

[चूडाकर्म-मुंडन-में जिस प्रकार बाल सघन और एकदम गिरते हैं उस प्रकार युद्धमें बाण शत्रुपर गिरते हैं]

हस्तघ्न तथा युद्धके अन्य साधन।

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः। हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः॥

ऋ. ६।७५।१४॥

(हस्त-घ्न.) हाथ का रक्षण करने वाला गोधाचर्म का कवच, (ज्याया हेतिं) धनुष्य की डोरी के आघात का (परिबाधमानः) निवारण करता हुआ (बाहुं) बाहु को (अहिः इव) साप के समान (भोगैः) लपेटों से (परि एति) लपेटा जाता है। इस प्रकार के कवच से सुरक्षित और (विश्वा वयुनानि) सब कर्मों को (विद्वान्) जानने वाला (पुमान्) पुरुषार्थी मनुष्य (पुमांसं) पुरुषार्थी मनुष्यों का (विश्वतः) सब प्रकार से (परिपातु) संरक्षण करे।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ ऋ. १।३९।२॥

(वः आयुधा) आपके शस्त्रास्त्र (पराणुदे) शत्रुओंको दूर भगाने के लिये (स्थिरा) सुदृढ़ रहें। (उत प्रतिष्कभे) और शत्रुओं का प्रतिबन्ध करने के लिये (वीळू) बलवान् रहें, (युष्माकं) तुम्हारी (तविषी) शक्ति (पनीयसी) प्रशंसनीय (अस्तु) होवे। (मायिन मर्त्यस्य) कपटी दुष्ट मनुष्य की शक्ति बढ़कर (मा) न होवे।

अपने शस्त्रास्त्र शत्रुओंसे बढकर और अधिक कार्यक्षम होनेसे ही अपना विजय होता है। इसलिये सदा इस विषय में दक्षता धारण करनी चाहिये कि अपने शत्रुके बलकी अपेक्षा सब प्रकारसे अपना बल अधिक रहे।

स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्।

सुसंस्कृता अभीशवः॥ ऋ. १।३८।१२॥

(वः नेमय) आपके रथ-चक्रकी नाभियां (स्थिरा) दृढ़ (सन्तु) होवें। रथ और घोडे भी सुदृढ़ हों, तथा (अभीशवः) लगामभी (सुसंस्कृताः) उत्तम बने हुए हों।

रथ, चक्र, चक्रनाभी, घोडे, तथा लगाम आदि दृढ न होनेसे कष्ट होगा, इस लिये वेदका उपदेश है कि ये अच्छे सुदृढ रखे जाएं। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रकी सुरक्षाके लिये युद्धके संपूर्ण शस्त्रास्त्र सदा उत्तम अवस्थामें रखना क्षत्रियोंका आवश्यक कर्तव्य है।

सीसे की गोली से वेध।

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदंग यातुचातनम्॥ अ. १।१६।२॥

वरुणने (सीसाय) सीसेके लिये (अध्याह) विशेष प्रकार कहा है। अग्निभी सीसेके लिये (उप अवति) विशेष रक्षा करता है। इन्द्रने (मे) मुझे (सीसं) सीस (प्रायच्छत्) दिया है। हे (अंग) प्रिय! (तत्) वह सीस (यातुचातनं) डाकुओंका नाश करनेवाला है।

वरुण जलकी देवता, अग्नि आगकी देवता, और इंद्र विद्युत्की देवता है। ये तीनदेव सीसपर प्रीतिकरते हैं। इसलिये यह सीस डाकुओंका नाश करनेवाला होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जल, अग्नि, और विद्युत्से संस्कार किया हुआ सीसा अर्थात् सीसेकीगोली डाकुओंका नाश करती है। आगे चतुर्थ मंत्रमें कहेंगे कि सीसकी गोलीसे डाकुआदि दुष्टोंका वेध करो अर्थात् उनपर गोली चलाओ।

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥ अ. १।१६।३॥

(इदं) यह सीस (विष्कन्धं) डाकुओंको (सहते) पराभूत करता है, (इदं) यह (अत्रिण) खाउओं, दुष्टोंको (बाधते) हटाता है। (या पिशाच्या जातानि) जो पिशाच अर्थात् रुधिर पीनेवाली क्रूर जातियां हैं, उन (विश्वा) सब को (अंहन) इससे (सलेह) मैं जीतता हूं।

सीसेकी गोली डाकु, दुष्ट, लुटेरे, तथा क्रूर प्राणि/आदिकोंपर चलाकर उन को दूर करना चाहिये।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ अ. १।१६।४॥

यदि (न गा) हमारी गौकी (हंसि) हिंसा करेगा और यदि हमारे अश्व और हमारे मनुष्य की हिंसा करेगा तो (त त्वा) तुझ को (सीसेन) सीसे से (विध्याम) हम वेधते हैं, (यथा) जिससे (न) हमारेमें (अ-वीर हा अस) वीरों का नाश करनेवाला कोई न होवे।

गौ, घोड़ा, मनुष्य, आदिकी हिंसा करनेवाले, तथा लडकर (वीर) आदिका नाश करनेवाले, और पूर्वोक्त प्रकारके दुष्ट, डाकु, लुटेरे, आदि जो कोई हमला करनेवाले हों, उनपर गोली चलानी चाहिये और उनको दंड देकर सज्जनोंकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये।

धूम्रास्त्रका प्रयोग।

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा
स्पर्धमाना। तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषा-
मन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥ अ. ३।२।६॥

हे (मरुतः) वीरो ! (परेषा) शत्रुओंकी (असौ या) यह जो सेना (अस्मान्) हमपर (अभि ओजसा) चारों ओरसे बलके साथ (स्पर्धमाना) स्पर्धा करती हुई (आ एति) चढ़ी आती है। (तां) उसको (अप व्रतेन) नियमहीन कर्महीन करनेवाले (तमसा) धूम्रके अस्त्रसे (विध्यत) छेद डालो, जिससे इनमेंसे (अन्यः अन्यं) कोई किसीको (न जानात्) न जान सके।

शत्रुकी सेना जिस समय अपने ऊपर चढाई करके आरही हो, उस समय शत्रुपर धूम्रास्त्र फेंक कर उनकी ऐसी अवस्था बनानी चाहिये, कि उनके सैनिकोंमें से कोई एक दूसरेको न जान सके। इस प्रकार शत्रुका पराभव करना चाहिये।

शूरा इवेद्युयुधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे । भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजान इव त्वेषसंदृशो नरः ॥ ऋ. १।८५।८॥

(शूरा इव) शूर वीरोंके समान (युयुधय) युद्ध करनेवाले, (श्रवस्यव न) यशकी इच्छा करनेवालोंके समान (जग्मय न) हमला करनेवालोंके समान (पृतनासु येतिरे) युद्धोंमे प्रयत्न करते हैं। (मरुद्भ्य) मरनेके लिये तैय्यार हुए वीरोंसे सब भुवन (भयन्ते) भयभीत होते हैं। ये (नर) नेता लोग (राजान इव) राजाओंके समान (त्वेष संदृश) तेजस्वी दिखाई देते हैं।

वीर पुरुष विजयप्राप्ति, यश, आदिके उद्देश्यसे उत्तम युद्ध करें। जिस से लोग उनसे डरें और शत्रु भी भय खायें।

प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना । भद्रान् कृण्वन्निंद्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥ ऋ. ९।९६।१॥

शूर सेनानायक रथोंके अग्रभागमें होता है, उससमय उसकी सेना हर्षयुक्त होती है। वह सेनापति (सखिभ्यः) मित्रोंके लिये कल्याणकारक बातें करता है, इस प्रकारका यह होम (रभसानि वस्त्रा) चमकीले वस्त्र (आदत्ते) पहनता है।

❋ वैश्य ❋

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुर एता नो अस्तु । नुदन्नरातिं परिपंथिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥ अ. ३।१५॥

(अहं) मैं (इन्द्रं वणिजं) ऐश्वर्यसंपन्न वणिक्को (चोदयामि) आगे प्रेरित करता हू। वह (न एतु) हमारे पास आवे और (न पुरः एता अस्तु) हमारा अगुआ होवे। (अ-रातिं) वैरी (परि पंथिनं) डाकू और (मृगं) पशुवृत्ति वाले शत्रुको (नुदन्) दूर करके (स) वह (मह्यं) मुझे (धनदा) धन देनेवाला (अस्तु) होवे।

धनी वणिक उत्तम नगरमे आकर अपना व्यापार व्यवहार करे। व्यापार

व्यवहारमें तीन शत्रु होते हैं, (१) अराति अ-दाता अर्थात् कंजूस, (२) परि-पंथी कुमार्गसे व्यवहार करनेवाला, और (३) मृग-पशुवृत्तिवाला। इन शत्रुओंको दूर करके, स्वयं औदार्य, सुमार्ग तथा मनुष्य वृत्तिसे व्यवहार करके खूब धन कमावे तथा धनका सत्पात्रमें दानभी करे।

ये पंथानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी
संचरन्ति। ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा
धनमाहराणि ॥ २ ॥ अ. ३।१५॥

(ये बहवः पंथानः) जो बहुतसे मार्ग (देवयाना) व्यवहारी मनुष्योंके जाने योग्य (द्यावापृथिवी अंतरा) इस जगतमें (संचरन्ति) हैं, (ते) वे मार्ग (पयसा घृतेन) दूध और घीसे (मा जुषन्तां) मुझको तृप्त करें, जिससे मैं (क्रीत्वा) व्यापार व्यवहार करके धन (आहराणि) लाऊं।

व्यापार वृद्धिके लिये संपूर्ण मार्गोंपर खान पानका प्रबंध उत्तम होना चाहिये, जिससे देश देशांतरमें वैश्य उत्तम प्रकार भ्रमण करके वहां विविध व्यापार व्यवहार करके धन प्राप्त कर सकते हैं। खान पानके कष्ट जहां होते हैं, अथवा जहां खानपानादिका योग्य प्रबध नहीं होता, वहां व्यापारकी सुविधा नहीं होती है।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छ-
मानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो
देवान्हविषा निषेध ॥ ५ ॥ अ. ३।१५॥

हे (देवा) देवो! (धनेन) मूल धनसे (धन इच्छमानः) धनकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन) जिस धनसे (प्रपणं चरामि) व्यापार चलाता हूं, (तत्) वह (मे) मेरा धन (भूयः भवतु) बहुत होवे, (मा कनीय) कम न होवे। हे (अग्ने) तेजस्विन्! (सातघ्न: देवान्) लाभमें हानि करनेवाले व्यवहार कर्ताओंको (हविषा निषेध) रोक दे।

जो धन व्यापारमें लगाया होता है, वह बढता जाये कम न होवे। हानि पहुंचानेवालोंको दूर करके लाभ करनेवालोंको पास करना चाहिये। इस प्रकार स्वदेश और परदेशमें बहुत व्यवहार करके अधिकाधिक धन कमाना चाहिये।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छ-
मानः। तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमादधातु प्रजापतिः
सविता सोमो अग्निः ॥६॥ अ. ३।१५॥

हे देवो! जिस धनसे मैं व्यापार कर रहा हूं और अपने लगाये धनसे अधिक धनकी इच्छा करता हूं। (तस्मिन्) उस व्यवहारमें मेरी रुचि (इन्द्र प्रजापति सविता सोम अग्नि) परमैश्वर्यवान प्रभु (आ दधातु) स्थिर करे।

व्यापारमें लगाये हुए धनसे धनकी वृद्धि होनी चाहिये। इसके लिये जो कुछ व्यवहार किया जाय उसमें तन, मन धन लगाकर पूर्ण शक्तिसे कार्य करना चाहिये। कदापि बीचमें छोडना नहीं चाहिये। कई लोग आज एक धंदा करते हैं, उसमें लाभ न हुआ तो कल दूसरा करते हैं, इस प्रकार चंचल लोग कदापि विजय नहीं प्राप्त कर सकते। दिल लगाकर काम करनेसे हरएक धंदेमें विजय मिल सकता है।

इस रीतिसे देश देशांतरोंमें बडे बडे उद्योगधंदे और वाणिज्य व्यवहार करके अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करना चाहिये। परन्तु कदापि बुरा व्यवहार करनेकी चेष्टा करनी नहीं चाहिये।

गोशाला आदि की व्यवस्था।

व्रजं॑ कृणुध्वं॒ स हि वो॑ नृपाणो॒ वर्मं॑ सीव्यध्वं बहु॒ला पृ॒थूनि॑।
पुरः॑ कृणुध्व॒माय॑सी॒रधृ॑ष्टा॒ मा वः॑ सुस्रोच्चम॒सो दृंह॑ता॒ तम् ॥

ऋ. १०।१०१।८॥ अ. १९।५८।४॥

(व्रजं कृणुध्वं) गोस्थानको तुम बनाओ, (स हि) वही (व नृपाण) आपका पानस्थान है। (बहुला पृथूनि) बहुत बडे (वर्म सीव्यध्वं) कवचोंको सीओ। (आयसी) लोहेके (अधृष्टा पुर) अटूट दुर्गरूप नगरोंको (कृणुध्वं) बनाओ। (व चमस) आपका बर्तन (मा सुस्रोत्) न चुए।

(१) बहुत गौओंसे युक्त गोशाला बनाओ और (२) वहां दूध पीनेका स्थान रखो। गौका ताजा दूध तुम्हारे वीर पीएं और हृष्टपुष्ट हों। (३) बडे बडे सुदृढ कवच सीकर तैयार रखो। (४) अपने नगरोंके चारों ओर किले बनाओ, जो सदा अभेद्य हों। (५) तथा बर्तन टूटे हुए न रखो।

गोशाला।

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सुभू॑त्या।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥१॥ अ. ३।१४॥

(सुषदा गोष्ठेन) जिसमें उत्तम और स्वच्छ बैठनेका स्थान है, ऐसी गोशालासे (रय्या) शोभा और (सुभूत्या) उत्तम सुखके साथ मैं गौओंको

(सं सं सं) मिलाकर रखता हूं। (अह. आतस्य) दिनके समय उत्पन्न होनेवाले प्रकाशका (यत् नाम) जो यश है, (तेन) उससे (व) तुम्हारी गौवोंको (ससृजामसि) मिलाकर रखता हूं।

गौवोंका स्थान अत्यंत स्वच्छ, निर्मल, पवित्र, शोभायुक्त तथा सुख देनेवाला होना चाहिये। तथा गौवोंको सूर्यके प्रकाशमें अवश्य घुमाना चाहिये।

संजग्माना अबिभ्युषिरस्मिन्गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥ अ. ३।१४।।

(अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशालामें (अ-बिभ्युषी) निर्भय होकर रहने वाली (संजग्माना) मिलकर भ्रमण करनेवाली, (करीषिणी) गोबर उत्पन्न करने वाली-खाद उत्पन्न करनेवाली, (सोम्य) अमृत रूप (मधु) मीठा रस-दूध (बिभ्रती) धारण करनेवाली गौवें (अनमीवा) निरोग होकर (उपेतन) हमारे पास आ जाए।

गोशालामें स्थान ऐसा हो कि, जहां किसी प्रकारका भय गौवोंको न होवे। गौवोंसे प्रेमके साथ बरतना चाहिये। भयभीत और क्रोधित गौवोंका दूध हानिकारक होता है। गौवें अमृतरस धारण करती हैं। परन्तु अपवित्र स्थानमें रहनेसे वही अमृत विषमय होकर रोग उत्पन्न करता है। इसलिये सावधानता रखकर पूर्ण स्वच्छता युक्त स्थानमें गौवोंको रखना चाहिए। गौवोंका गोबर खादके लिये उत्तम होता है। इसलिये उसको खादके लिये ही रखना चाहिये।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥४॥ अ. ३।१४॥

हे (गाव) गौओ! (इह एव एतन) यहां आओ। (इह) यहां (शका इव पुष्यत) शक्तिमान्‌के समान पुष्ट करो। और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्व) बच्चोंको उत्पन्न करो। (मयि) मुझमें (व. संज्ञान) तुम्हारा प्रेम (अस्तु) हो।

गौवें हृष्टपुष्ट होनी चाहियें और बछड़े भी उत्तम होने चाहियें, तथा मालिकका प्रेम गौवोंपर और गौवोंका स्वामीपर प्रेम होना चाहिये।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥ अ. ३।१४॥

(वः गोष्ठ.) तुम्हारी गोशाला (शिव.) मंगलमय (भवतु) होवे। (शारिशाका इव) चावलके खेतके समान (पुष्यत) पुष्ट होओ। (इह एव प्रजायध्वं) यहांही संतानसे बढ़ो। (मया) अपने साथ तुमको (संसृजामसि) जोड़ता हूं।

गोशाला अत्यन्त पवित्र और सुन्दर रखनी चाहिये। गौवोंको हृष्टपुष्ट रखना चाहिये। बछड़े भी आनन्द प्रसन्न रखने चाहियें। तथा अपने साथ गौवों को भ्रमणादि के लिये खुला छोड़ना चाहिये।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः। रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥ ६ ॥ अ. ३।१४॥

हे (गाव.) गौवो ! (मया गोपतिना) मुझ गोपालसे (सचध्वं) मिलकर रहो। (इह अयं) यहां यह (पोषयिष्णुः) पोषण करनेवाली (व गोष्ठः) तुम्हारी गोशाला है। (राय पोषेण) धनके पोषणसे (बहुला भवन्ती) बहुत होती हुई, (जीवंतीः) जीवन देनेवाली (व) तुमको (जीवा) हम जीव अर्थात् हम लोग (उप सदेम) प्राप्त करते रहें।

गौवोंपर गोपालक प्रेम करें, अपने समान उनको समझें। गोशाला ऐसी हो कि, जहां गौवें आनन्द के साथ बढ़ें। सब लोग इस प्रकार गौवोंका पालन करके आनन्द से हृष्टपुष्ट हों।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥ अ. ४।२१।६॥

हे गौवो ! दुर्बल कृश मनुष्य को भी (मेदयथ) हृष्टपुष्ट करती हो। (अ-श्रीरं चित्) शोभारहित मनुष्यको (सु प्रतीकं कृणुथ) सुन्दर रूपवाला करती हो। (गृहं) घरको (भद्रं) मंगलमय (कृणुथ) कर देती हो। हे (भद्र-वाचः) उत्तम शब्दवाली गौवो ! (सभासु) सभाओं में (वः) तुम्हारी (बृहत् वयः) बहुत वर्णन (उच्यते) किया जाता है।

गौवोंके दूधसे निर्बल मनुष्य बलवान् और हृष्टपुष्ट बनता है, तथा फीका और निस्तेज मनुष्य तेजस्वी बनता है। गौवोंसे घरकी शोभा बढ़ती है। गौवों का शब्द बहुत प्यारा लगता है। इसलिये सर्वत्र गौका वर्णन किया जाता है॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धाः अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः। मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ अ. ४।२१।७॥

(प्रजावती) प्रजावाली, (सूयवसे रुशन्ती) उत्तम अन्न खानेवाली, (सुप्रपाणे) उत्तम जलस्थानमें (शुद्धाः आप) शुद्ध जल (पिबन्तीः) पीनेवाली गौवें हों। हे गौवो ! (स्तेन) चोर (वः मा ईशत) आपको अपने आधीन न करें, (अघ-

शंसः मा) पापी भी आपको अपने आधीन न करे।

उन गौवोंका दूध आदि सेवन करना योग्य है, कि जो बछडोंवाली हैं, अर्थात् जिनके बछडे मरते नहीं, जो उत्तम घास आदि पदार्थ खाती हैं, उत्तम जलस्थानमें ही शुद्ध जल पीती हैं। अर्थात् जिनके बछडे मरते हैं, जो शुद्ध अन्न खाती नहीं, और जो उत्तम शुद्ध जल पीती नहीं, ऐसी गौवोंका दूध पीना योग्य नहीं है।

इस प्रकार गौवोंको चोर डाकू आदिसे सुरक्षित रखना चाहिये।

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।

संधान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥ अ. २।२६।३

(पशवः) पशु, अश्व, गौ, आदि तथा (पुरुषाः) मनुष्य (सं सं सं स्रवन्तु) मिलकर चलें। (धान्यस्य या स्फातिः) धान्यकी जो बढती है, वह भी (सं) उत्तम प्रकारसे हमें प्राप्त हो। इसलिये (सं स्राव्येण हविषा) मैं संगतिके हविसे (जुहोमि) हवन करता हूं।

मनुष्योंके घरोंमें घोडे, गाय आदि पशु रहें। धान्य भी विपुल संगृहीत किया जावे। संग्रह करनेकी दृष्टिसे सबके कर्म हों।

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।

वशेदं सर्वमभवत् यावत्सूर्यो विपश्यति॥ अ. १०।१०।३४॥

देव (वशां) गौके दुग्धादिसे (उप जीवन्ति) जीते हैं। मनुष्य भी गौके दुग्धादिसे जीवन प्राप्त करते हैं। (यावत्) जहां तक सूर्य (विपश्यति) देखता है, वहां तक (वशा) गौ (इदं सर्वं) इस सबको (अभवत्) लाभदायिनी होती है।

गौ सबकी लाभदायिनी है।

मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा

रिशन्ताम्। पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय

पद्वते रुद्र मृळ॥ ऋ. १०।१६९।१॥

(मय भूः वातः) आरोग्य उत्पन्न करनेवाला वायु (अभिवातु) बहता रहे, (ऊर्जः वती.) बल देनेवाली (उस्रा) गौवें (ओषधीः आ रिशन्ता) वनस्पतियां खाकर पुष्ट होवें। (पीवस्वतीः) बलवान (जीव धन्या) जीवोंकी दाया अर्थात् गौवें (पिबन्तु) उत्तम पानी पीवें। हे (रुद्र) दोष-नाशक! (अव-साय) बचानेवाले (पद्वते) गौको (मृळ) सुख दे।

गौवें उत्तम वायुमें घूमती रहें, वह उत्तम औषधियां खाकर पुष्ट होवें। गाय ही जीवोंकी सच्ची दाया है। गौवें स्वच्छ पानी पीवें। रोगबीजोंसे गौवोंको बचाया जावे, और उनको खुश रखा जावे, क्योंकि गौवें ही जीवोंको बचानेवाली हैं।

याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या
नामानि वेद । या अंगिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः
पर्जन्य महि शर्म यच्छ ॥ ऋ. १०।१६६।२॥

(याः) जो गौवें (सरूपा विरूपा एकरूपा) समान रंगवाली, भिन्नरूपवाली और एक आकारवाली होती हैं, तथापि (यासां नामानि) जिनके गुणधर्म (अग्निः) जाठर अग्नि अर्थात् पेटमें जो पाचक अग्नि है, वह (इष्टया) इष्ट होनेके कारण (वेद) जानता है. (या) जो गौवें (तपसा) अपने तेजसे (इह) यहां शरीरमें (अंगि-रस) अगोंके विविध रस (चक्र) बनाती है, (ताभ्यः) उन गौवों के लिए, हे (पर्जन्य) मेघ ! (महि शर्म यच्छ) बडा सुख दो ।

गौवोंके आकार रंगरूप भिन्नभिन्न होतेहैं। और रंगरूपके भेदसे उनके गुणधर्म भी भिन्न२ होते हैं। जाठर अग्निको प्रिय होनेके कारण वही उनके यशको जानता है, क्योंकि शरीरमेंजो रक्त, वीर्य आदि नाना रस हैं, उनको अपने तेजरूपी दुग्धसे बनाना इनही गौवोका कार्य है, अर्थात् गौके दूधसे ही शरीरके नाना रस बनते है। पर्जन्य इन गौवोंको आरोग्य देवे।

या देवेषु तन्व १ मैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि
वेद । ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र
गोष्ठे रिरीहि ॥ ऋ. १०।१६६।३॥

(या) जो गौवें (तन्वं) अपने शरीरसे प्राप्त होने वाला दूध (देवेषु) विद्वान् लोकोंमे अथवा इन्द्रियोंमें (ऐरयन्त) भेजती हैं। और (यासां विश्वा) रूपाणि) जिनके सब रंगरूप (सोम) औषधी रसका प्रयोग करनेवाला (वेद) जानता है। (ता) वे गौवें (पयसा) अपने दूधसे (अस्मभ्यं) हम सबको (पिन्वमाना) पुष्ट करती हुई, और (प्रजावती) बछडोंसे युक्त होकर (गोष्ठे) गोशाला में रहें। हे (इन्द्र) प्रभो ! उन गौओंको (रिरीहि) बहुत दूध देनेवाली बनाओ।

गौके दूधमे प्रत्येक इंद्रिय की पुष्टि होती है, गौवोंके रूपरंग के महत्व को विद्वान् वैद्य जानते है, इसलिये सबको चाहिये, कि वे गौका दूध पीकर पुष्ट होवें। गौको बहुत दूध देनेवाली बनाकर बछडोंके साथ रखना चाहिये ॥

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः सं
विदानः। शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाऽकस्तासां
वयं प्रजया सं सदेम ॥ ऋ. १०।१६६।४॥

(प्रजापति) प्रजापालक परमेश्वर (मह्यं) मेरे लिये, प्रत्येकके लिये (एता) इन गौवोंको (रराण) देनेवाला होवे। तथा (विश्वै देवै) सब विद्वान् और (पितृभि-पालृभि) सब पालकोंके साथ (सं विदान) ऐकमत्य करनेवाला होवे।

(नः) हम सबकी (गोष्ठं) गोशालाओंके प्रति (शिवाः सतीः) कल्याणमय श्रेष्ठगौवों को (उप आ अकः) प्राप्त कराए। (तासां प्रजया) उनके बछडोंके साथ (वयं) हम सब (सं सदेम) आनन्दसे विचरें ॥

जिस प्रकार ज्ञानी और शूरोंके साथ रहना आवश्यक है, उसी प्रकार गौवोंको भी घरमें पालना आवश्यक है। प्रत्येक घरकी गौशालामें कल्याणकारक श्रेष्ठ सद्गुणी गौवें रहें, और घरके लोग बछडोंके साथ खेला करें ॥

कृषि-सूक्त ।

अथर्व० ३ । १७ ॥

सीरा॑ युंजन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒यौ ॥ १ ॥

(धीराः कवयः) बुद्धिमान् ज्ञानी (देवेषु सुम्नयौ) दैवी सुख प्राप्त करनेके उद्योगमें (सीरा युञ्जन्ति) हलों को जोतते हैं। और (युगा पृथक्) जुओंको अलग करके (वितन्वते) फैलाते हैं।

बुद्धिसे शोभने वाले ज्ञानी किसान अपूर्व सुखप्राप्त करनेके लिये हल जोतते हैं, और कृषि करते हैं। अर्थात् कृषिसे ही मनुष्य जातिका कल्याण होता है।

यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नोत कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह
बीज॑म् । वि॒राजः॒ श्नुष्टिः॒ सभ॑रा असन्नो॒ नेदी॑य॒ इत्
सृ॒ण्यः॑ प॒क्वमा य॑वन् ॥ २ ॥

हे (वि-राजः) विशेष शोभनेवाले किसानो! (सीरा युनक्त) हलोंको जोतो (युगा वितनोत) जुओंको फैलाओ, (कृते योनौ) लकीरें बनानेपर (इह बीजं वपत) यहां बीज बोओ। (नः श्नुष्टिः) हमारी अन्नकी उपज (सभरा असत्) भरपूर होवे। (सृण्यः) हसुए (इत् पक्वं) पके अन्नको (नेदीयः आयवन्) अधिक समीप जावें।

खेतमें हल जोतो, जुओंको फैलाओ, बीज बोने योग्य खेत तैयार करनेपर बीज बो दो। खाद, पानी आदिका प्रबन्ध ठीक करो जिससे खेती शीघ्र फूले और फले, तथा तुम्हें अन्न शीघ्र प्राप्त हो।

लाङ्ग॑लं प॒वीर॑वत् सु॒शीमं॑ सोम॒सत्स॑रु । उदिद्व॑पतु॒ गाम॑विं
प्रस्था॒वद्र॑थ॒वाह॑नं॒ पीब॑रीं च प्रफ॒र्व्य॑म् ॥ ३ ॥

(पवीरवत्) अच्छे फलवाला, (सुशीमं) सुख देनेवाला, (सोम-सत् सरु) लकडीकी मूठवाला, (लांगलं) हल (इत्) ही (अविं) रक्षा करनेवाली (पीवरीं)

वृद्धि करने वाली (गां) भूमिमें (प्रस्थावत्) स्थानके अनुकूल तथा (रथवाहनं) रथ वाहनका मार्ग रखकर (उद्वपतु) उत्तमतासे बीज बो देवे।

उत्तम हलसे भूमिका स्थान बीज बोने योग्य करके उसमें बीज बो देवे और कुछ स्थान रथादि आने जानेके लिए छोड़ देवे।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान्। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

(सुफाला) सुंदर फाल (भूमिं) भूमिको (शुनं वितुदन्तु) उत्तम प्रकारसे खोदें। (कीनाशाः) किसान (वाहान्) बैलादि वाहनोंके पीछे (शुनं अनुयन्तु) आनन्द से चलें। (हविषा तोशमाना) अन्नसे सतुष्ट करनेवाले (शुनासीरा) वायु और सूर्य (अस्मै) इस पुरुषके लिये (सुपिप्पला ओषधीः कर्त) उत्तम फलवाली वनस्पतियां करें।

उत्तम फालोंसे भूमिकी खुदाई उत्तम प्रकार की जाय। किसान आनन्दसे अपने बैलोंके पीछे चलें और खेतीकरके बहुत धान्य उत्पन्नकरके आनंदसे रहें॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

(वाहाः शुनं) बैल आदि पशु सुखसे रहें। (नरः शुनं) किसान तथा अन्य मनुष्य आनंदसे रहें। (लांगलं शुनं कृषतु) हल सुखसे जोते जांय। (वरत्राः) हल की रस्सियां सुखसे बांधी जांय। (अष्ट्रां शुनं उदिङ्गय) चाबुक आनंदसे प्रेरित किया जावे। सब आनन्दसे अपना कर्तव्य करें।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

(शुनासीरा) वायु और सूर्य (इह स्म मे जुषेथां) यहां ही मेरा परिश्रम सफल करें। (यत् पयः) जो जल (दिवि चक्रथुः) द्युलोकमें इन्होंने बनाया है, (तेन इमां उपसिंचतं) उससे इस भूमिको सींचते रहें।

सूर्य किरणों द्वारा मेघ बनते है, और उन मेघोंसे जलकी वृष्टि होकर खेती होती है।

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्। श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभिगच्छतः॥ अ. ४।११।१०॥

(पद्भिः) अपने पावोंद्वारा (सेदिं) विनाशको (अव-क्रामन्) पराजित करता हुआ और (जंघाभिः) जांघोंद्वारा (इरां) अन्नको (उत् खिदन्) ऊपर करता हुआ

अर्थात् उत्पन्न करता हुआ (अनड्वान्) बैल, तथा (अमेण कीनाशः) कष्ट के साथ खेती करनेवाला किसान, ये दोनों (कीलालं) उत्तम अन्नपानको (अभि-गच्छतः) सब प्रकारसे प्राप्त करते हैं ।

बैल और किसान मेहनत करके अन्न उत्पन्न करते हैं ।

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः । इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ अ. ६।३०।१॥

(सरस्वत्यां) पानीके प्रवाहसे युक्त (मणौ अधि) उत्तम भूमिमें (इमं) इस (मधुना संयुतं यवं) मीठे जौ अथवा चावलोंकी (देवाः) देवोंने (अचर्कृषु) खेती की, उस समय (शत-क्रतु) सैंकडों कर्म करनेवाला (इन्द्र) इन्द्र, देवोंका राजा (सीरपति आसीत्) हलका रक्षक था और (सु-दानव मरुतः) उत्तम दाता मरुद्गण देव (कीनाशा आसन्) किसान थे ।

'देव' का अर्थ-विजयकी इच्छा करनेवाले लोग, ज्ञानी समझदार लोक । 'इन्द्र' का अर्थ-राजा, स्वामी, मालिक । 'मरुत् (मर् उत्)' का अर्थ-मरण धर्मवाले मनुष्य है । अपनी जातिमें जो उत्तम होता है, उसको मणि कहते हैं, यहां तात्पर्य उत्तम भूमि है ।

उक्त लोग अपनी भूमिमें उत्तम प्रकारकी खेती करें और उत्तम धान्य उत्पन्न करके आनन्द से उसका उपभोग करें ।

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् । गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ऋ. १०।१०१।३॥

(सीराः युनक्त) हल चलाइए ! (युगा वि तनुध्वं) जोडियोंको जोतिए । (योनौ कृते) जमीन तैयार करनेपर (इह बीजं वपत) उसमें बीज बोइए । (च) और (सृण्य) धान्य काटनेके हंसिया (इत्) निश्चयसे (पक्वं नेदीय) पके हुए धान्यके पासही (एयात्) ले जावे । अर्थात् धान्य पकनेके बादही उसको काटा जावे । इससे (गिरा) प्रशंसायुक्त (सभरा) भरणपोषणके साथ (श्रुष्टि) सुफलता (न) हम सबको (असत्) होगी ।

(१) उत्तम खेती कीजिये, (२) भूमिकी उत्तम सिद्धता करनेके पश्चात् योग्य समयमें बीज बो दीजिये (३) धान्य पक्व होनेके पश्चात् उसको संभालकर इकट्ठा कीजिये । तात्पर्य-इस रीतिसे सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध करनेमें सदा कटिबद्ध रहिये ।

सीरा युंजन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ऋ. १०।१०१।४॥

(धीराः कवयः) धैर्यशाली बुद्धिमान् ज्ञानी लोग (देवेषु) दिव्य विभूतियोंमें (सु-म्नया) उत्तम मन रखकर (सीरा युंजन्ति) हल जोतते हैं और (युगाः) जोडे (पृथक् वितन्वते) अलग अलग जोडते हैं।

ज्ञानी कवि भी उच्च तत्त्वज्ञानका विचार करते हुए, तथा अपना मन दैवी शक्तियोंके विचारमें लगाकर, खेती करें। क्योंकि खेतीसेही धान्य उत्पन्न होकर सबका कल्याण होना संभव है।

शूद्र

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ य. ३१।११॥

(ब्राह्मण) ब्राह्मण, (अस्य) इस विराट् [समाज] का (मुखं आसीत्) मुखस्थानीय है, (राजन्यः) क्षत्रिय (बाहू कृत) बाहुसमान है, (यत् वैश्य) जो वैश्य है, (तत् अस्य ऊरू) वह इसके मध्य देहके तुल्य हैं, और (शूद्रः) शूद्र (पद्भ्यां अजायत) पैरोंके समान प्रसिद्ध है।

इस मन्त्रमें अलङ्कारिक रीतिसे चारों वर्णोंके कर्मोंका निरूपण है। शूद्रको इस मन्त्रमें बहुत ऊंची पदवी दी गई है। जिस प्रकार सारा शरीर पैरोंके आश्रित रहता है, उस प्रकार यह सारा समाज शूद्रके आश्रित रहता है। अर्थात् वेद प्रकारान्तरसे शूद्रको सारे मानवसमाजका आधार बता रहा है, यह कल्पना अमूल नहीं है, अपितु स्वयं वेदमें अन्यत्र कहा है—

" पद्भ्यां भूमिः " य. ३१।१३॥

अर्थात् यह भूमि विश्व ब्रह्माण्डका मानो चरण है। भूमिका एक नाम 'धरणी'—सबको धारण करनेवाली है। यह प्रत्यक्ष भी है। स्थानान्तरमें वेदने कहा है—

तपसे शूद्रम् ॥ य. ३०।५॥

(तपसे) तप-कठोर कर्म करनेमें समर्थ (शूद्रम्) शूद्र कहलाता है।

'तप' को कोई भी हीन कर्म नहीं कह सकता, तो जो तपस्वी है, वह हीन कैसे?

इन मन्त्रोंसे प्रतीत होता है, कि शिल्पी लोगोंका नाम शूद्र है, अत हम यहां थोड़ेसे मन्त्र शिल्पियोंके विषयके देते है—

रथकार।

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३ रथस्त्रिचक्रः परि-
वर्त्तते रजः। महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः
पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥ ऋ. ४।३६।१॥

हे (ऋभव) रथकारो! (जात) आपका बनाया (अश्व) घोड़ोंसे विना चलनेवाला (अनभीशुः) अत एव लगाम रहित (उक्थ्य) प्रशंसनीय (त्रिचक्रः) तीन पहियों वाला (रथः) रथ-यान (रजः परिवर्त्तते) पृथिवी और आकाशमें सर्वत्र भ्रमण करता है, (यत्) जिससे आप (द्यां च पृथिवीं पुष्यथ) द्यौलोक और पृथिवी दोनोंको पुष्ट करते हैं, अतः (वः) आपका (तत्) वह (देव्यस्य प्रवाचन) दिव्य आश्चर्य कारके कर्म (महत्) महनीय-स्तुति करनेके योग्य है।

ऐसा रथ बनानेका आदेश है, जो भूमि और अन्तरिक्ष दोनों स्थानोंमें चलसके।

यज्ञाधिकारी रथकार।

रथं ये चक्रुः सुवृत सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि
ध्यया। ताँऊन्वश्स्य सवनस्य पीतय आ वो वाजा
ऋभवो वेदयामसि ॥ ऋ. ४।३६।२॥

हे (वाजा ऋभव) निपुण कारीगरो! (ये) जो आप लोग (सुचेतस) शुद्धचित्त होकर (मनसः परि ध्यया) मनके पूर्ण ध्यानसे (सुवृतं) सुन्दर गोल (अविह्वरन्तम्) सीधा, (रथं चक्रु) रथ बनाते हैं (तान् व उ) उन आप लोगों को (अस्य सवनस्य पीतये) इस यज्ञका भागलेनेके लिए (आवेदयामसि) हम आमन्त्रित करते हैं।

इस वेदमन्त्रमें शूद्रको यज्ञका भाग लेनेकी बात कही है।

लोहार।

अध स्म यस्यार्चयः सम्यक् संयन्ति धूमिनः। यदी-
मह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति शिशीते ध्मा-
तरी यथा ॥ ऋ. ५।९।५॥

(इव) जैसे (ध्माता) लुहार, भस्त्रादिसे (उपधमति) आगको धौंकता है, और (यथा) जैसे वह आग (ध्मातरि) धौंकनेवालेके समीप (शिशीते) बढ़ जाती है, (अधस्म) और (यस्य) जिसकी (धूमिन) धूमयुक्त (अर्चय) ज्वालाएं (सम्यक् संयंति) सर्वत्र फैल जाती है। (यत् ई त्रित) जिससे यह तीनों स्थानोंमें व्याप्त होकर (दिवि उप धमति) आकाशमें जाकर बहुत बढ जाती हैं।

नापित ।

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्रमोषीः ॥ अ. ८।२।१७॥

हे नापित ! (यत्) जिस समय तू (वप्ता) बाल काटनेमें तत्पर होकर (मर्चयता) कार्य्यसमर्थ (सुतेजसा) खूब तेज, सुन्दर (क्षुरेण) छुरीसे (केशश्मश्रु) सिरके बालों, तथा दाढ़ी मूच्छोंको (वपसि) काटता है, उस समय हमारे (शुभं मुख) सुन्दर मुख तथा (आयु) आयुको (न प्र मोषीः) मत नष्ट कर।

वेदमें प्रायः सब शिल्पियोंका वर्णन है। विस्तार भयसे यहां नहीं लिखा।

कपड़ा बुनना ।

तंत्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखं । प्रान्या तंतूँस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृंजाते न गमातो अंतम् ॥ ४२ ॥

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात् । पुमानेनद्वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद्विजभाराधि नाके ॥ ४३ ॥ अ. १०।७॥

(एके वि रूपे युवती) अकेली अकेली भिन्न रंगरूपवाली दो स्त्रियां क्रमशः (षट्-मयूख तंत्र) छः खूंटियोंवाले ताने के पास (अभ्याक्रामं) आती हैं और (अन्या) उनमेंसे एक स्त्री (तंतून् प्रतिरते) सूत्रोंको खींचती है और (अन्या धत्ते) दूसरी सूत्रोंको रखती है। उनमेंसे कोई भी (न अप वृंजाते) काम खराब नहीं करती और (न अंतं गमात) न समाप्ति करती हैं। परन्तु हमेशाही अपना काम करती रहती हैं।

(तयो परि नृत्यन्त्यो इव) नाचनेवाली स्त्रियोंके समान काम करनेवाली उन दो स्त्रियोंमें (यतरा परस्तात्) कौन स्त्री पहिली और कौन स्त्री दूसरी है, यह (अहं न विजानामि) मैं नहीं जानता। इनके अतिरिक्त (पुमान् एनत् वयति) एक

पुरुष इस बानेको बुनता है, तथा दूसरा (पुमान् एनत् उद्गृणत्ति) पुरुष इसको अलग कर रहा है और तीसरे (पुमान् एनत् नाके आधि विजभार) मनुष्यने इसको उत्तम स्थानमें फैलाया है।

इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है कि स्त्रीपुरुष घरमें अपने लिये आवश्यक कपड़ा बुनें, स्वयं सूत निकालें, उसको खुड्डीपर चढ़ाने योग्य तैयार करके, पश्चात् जैसा चाहें, वैसा कपड़ा बुनें। प्रत्येक पुरुष इस कार्यमें ऐसी प्रवीणता संपादन करे, कि जिससे वह अपना कर्म बड़ी सफाई के साथ कर सके।

> ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः। वासो
>
> यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥ अ. १४।२।५१॥

(ये अन्ता) जो कपड़े के अंतिम भाग हैं, (यावती सिच) जो किनारियां हैं, (ये ओतव) जो बाने हैं तथा (य च तन्तव) जो ताने हैं इन सबके साथ (यत् पत्नीभि उत वास) जो पत्नियोंके द्वारा बुना हुआ कपड़ा होता है (तत्) वह कपड़ (न स्योन उपस्पृशात्) हमारे लिए सुखदायक हो।

स्त्रियोंके बनाये कपडेका यह वर्णन है। जो कपडा स्त्रिया प्रेमसे बनाती हैं, वह पहननेवालोंको अतीव सुखकारक होता है।

> उपासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूर-
>
> मिन्द्रम्। तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं
>
> यजतः सुरुक्मे॥ य. २०।४१॥

(बृहती) बडी (पयस्वती सुदुघे) उत्तम दूध देनेवाली गौवों के सदृश (सुरुक्मे) तेजस्वी (उपासानक्ता) उषा और रात्री ये दो स्त्रिये (पेशसा ततं तंतु) उत्तम रंगोंके साथ फैले हुए तानेपर (संवयन्ती) उत्तम रंगसे कपडा बुनती हुई (देवाना देव) देवोंका देव जो शूर बडा (इन्द्र प्रभु है उसका (यजत.) पूजा करती है।

रात्रि और उषाके वर्णनके मिषसे स्त्रियोंके कपड़ा बुननके कर्मका उपदेश यहां स्पष्ट है।

> वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो
>
> वयन्ति॥ ऋ. ५।४७।६॥

(१) (मातर पुत्राय वस्त्रा वयन्ति) मातायें अपने पुत्रके लिये कपडे बुनती है। और (२) (अस्मै धिय अपांसि वितन्वते) इस बच्चेके लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती है।

> सीसेन तंत्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो
>
> वयन्ति॥ य. १९।८०॥

(कवय मनीषिण) कवि मननशील लोग (मनसा) मननके साथ (सीसेन तंत्रं) सीसेके यंत्रके साथ ताना फैलाकर (ऊर्णासूत्रेण) ऊनके सूतसे (वयन्ति) कपडा बुनते हैं। इस मंत्रमें "सीस" शब्दका अर्थ "सीसा, लोह" इ० हो सकता है।

"कवय ऊर्णा-सूत्रेण वयंति" कवि ऊनके सूतसे कपडा बुनते हैं। यह वाक्य इस मंत्रमें देखने योग्य है।

ऋग्वेदके एक मंत्रमें कपडा बुनने और सूत कातनेके विषयमें सात उपदेश दिये हैं, वे प्रत्येक वैदिकधर्मीको ध्यानमें रखने चाहियें। देखिये वह मंत्र—

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः

पथो रक्ष धिया कृतान्। अनुल्बणं वयत जोगु

वामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥ ऋ. १०।५३।६॥

(१) तंतुं तन्वन्=सूत कात कर,

(२) रजस भानुं अनु-इहि=उसपर रंगको तेज चढाओ,

(३) अन् उल्बणं वयत=उससे कपडा बुनो और सूत गंठीला न बनाकर,

(४) धिया कृतान् ज्योतिष्मत पथो रक्ष=इस प्रकार बुद्धिसे बनाये हुए तेजस्वियोंके मार्गोंका रक्षण करो।

(५) मनु भव=मननशील बनो,

(६) दैव्यं जनं जनय=दिव्य प्रजा उत्पन्न करो,

(७) जोगुवा अप-=यह कवियोंका काम है।

यह मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट है और अर्थके विषयमें कोई संदेहही नहीं है। हे मनुष्य! (१) सूत कातकर (२) उसपर रंग चढाओ, (३) पश्चात् उस सूतको खराब गंठीला न बनाते हुए उसके कपडे बुनो, (४) इस रीतिके अनुसार चलकर तेजस्वी महात्माओंकी श्रेष्ठ बुद्धिसे निश्चित किये हुए सन्मार्गोंका संरक्षण करो, (६) सुप्रजा उत्पन्न करो, (७) यह सब कवियोंका काम है।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधि नाके

अस्मिन्। इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रु-

स्तसराण्योतवे॥ ऋ. १०।१३०।२॥

(पुमान् एनं तनुते) एकमनुष्य इस तानेको फैलाता है, दूसरा मनुष्य बानेको (उत्कृणत्ति) खोलता है, इस प्रकार (अस्मिन् न+अ+के) इस सुखदायक स्थानमें ये (वितत्ने) विशेष रीतिसे सूत्र फैलाते हैं। (इमे मयूखाः) ये खूंटियां हैं, जो (सदः उप सदुः ऊ) बुननेके स्थानमें लगाई हैं, और (सामानि तसराणि ओतवे चक्रुः) सुखदायक नाल अथवा धडकियां हैं, जो बानेके लिये बनाई हैं।

सहृदयता

अथर्व० ३ । ३० ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

(सहृदयं) सहृदयता (सांमनस्य) मनका उत्तम भाव, (अविद्वेषं) निर्वैरता (वः) तुम्हारे लिये (कृणोमि) करता हूं । (अन्य. अन्यं) एक दूसरेके ऊपर ऐसी (अभि हर्यत) प्रीति करो, (इव) जैसी (जातं वत्स) नवीन उत्पन्न बछडे के ऊपर (अघ्न्या) गौ करती है ।

सहृदयता, उत्तम मन तथा निर्वैरता धारणकरके परस्पर प्रेमका भाव बढाना चाहिये । इसीसे मनुष्यका कल्याण होगा ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शंतिवाम् ॥ २ ॥

(पुत्रः) लड़का (पितु अनुव्रत) पिताके अनुकूल कार्य करनेवाला होकर (मात्रा) माताके साथ (सं मना) उत्तम मनसे रहनेवाला (भवतु) होवे । (जाया) पत्नी (पत्ये) पतिसे (मधुमतीं) मीठा और (शंतिवां) शांत (वाचं वदतु) भाषण बोले ।

पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे और वह माता के साथ शुद्ध मनसे व्यवहार करे । पत्नी पतिके साथ शांत और मीठा भाषण करे ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

भ्राता भ्रातासे (मा द्विक्षत्) द्वेष न करे । (उत) और (स्वसा स्वसारं) बहिन *बहिनके साथ भी (मा) द्वेष न करे ।* सब (सम्यञ्च) एक मत वाले और (सव्रताः) एक कर्मवाले (भूत्वा) होकर (भद्रया वाचं वदत) कल्याणी रीति से भाषण करें ॥

भाई बहिन आपसमें द्वेष न करें । कुटुम्ब परिवारके सब लोग एक दिलसे मिलजुल कर अपना व्यवहार करें ।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

(येन) जिससे (देवा न वियन्ति) व्यवहार साधकों में विरोध नहीं होता,

और (मिथ मो च विद्विषते) परस्पर द्वेष नहीं होता (तत् संज्ञानं ब्रह्म) वह उत्तम ज्ञान (व गृहे) आपके घरमें (पुरुषेभ्य) मनुष्योंके लिये (कृण्मः) करते हैं॥

घरके सब लोगों में इस प्रकारका ज्ञान देना चाहिये. कि जिस से उन में कदापि विरोध न हो सके, और उनमें एक विचार सदा रहे॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः

सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

(ज्यायस्वन्त) बड़ोंका सन्मान करनेवाले, (चित्तिनः) विचारशील (संराधयन्त) कार्य सिद्धि करनेवाले (सधुराः चरन्त) एक धुराके नीचे होकर चलने वाले तुम लोग (मा वि यौष्ट) मत अलग होवो, आपसमें विरोध न करो। (अन्य अन्यस्मै) एक दूसरेके साथ (वल्गु वदन्त) मनोहर भाषण करते हुए (एत) आगे बढो। (व) तुमको (सध्रीचीनान्) एक मार्गसे जानेवाले तथा (संमनस.) उत्तम मनवाले (कृणोमि) करता हूं।

बड़ोंका सन्मान करो, सोचकर कार्य करो, कार्य सिद्ध होने तक प्रयत्न करो, एक कार्यमें दत्तचित्त होओ। आपसमें विरोध और वैर न करो। परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण करो। सबको ऐसा ज्ञान दो कि, जिससे सबमें शुद्ध मन हो।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो

युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥६॥

(व) आपका (प्रपा) पान (समानी) समान=एकही हो, (वः अन्नभागः) आपका भोजन भी (समान) एक जैसा हो। (व) तुमको मैं (सह) साथ (समाने योक्त्रे) एक जुए में (युनज्मि) जोड़ता हूं। (सम्यञ्चः) सब मिलकर (अग्निं सपर्यत) अग्निकी पूजा करो (इव) जिस प्रकार (अरा नाभिं अभित.) आरे नाभि के चारों ओर होते हैं।

आप सबका खानपानका स्थान एकही हो और सब मिलकर एकही कार्य जोरसे चलाओ। सब मिलकर ईश्वरपूजा करो और सबका बैठना भी एकत्र हो।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन

सर्वान्। देवा इवाऽमृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

(संवननेन) उत्तम सेवा भावसे (व सर्वान्) तुम सबको (सध्रीचीनान्) एक मार्गसे बढ़नेवाले और (सं मनस.) उत्तम मनवाले (एकश्नुष्टीन्) एक खान पानवाले (कृणोमि) करता हूं। (अमृतं रक्षमाणा देवा इव) अमृतकी रक्षा करने-

वाले देवोंके समान (सायं प्रातः) सायं और प्रात (व सौमनस अस्तु) आपकी चित्तकी प्रसन्नता होवे।

अपने अंदर दूसरोंकी सहायता करनेका भाव रखो,एक मार्गसे आगे बढ़ो, उत्तम सुसंस्कारसंपन्न मन बनाओ, आपसमें एक खानपानकी व्यवस्था रखो, सर्व काल मनकी प्रसन्नता रखो, इसीसे अमृतपूर्ण सुखकी प्राप्ति होगी।

॥ एकता ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ अ. ६।९४।१॥

(व मनांसि) आपके मनोंको, (व्रता) कर्मोंको (आकूतीः) संकल्पको (सं सं सं नमामसि) योग्य रीतिसे झुकाते हैं। (अमी ये) ये जो (व वि-व्रताः)आप के अंदर विरुद्ध आचरण करनेवाले (स्थन) हैं, (तान्) उनको (सं नमयामसि) एक दिशासे उत्तम प्रकार झुकाते हैं।

मन, संकल्प और कर्मके व्यवहार ऐसे उत्तम होने चाहियें, कि जिनसे सब की एकता होजाय। और कभी विरोध न होसके। इसलिए जो मनुष्य विरुद्ध आचरण करनेवाले हों, उनकोही एक विचारसे युक्त करके अन्योंके अनुकूल बनाना चाहिए।

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वे संजनाना उपासते ॥ १ ॥ अ. ६।६४।१॥

(सं जानीध्व) उत्तम ज्ञानसे युक्त हो, (सं पृच्यध्वं) आपसमें मिलकर रहो, (व मनांसि)आपके मन(संजानतां)उत्तम संस्कार युक्त हों। (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे संजानाना· देवा)पूर्व समयके ज्ञानी देवता लोग (भागं उपासते) अपने २ कर्तव्य भागका पालन करते थे। इसी प्रकार तुम भी अपने कर्तव्यका भाग करते रहो।

ज्ञान प्राप्त करके आपसमें मिल जुलकर रहना, अर्थात् आपसमें द्वेष नहीं करना और संघ शक्तिसे रहना चाहिए। इसके पश्चात् अपने मन सुसंस्कारोंसे परिपूर्ण करने और प्राचीन ज्ञानी पुरुषोंके समान अपना शुद्ध व्यवहार करना चाहिए यही उन्नति का मार्ग है।

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता ।

सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ अ. ६।७४।१॥

(व. तन्व) आपके शरीर (संपृच्यंतां) मिलकर रहें। (मनांसि सं) मन मिलकर रहें, (व्रता) कर्म मिलकर होते रहें। (अयं) यह (ब्रह्मण पति भग) ज्ञानका पालक ऐश्वर्यमय प्रभु (वः सं सं अजीगमत्) आप सबको मिलाकर रखे॥

शरीर, मन, और कर्मसे समाजके अंदर समता और एकता रहनी चाहिए। किसी प्रकार भी आपसमें विरोध खड़ा नहीं होना चाहिए।

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥ अ. ६।७४।२॥

(वः मनसः) आपके मनका (संज्ञपनं) उत्तम ज्ञान, और (हृदः) हृदयका (संज्ञपनं) संतोष कारक भाव (अथो) तथा (भगस्य श्रान्तं) भाग्यका जो श्रम अथवा परिश्रम है, (तेन) उससे (वः संज्ञपयामि) तुमको संतुष्ट करता हूं।

मनके अंदर ज्ञान और हृदयमें शांति रखनी चाहिए। तथा परिश्रमसे जो पुरुषार्थ किये जाते हैं, उससे ही संतुष्टि होनी चाहिए॥

ज्ञानी और शूर पुरुषोंका एकमत

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥ य. २०।२५॥

(यत्र) जहां (ब्रह्म च) ज्ञानी लोग और (क्षत्रं च) शूर लोग (सम्यंचौ) मिल जुलकर (सह) साथ साथ (चरत) व्यवहार करते हैं। और (यत्र) जहां (देवा) व्यवहारचतुर लोग (अग्निना) तेजके (सह) साथ रहते हैं, (तं) उस (लोकं) देशको ही (पुण्यं) पुण्यकारक और (प्रज्ञेषं) बुद्धिसे प्राप्तव्य समझा जाता है।

राष्ट्रके ज्ञानी और शूर पुरुष एक विचारसे राष्ट्रहित कारक कार्य करते रहें। और किसी भी प्रकार आपसमें विरोध न खडा रखें। इसीसे राष्ट्रका हित होगा और जनताका कल्याण होगा। जिस देशमें इस प्रकार ज्ञानी और शूर एक विचारसे रहते हैं, वह देशही पुण्यदेश है और वहां ही सब प्रकारका सुख विराजता है।

समानता

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः
सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा
पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ ऋ. ५।६०।५॥

(अ-ज्येष्ठास) जिनमें कोई बडा नहीं है और (अ-कनिष्ठासः) जिनमें कोई छोटा नहीं है, ऐसे (एते) ये सब (भ्रातरः) भाई एक जैसे हैं। ये सब (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्यके लिये (सं वावृधु) मिलकर उन्नतिका प्रयत्न करते हैं, इन सबका (युवा पिता) तरुण पिता (स्वपा रुद्र) उत्तम कर्म करनेवाला ईश्वर है। (एषां) इनके लिये (सु-दुघा) उत्तम प्रकारका दूध देनेवाली माता (पृश्नि) प्रकृति है। यह प्रकृति माता (म-रुद्भ्य) न रोनेवाले जीवोंके लिये (सु दिना) उत्तम दिन प्रदान करती है।

इनमें कोई भी बडा नहीं है, और न कोई छोटा है। इसलिये सब एक जैसे भाई हैं। सब जीवोंकी समानता इस मंत्रने बताई है। ईशके सामने छोटा या बडा कोई भी नहीं है। ये सब भाई उच्च होनेके लिये मिलकर प्रयत्न करनेवाले हैं। अर्थात् यदि ये मिलकर पुरुषार्थ करेंगे, तभी ये उन्नत हो सकते हैं। परन्तु यदि ये आपसमें लडेंगे, तो अवनत होंगे। इन सबका एक ईश्वरही पिता है, वह 'स्वपा' (सु अपा) उत्तम कर्म करता है। सबके लिये एक जैसे उसके कर्म होते हैं। इन सब जीवोंके लिये प्रकृति द्वारा भोग प्राप्त होते हैं। जो रोनेमें अपना समय नहीं खोते, परन्तु पुरुषार्थोंमें अपना सब समय लगाते हैं, उनके लिये 'सु-दिन' अर्थात् उत्तम समय सदा ही रहता है, परन्तु जो मूढ लोग अपना समय शोक मोहमें खर्च करते हैं, वे बुरी अवस्थामें चले जाते हैं, अर्थात् उनके लिये सब समय 'कु-दिन' बनता है। इस मंत्रमें सब जीवोंका आपसमें भाईपन बताया है। यह हर एकको ध्यानमें धरने योग्य है। तथा और देखिये—

ते अ॒ज्ये॒ष्ठा अक॑निष्ठास उ॒द्भिदो॑ऽमध्य॒मासो॒ मह॑सा
वि वा॑वृधुः। सु॒जा॒तासो॑ ज॒नुषा॒ पृश्नि॑मातरो दि॒वो
म॒र्या आ नो॒ अच्छा॑ जिगातन ॥ ऋ. ५।५९।६॥

(ते) वे सब (अ-ज्येष्ठा) बडे नहीं हैं, (अ-कनिष्ठास) छोटे नहीं हैं और (अ-मध्यमास) मध्यमें भी नहीं हैं, परन्तु वे सबके सब (उत् भिद) उदयको प्राप्त करनेवाले हैं, इसलिये (महसा) उत्साहके साथ (वि) विशेष रीतिसे (वावृधु) बढनेका प्रयत्न करते हैं। (जनुषा) जन्मसे वे (सु जातास) उत्तम कुलीन हैं, और (पृश्निमातर) भूमिको माता माननेवाले अर्थात् जन्मभूमिके उपासक हैं, इस लिये ये (दिव मर्त्या) दिव्य मनुष्य (न अच्छा) हमारे पास अच्छी प्रकार (आ जिगातन) आवें।

सबकी समानता इस मंत्रमें भी देखने योग्य है।

घर में जीर्ण होना अच्छा नहीं।

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सद-
सस्त्वामिये भगम्॥ कृधि प्रकेतमुप मास्या भर
दद्धि भागं तन्वो३ येन मामहः॥ ऋ. २।१७।७॥

(पित्रो. सचा सती) मातापिताके साथ रहनेवाली लड़की (अमा-जू इव) जैसी घरमें ही रहकर जीर्ण होती है, तद्वत् मेरीभी अवस्था है। इसलिये अबमैं (समानात् सदस)उस साधारण स्थानसे-साधारण अवस्थासे (त्वा भगं आइये) भाग्यकी ओर आता हूं। मेरे लिये (प्रकेतं कृधि) विशेष ज्ञान दो, (उपमासि) तुलना करो। (तन्व भागं दद्धि) शरीरके लिये सेवनीय भाग दो,(येन मामह) जिससे वृद्धि प्राप्त कर सकूं।

पुरुषार्थ न करते हुए घरमें जीर्ण होना, सड़ना, योग्य नहीं है। जहां अपने भाग्यका उदय होगा, वहां जाकर विविध प्रकारका पुरुषार्थ करके अपना भाग्य बढ़ाना चाहिए।

अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगोऽनाशोश्चिदवितारा-
पमस्य चित्। अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्यु-
वामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित्॥ ऋ. १०।३९।३॥

(युवं) आप (अमा जुर चित्) घरमें ही जीर्ण होनेवालेके लिये भी (भग भवथ) ऐश्वर्य देनेवाले हो जाइये। जो (अन् आशो-चित्) भूखा है, और (अपमस्य चित्) निकृष्ट अवस्थातक पहुंचा है, उसका भी (अवितारौ) संरक्षण करनेवाले आप बन जाइये। हे (नासत्या) अश्विदेवो! (अंधस्य चित्) अंधे (कृशस्य चित्) दुर्बल और (रुतस्य चित्) रोगीके (युवां भिषजौ) आपही वैद्य हैं, ऐसा (आहु) कहते हैं।

घरमें जीर्ण होनेवालेका रक्षण भगवान् ही करे, क्योंकि और कोई उसका संरक्षण करही नहीं सकता, जो मनुष्य अपना अभ्युदय करनेके लिए स्वयं पुरुषार्थ नहीं करेगा, उसको कौन सहाय दे सकता है! ऐसे मनुष्यको संस्कृत में "देवानां प्रिय" (देवोंके लिये ही प्रिय) कहते हैं। इसलिये पुरुषार्थ हीन स्थितिमें रहना किसी को भी योग्य नहीं है।

आयुष्य बढ़ाओ

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देव-
यानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां
रीरिषो मोत वीरान् ॥ ऋ. १०।१८।१॥

हे (मृत्यो) मौत ! (देवयानात् इतर) देव मार्गसे दूसरा (यः ते स्वः) जो तेरा अपना मार्ग है, (तं पन्थां) उस मार्गसे (अनुपरेहि) दूर चले जाओ, (चक्षुष्मते) आंखवाले और (शृण्वते) सुननेवाले (ते ब्रवीमि) आपसे मैं कहता हूं, (न प्रजां) हम सबकी प्रजाको (उत वीरान्) और विशेषत वीरोंको (मा मा रीरिषः) मत नष्ट करो।

देवमार्ग परसे चलनेसे अर्थात् श्रेष्ठोंके चालचलनके अनुकूल अपना चालचलन करनेसे मृत्युका भय दूर होजाता है। जो आंखसे देख सकते हैं, और कानसे सुन सकते हैं, उनको चाहिये, कि वे अपना और अपनी प्रजाका श्रेष्ठ आचरणके द्वारा अपमृत्युसे संरक्षण करें। सबका रक्षण होना चाहिए, परन्तु विशेषत वीरोंकी आयु अवश्य ही दीर्घ होनी चाहिए।

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं
दधानाः। आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः
पूता भवत यज्ञियासः ॥ ऋ. १०।१८।२॥

(मृत्यो पदं योपयन्त) अपने ऊपर आये हुए मृत्युके पांवको पुरुषार्थसे परे ढकेलते हुए, (द्राघीय आयु) अपनी दीर्घ आयुको (प्र तर) अधिक दीर्घ बनाकर (दधाना.) धारण करके, (यदा एत) जब तुम सब चलोगे, तब (प्रजया धनेन) प्रजा और धनके साथ (आप्यायमाना) अभ्युदयको प्राप्त होते हुए (शुद्धा) बाहरसे शुद्ध, (पूता) अंदरसे पवित्र और (यज्ञियास) पूजनीय (भवत) बनोगे।

हरएक प्राणीपर तथा हरएक पदार्थपर मृत्युका पांव रखा रहता है। मनुष्यही उसको परे ढकेल देता है, अन्य प्राणियोंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं है, कि जो इस प्रकारका पुरुषार्थ कर सकता है। सदाचारसे अपनी आयु बढ़ जाती तथा दुराचारसे घटजाती है, यह नियम ध्यानमें रखकर हरएक मनुष्यको अपना आयु बढ़ानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। दीर्घ आयुका उपाय निम्न लिखित मंत्रमें कहा है—

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो

अद्य। प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः

प्रतरं दधानाः। ऋ. १०।१८।३॥

(इमे जीवाः) ये जीनेवाले लोग (मृत) मरे हुओंसे (वि आ ववृत्रन्) घिर हुए नहीं है। इसलिये (न अद्य) हम सबकी आज (भद्रा) कल्याणकारक (देवहूतिः) ईश्वर उपासना (अभूत्) हो सकी है। (नृतये हसाय) नाचने और हंसनेके लिये हम सब (प्र-अञ्च) सीधे (अगाम) चलें, जिससे (द्राघीयः आयुः) दीर्घ आयुष्य (प्र-तरं) अधिक दीर्घ बनाकर (दधाना) धारण करनेवाले बनें।

नृत्य, हास्य, सरलता और कल्याणमय श्रेष्ठ मार्गका आचरण इत्यादि बातोंसे आयु बढती है। गात्रविक्षेपसे=नाचसे, शरीरिक व्यायामसे, हास्यसे फेफडोंका व्यायाम, और मनकी प्रसन्नता, सरल व्यवहारसे निर्भयता, और सदाचारसे आरोग्य प्राप्त होकर दीर्घ आयु प्राप्त होती है।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो

अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं

दधतां पर्वतेन॥ ऋ. १०।१८।४॥

(जीवेभ्यः) जीवित मनुष्यों के लिये (इमं परिधिं) इस सौ वर्षकी आयुकी मर्यादाको (दधामि) करता हूं। (एषां) इनमें (अ-परः) कोई भी नीच बनकर (एतं अर्थं) इस जीवनरूप धनको (नु मा गात्) न छोडे। सब मनुष्य (पुरूचीः) बडे (शतं शरदः) सौ वर्ष (जीवन्तु) जीते रहें, और (मृत्युं) मृत्युको (पर्वतेन) पर्वतके द्वारा=पुरुषार्थसे (अन्तर्दधतां) दबा ले॥

मनुष्योंकी साधारण आयुष्यमर्यादा सौ वर्षकी है। नीच आचरण न किया जाय, तो इससे पहिले मृत्यु नहीं होगा, दुराचार करनेसेही शीघ्रमृत्यु होसकता है। पुरुषार्थसे मृत्युको दबाकर मनुष्य अपनी आयु बढ़ा सकते हैं।

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।

यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥

ऋ. १०।१८।५॥

हे (धात) धारणकर्ता! (यथा अहानि) जैसे दिन (अनुपूर्वं भवन्ति) एकके पीछे एक चलते रहते हैं। (यथा ऋतव) जैसे ऋतु (ऋतुभिः साधु यन्ति) ऋतुओंके साथ ठीक प्रकार चलते हैं। (यथा अपर) जैसे अगला (पूर्वं न जहाति) पीछेवालेको नहीं छोडता। (एवा) इस प्रकार (एषां) इन मनुष्योंके लिये (आयूंषि कल्पय) आयुष्यकी योजना करो।

दिन ऋतु और जगत् का पूर्वापर संबंध जैसा सिलसिलेवार चलता है, उस प्रकार मनुष्योंके आयुष्य निर्विघ्न होकर अत्यन्त दीर्घ होवें। बड़ोंके पश्चात् ही छोटोंकी मृत्यु होवे। और ऐसा कभी न होवे, कि बड़ोंके होते हुए छोटे बालक अल्प आयुमें ही मर जाए। इस बातको ध्यानमें धर कर सब लोग समाजमें ऐसी ही व्यवस्था करें, कि जिससे समाजमें कोई अपमृत्यु न हो सके और सब दीर्घ आयुका उपभोग लेनेके पश्चात् ही मरें।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति ष्ठ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति
जीवसे वः ॥ ऋ. १०।१८।६॥

(आ रोहत) उन्नति कीजिये। (जरसं आयु) जरायुक्त अतिदीर्घ आयुष्य (वृणाना) संपादन कीजिए। (यतिस्थ) जितने भी आप है, वे सब (अनु पूर्वं) पूर्वके अनुसार (यतमाना) पुरुषार्थी बनिए। (सु जनिमा) उत्तम जन्म देनेवाला (स-जोषा) संतोषके साथ जीवन व्यतीत करनेवाला (त्वष्टा) कारीगर, कुशल, कर्मकर्ता (इह) इस संसारमें (व. जीवसे आयुः करति) आपके जीवनके लिये आयु बनाता है।

पुष्ट होना, दीर्घायुकी प्राप्तिका उपाय करना, सतत पुरुषार्थ करना, समान प्रीतिके साथ जीवन व्यतीत करना हुनर और कुशलताप्राप्त करना, उत्तम संतान उत्पन्न करना, ये उपाय है जिनसे दीर्घ आयुष्य होता है। 'अनु-पूर्व' शब्दसे 'आयुके अनुसार' अर्थात् आयुसे बड़ा पहिले और उसके पश्चात् छोटा उमर वाला मरे। छोटी उमरवाला पहिले न मरे, यह भाव व्यक्त होता है।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं
विशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु
जनयो योनिमग्रे ॥ ऋ. १०।१८।७॥

(इमा नारीः) ये स्त्रियें (अ विधवा) विधवा न बनें, (सुपत्नीः) उत्तम पतिकी उत्तम पत्नियां बनकर (आञ्जनेन सर्पिषा) अंजन और तेल आदिका अथवा घीका सेवन करके (सं विशन्तु) मिलकर घरमें रहें। (अन्-अश्रवः) जिनके आंख में अश्रु नहीं है (अन्-अमीवा) जो नीरोग है (सु रत्ना) जिन्होंने उत्तमरत्न धारण किये हैं। ऐसी (जनय) तरुण स्त्रियां (अग्रे) पतिके पूर्व (योनिं) विश्रामके स्थान को=घरको (आरोहन्तु) प्राप्त हों।

पुरुष अकालमें न मरें और उस कारण स्त्रियोंको वैधव्यदुःख न भोगना पड़े। स्त्रियां उत्तम जेवर वगैरा पहनकर नीरोग बनकर स्वस्थतायुक्त रहें।

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष

एहि॑ हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि

सं बभूथ ॥   ऋ. १०।१८।८॥

हे (नारि) स्त्रि ! जिस (एतं गतासुं) गतप्राण अर्थात् मृत पतिके साथ (उप शेषे) तू सोती है, उसको छोड दे, और (जीव लोकं) जीवित लोगोंके स्थानमें (उदीर्ष्व, अभि एहि) उठकर आओ । (हस्त-ग्राभस्य) हाथ पकडनेवाले (दिधिषोः पत्युः) धारण करनेवाले पतिके साथ (तव इदं जनित्वं) तेरा यही पत्नीत्व (अभि सं बभूथ) सब प्रकारसे निश्चित हुआ था ।

पति आदिकी मृत्यु होनेपर चिरकाल शोक न करते हुए, जीवित मनुष्योंमें आकर अन्योंके समान व्यवहार करना और यही समझना कि उसके साथ इतना ही सबध था। विधवा विवाह का संकेत इस मन्त्रमें देखने योग्य है।

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे

बलाय । अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः

स्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥   ऋ. १०।१८।९॥

(अस्मै क्षत्राय वर्चसे बलाय) इस शौर्य तेज और बलके लिये (मृतस्य हस्तात्) इस मृत मनुष्यके हाथसे (धनु आददानः) धनुष्य लेनेवाले (अत्र एव त्वं इह) यहां तू ही अकेला है, (वयं सुवीराः) हम सब उत्तम शूर बनकर (विश्वा स्पृध अभिमाती) सब स्पर्धा करनेवाले शत्रुओंको (जयेम) जीतेंगे।

शौर्य, तेज और बल प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिए, युद्धमें मृत मनुष्योंके हाथोंसे धनुष्यादि शस्त्रास्त्र लेकर भी शत्रुका नाश करना चाहिए। अर्थात् मृत मनुष्यों अथवा वीरोंके लिये शोक करनेमें सब आयुष्यका व्यय न करते हुए अपना कर्तव्य करनेमें तत्पर होना चाहिये।

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशे-

वाम् । ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु

निर्ऋतेरुपस्थात् ॥   ऋ. १०।१८।१०॥

(उरु व्यचस) अत्यंत विस्तृत (सुशेवा पृथिवीं) सुख देनेवाली विस्तारयुक्त (एता मातरं भूमिं) इस मातृभूमिके (उप सर्प) पास आ जाओ । (ऊर्णम्रदा एषा युवति) ऊनके समान कोमल यह स्त्री (दक्षिणा वत) दान देनेवालेकी धर्मपत्नी (निर्ऋते उपस्थात्) विनाशके स्थानसे भी (त्वा पातु) तेरा संरक्षण करे ।

मातृभूमिकी सेवा करनी चाहिए। स्त्रियोंको भी चाहिए कि वे स्त्रियां मातृभूमिकी सेवा करनेवाले पुरुषोंकी सहायता करे। मातृभूमिकी सेवासे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है और नाश नहीं होता । मातृभूमिकी परिचर्यासे

मनुष्योंमें संघशक्ति बढती है, जो उनको नाशसे बचाती है।

उच्छ्र्वञ्चस्व पृथिवि मा निबाधथाः सूपायनाऽस्मै
भव सूपवञ्चना। माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम
ऊर्णुहि ॥ ऋ. १०।१८।११॥

हे (पृथिवि) भूमि! (उच्छ्वञ्चस्व) मार्ग खुला करो। (मा निबाधथाः) बाधा मत करो। (अस्मै) इसके लिये (सु-उपायना) उत्तम साधन देनेवाली तथा (सु-उपवंचना) उत्तम कल्पना देनेवाली (भव) हो। हे (भूमे) पृथिवि! (यथा माता पुत्रं सिचा) जिस प्रकार माता पुत्रको अपने आंचलसे रक्षित रखती है, उस प्रकार (एनं अभि ऊर्णुहि) इसको आश्रय देओ।

मातृभूमिकी उपासनासे उन्नतिका मार्ग खुल जाता है, और सब बाधाएं दूर हो जाती हैं। इसलिये उन्नति चाहनेवाले सब लोगोंको उचित है कि वे मातृभक्तिको अपने मनमें बढाकर अपनी उन्नतिका साधन करें। और उत्तम यशको प्राप्त हों।

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि
श्रयन्ताम्। ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै
शरणाः सन्त्वत्र ॥ ऋ. १०।१८।१२॥

(उच्छ्वंचमाना पृथिवी) मार्ग खुला करनेवाली भूमि (सु तिष्ठतु) सुस्थिति करनेवाली हो। (सहस्र मित) सहस्रों प्रकारके ज्ञान या निर्माण वाले (हि उपश्रयन्तां) मातृभूमिका आश्रय करें। (ते गृहास) तेरे घर (घृतश्चुतः) घीका सिंचन करनेवाले (भवन्तु) हों। (अत्र) यहां (विश्वाहा) सब दिन (अस्मै) इसके लिये (शरणा सन्तु) आश्रय देनेवाले सब लोग हों।

घरोंमें घीका संग्रह होना चाहिए। घी आयुष्य बढानेवाला और रोग हटानेवाला है। इसलिये घरमें भरपूर घी रखना चाहिये, और घरके सब मनुष्योंको भरपूर घी देना चाहिये। घी पीनेसे उत्साहवृद्धि होती और थकावट दूर होती है। इस प्रकार उत्तम खानपानसे उत्साहित और नीरोग होकर मातृभूमिकी उपासनामें दत्तचित्त होकर अपनी उन्नतिका साधन हर-एकको व्यक्तिशः तथा संघशः करना चाहिये।

मृत्युका सब पर अधिकार।

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्।

तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥२३॥ अ. ८।२।२३

द्विपाद् तथा चतुष्पाद् प्राणियोंपर मृत्यु (ईशे) शासक है। (तस्मात् गोपते मृत्योः) उस भूमिके शासक मृत्युसे (त्वां उद्भरामि) तुझे ऊपर उठाता हूं, तू (मा बिभे) मत डर।

सब प्राणियोंके पीछे मृत्यु लगा है। उत्तम सद्व्यवहार करके मृत्युका डर कम करना चाहिए, और उसके पाश तोड़कर अमरत्वकी प्राप्ति करनी चाहिए।

दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति का उपाय।

आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः ।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥ अ. १९।२७।८॥

(आयुष्कृतां) दीर्घ आयु प्राप्त करनेवालोंके समान (आयुषा) अधिक आयु प्राप्त करके (जीव) जीओ। (आयुष्मान्) दीर्घ आयु धारण करके (जीव) जीओ (मा मृथा) मत मरो। (आत्मन्वतां) आत्मिक बल धारण करनेवालोंके समान (प्राणेन) प्राणशक्तिके साथ (जीव) जीओ। (मृत्योः) मृत्युके (वशं) वशमें (मा उत् अगाः) मत जाओ।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले पुरुषार्थी और आत्मिक बल धारण करनेवाले आत्मनिष्ठ सत्पुरुष जिस प्रकार पुरुषार्थ करके अपना जीवन अतिदीर्घ बनाते हैं, उस प्रकार हरएक मनुष्यको अपनी दीर्घ आयु बनानी चाहिए। कभी मृत्युके वशमें नहीं जाना चाहिए, परन्तु अपनी इच्छाके आधीन ही मृत्युको रखना चाहिए। मनके अंदर यह एक विश्वास रखना चाहिए, कि मुझे अपमृत्युके वशमें होना ही नहीं। अपनी पूर्ण आयुकी समाप्ति तक सत्कर्म करता हुआ मैं आनंद से रहूंगा, और प्रशस्त यशसे युक्त होऊंगा।

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान्छतशारदः ।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥ अ. १०।३।१२॥

(इमं वरणं) इस श्रेष्ठताको (बिभर्मि) मैं धारण करता हूं, जिससे मैं, (आयुष्मान्) दीर्घायुषी तथा (शत शारदः) सौ वर्ष जीने वाला बना हूं, इससे मुझे राष्ट्र, शौर्य, पशु और बल प्राप्त होवें।

अर्थात् श्रेष्ठताके साथ दीर्घ आयु प्राप्त होता है। यदि दीर्घ आयु प्राप्तकरनेकी इच्छा है, तो सबसे प्रथम अपने मनमें श्रेष्ठ सद्गुण बढाने चाहियें। तथा राष्ट्रियता और क्षात्रतेज अपने अंदर बढ़ाना चाहिये।

आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च । यथा
हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥ अ. १६।२६।३॥

(आयुषे) दीर्घ आयुष्य, (वर्चसे) तेज, (ओजसे) शारीरिक शक्ति, (बलाय) बल इन गुणोंकी प्राप्तिके लिए (त्वा) तुमको धारण करता हूं। जिस प्रकार (हिरण्यतेजसा) सुवर्णके तेजसे तुम (विभासासि) चमकते हो, उसी प्रकार (जनान् अनु) लोगों में मैं तेजस्वी बनूंगा ।

दीर्घ आयु प्राप्त करके तेजस्विता, बल और शत्रुको दबानेकी शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये ।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुंचन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते
दधामि ॥ अ. ८।२॥

(जीवतां ज्योति) जीवित लोगोंके तेजके (अभि एहि) पास आओ। तुमको (शत शारदाय)सौ वर्षके दीर्घायुतक (आहरामि) चलाता हूं । (मृत्युपाशान्) मृत्युके पाशोंको तथा (अशस्ति) अप्रशस्तताको दूरकरके(ते) तेरेलिये(द्राघीय आयु:) दीर्घ आयु (दधामि) अर्पण करता हूं ।

रोगी मनुष्यको इस प्रकार विश्वास उत्पन्न करानेसे वह दीर्घ आयु प्राप्त करने योग्य बनता है ।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥११॥
आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥ अ. ८।२॥

तेरे लिये मैं प्राण और अपान, (जरां मृत्युं)वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु,दीर्घ आयुष्य, (स्वस्ति) आरोग्य देता हू। वैवस्वत यमसे भेजे हुए यमदूतोंको मैं (अपसेधामि) दूर करता हूं। (अराति) ईर्ष्या, द्वेष, द्रोह (निर्ऋति) रोति और विधिके विरुद्ध आचरण, (ग्राहिं) बडी देरतक चलनेवाली बीमारी (क्रव्यादः) मांसको क्षीण करनेवालेरोग, (पिशाचान्) रक्त खानेवाले रोगबीज, (रक्षः-क्षरः) क्षय उत्पन्न करनेवाले रोगबीज,(दुर्भूतं) बुरीरीतिसे रहनेका अभ्यास, आदि जो कुछ है, उसको मैं दूर करता हू, जैसे प्रकाश अन्धेरेको दूर करता है।

उक्त रीतिसे व्यवस्था करनेपर दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है। इस मन्त्र ने 'यमदूत' कौन हैं, इसका भी निर्णय कर दिया है। ईर्ष्या, द्वेष, प्रभृतिही यमदूत हैं।

उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित्तमसस्परि ॥ ११ ॥

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥ अ. ५।३०॥

(कृष्णात् तमस) जिस प्रकार अन्धेरा छोडकर (परि) ऊपर प्रकाशमें आते हैं, उस प्रकार (गंभीरात्) गहन मृत्युसे (उदेहि) ऊपर उठो। अधिपति सूर्य (रश्मिभिः) अपने किरणोंसे (त्वा) तुझको (मृत्यो) मृत्युसे बचावे।

मृत्युका स्थान नीच अवस्थामें है। वहां से उन्नत होनेपर उच्च अवस्था में आनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। सूर्यकिरणोंकी सहायतासे मृत्युका भय दूर हो सकता है। सूर्यकिरणोंका उपयोग और प्रयोग करके मृत्युको हटानेकी विधि प्राप्त हो सकती है। वेदमें अनेक स्थानपर सूर्यकिरणोंका संबंध दीर्घ आयु, आरोग्य और मृत्यु हटानेके साथ जोडा है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य सूर्यप्रकाशके साथ अपना संबंध अधिकसे अधिक जोडे और आरोग्यप्राप्ति-पूर्वक दीर्घ आयु प्राप्त करे।

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च।

यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥ अ. १२।२।२॥

(अघशंसदुःशंसाभ्यां) पाप और दुराचारके कारण बनी हुई सब (यक्ष्मं) बीमारी (करेण) कृति और (अनुकरेण) अनुकृति द्वारा दूर करता हूं और मृत्युको हटाता हूं।

इस मंत्रमें रोगोंकी उत्पत्तिके कारण दिये हैं, पाप और दुराचारके कारण विविध रोग होते हैं। अर्थात् जो धार्मिक जीवन व्यतीत करते और दुराचारसे प्रवृत्त नहीं होते, वे रोगी नहीं हो सकते।

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न

ऐतु ॥ इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषाम-

सवो यमं गुः ॥ अ. १८।३।६२॥

(विवस्वान्) सूर्य हम सबको (अमृतत्वे) अमृतमें (दधातु) रखे। मृत्यु (परा एतु) दूर होवे और अमृत हमारे पास आवे। (इमान्) इन (पुरुषान्) पुरुषोंकी (जरिम्णः) वृद्धावस्थातक (रक्षतु) रक्षा होवे, और इनके (असवः) प्राण (यमं) यमके प्रति न जावें।

इस मन्त्रमें भी सूर्यका अमृतत्वके साथ संबंध वर्णन किया है। वह विचार की दृष्टिसे देखने योग्य है।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।

यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे। स

च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ अ. ५।३०।१७॥

(अयं) यह (लोकः) मनुष्य देह (देवानां) देवोंको (प्रियतम) अत्यन्त प्रिय और (अपराजितः) अपराजित है। हे (पुरुष) मनुष्य! जब तू (जज्ञिषे) जन्म लेता है, तब तू यहां मृत्युके लिये (दिए) समर्पित होता है। इसलिये तुमको (अनु-ह्वयामसि) कहता हूं कि, तू (जरस पुरा) वृद्धावस्थाके पूर्व (मा मृथाः) मतमर।

अपने अन्दर देवोंका निवास देखकर अपना बल बढाना चाहिये। और स्वयं अपराजित होकर, अपमृत्युको दूर करके वृद्धावस्थासे पूर्व न मरनेके लिये योग्य धर्मनियमोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

स नों विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत् ।

प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ऋ. १।२५।१२॥

(सु-क्रतु आदित्य.) उत्तमकर्म करनेवाला आदित्य (विश्वा हा) सर्वदा (न) हमारे लिये (सुपथा करत्) उत्तम मार्ग करे और (न आयूंषि) हमारे आयुष्य (प्र तारिषत्) बढावे, हमें दीर्घायु देवे।

सूर्य अपने प्रकाशद्वारा सबको अपने अपने मार्ग उत्तम प्रकारसे बताता है, तथा अपने प्रकाशसे जीवनशक्ति प्रदान करके सबके आयुष्य बढाता है। इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरोंका मार्गदर्शक बने और आरोग्यके नियमादि बताने द्वारा उनके दीर्घ आयु बनानेका हेतु बने।

दीर्घायुत्व की प्रार्थना ।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः

शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्र-

वाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च

शरदः शतात् ॥ य. ३६।२४॥

(तत्) वह (देव-हितं) ज्ञानियों का हित करनेवाला (शुक्र) शुद्ध, पवित्र (चक्षु) ज्ञाननेत्र (पुरस्तात्) पहिले से ही (उत चरत्) उदित हुआ है। उसकी सहायतासे (शरद शतं पश्येम) सौ वर्ष पर्यंत देखें, (शरद. शतं जीवेम) सौ वर्ष जीते रहें, (शरदः शतं शृणुयाम) सौ वर्ष सुनें, (शरदः शतं प्रब्रवाम) सौ वर्ष प्रवचन करें, (शरद शतं अ-दीना. स्याम) सौ वर्ष दीन न होते हुए रहें, (शरदः शतात् भूय च) और सौ वर्षोंसे अधिक भी आनन्द से रहें।

जिससे सबका हित होता है, उस ज्ञानकी प्राप्ति पहिले करनी चाहिये, उसी ज्ञानसे हमारी आयु बढेगी, हमारी इंद्रियोंकी शक्तियां सबकी सब मृत्युके समय तक अच्छी अवस्थामें रहेंगी। और सौ वर्ष से भी अधिक आयु होगी।

पश्येम शरदः शतम् ॥ १ ॥ जीवेम शरदः शतम्
॥ २ ॥ बुध्येम शरदः शतम् ॥ ३ ॥ रोहेम शरदः
शतम् ॥ ४ ॥ पूषेम शरदः शतम् ॥ ५ ॥ भवेम
शरदः शतम् ॥ ६ ॥ भूयेम शरदः शतम् ॥ ७ ॥
भूयसीः शरदः शतात् ॥ ८ ॥ अ. १९।६७॥

सौ वर्षतक देखें, जीते रहें, ज्ञान लेते रहें, बढ़ते रहें, पुष्ट होते रहें, संपन्न होतेरहें, इतनाही नहीं परंतु सौ वर्षसेभी अधिक जीतेरहें और उन्नत होते रहें। यह आशय इस मंत्रका है। "भूयसीः शरद शतात्" यह मंत्र पूर्व मंत्रकाही आशय स्पष्ट कर रहा है। 'रोहेम, बोध्येम, पूषेम' ये तीन शब्द सौ वर्षपर्यंत शरीरकी वृद्धि करनेका तथा ज्ञानकी वृद्धि करनेका उपदेश कर रहे हैं। यह उपदेश ध्यानमें धरकर हरएक मनुष्यको अपनी आयुकी वृद्धि करनी उचित है।

हवन से नीरोगता

अ. ३।११।

मुंचामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत
राजयक्ष्मात्। ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इंद्राग्नी
प्र मुमुक्तमेनम् ॥१॥

हे मनुष्य! (त्वा) तुझे (अज्ञात-यक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और (राज-यक्ष्मात्) क्षय रोगसे निवृत्त करके (कं जीवनाय) सुखमय जीवनके लिए (हविषा) हवनके द्वारा (मुंचामि) छुड़ाता हूं। (एनं) इस रोगीको (ग्राहिः जग्राह) न छोड़नेवाले रोगने (जग्राह) पकड़ रखा है। (तस्याः) उस पीड़ासे इसको, (इंद्राग्नी) विद्युत् और अग्नि अथवा वायु और सूर्य (प्रमुमुक्तं) छुड़ा सकते हैं।

क्षयरोग तथा कई दूसरे रोग हवनसे दूर होते हैं। शीघ्र न छोड़नेवाले रोगभी विद्युत् प्रयोग तथा अग्नि प्रयोगसे दूर होजाते हैं।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरंतिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥२॥

यदि (क्षितायुः) आयु समाप्त हो चुकी है, यदि (परेतः) प्रायः मर चुका

है, अथवा यदि मृत्युके (अतिकं नीत) पास आ चुका है, तथापि (तं) उसको (निर्ऋतेः उपस्थात्) बीमारीके पाससे (आहरामि) मैं लौटा लाता हूं और (शत शारदाय) सौ वर्षके जीवनके लिये (अस्पार्षं) बल देता हूं।

रोगी बिलकुल आसन्नमरण भी हो, तथापि योग्य उपायोंके प्रयोगसे वह पुनः दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है।

इस मंत्रमें 'नि ऋति' शब्द बीमारी, महामारी आदिका वाचक है। "ऋत"=नियम अर्थात् ठीक, योग्य, पथ्य आचार व्यवहार। इसका आचरण न करनेका नाम "निर्ऋति" है। यही सब बीमारीयोंका मूल कारण है। इस लिये हरएकको उचित है, कि वह सुनियमोंका पालन करे और आरोग्यपूर्ण दीर्घ जीवन प्राप्त करे।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इंद्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥

(सहस्राक्षेण) सहस्र औषध पदार्थोंसे युक्त (शतवीर्येण) सैकडों प्रकारके गुण करनेवाले, (शतायुषा) सौ वर्षकी आयु बढानेवाले (हविषा) हवनके द्वारा (एनं आहार्षं) इसको मैं लाया हूं। (इन्द्र) आत्मा इसको (यथा) जिस प्रकार (शरद नयति) सौ वर्षकी आयुतक ले जायगा और (विश्वस्य दुरितस्य पारं) संपूर्ण दोषोंके परे पहुंचायेगा, वैसा मैं करता हूं।

उत्तम हविर्द्रव्यमें सहस्रों पदार्थ होते हैं, जिनसे सैकडों लाभ प्राप्त होते हैं, और सौ वर्षकी आयुभी प्राप्त होती है। शरीरके सब दोष दूर होते हैं और पूर्ण आयु मिलती है, हवनसे इतने लाभ होते हैं।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हैमन्ताञ्छतमु
वसन्तान् । शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः
शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥

(वर्धमान) बढता हुआ तू (शरद शतं) सौ शरदृतुतक, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुतक और सौ वसंत ऋतुतक (जीव) जीता रह। इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति ये (ते) तेरे लिये (शतं) सौ वर्षका आयुष्य देवें। (शतायुषा हविषा) सौ वर्षकी आयु करनेवाले हविसे अर्थात् हवनसे (एनं आहार्षं) इसको मैं लाया हूं अर्थात् पूर्णायुके लिये जीवित किया है।

सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। इंद्रादि शब्द विशेष चिकित्साओंके वाचक हैं, (१) इंद्र-विद्युत् चिकित्सा, (२) अग्नि चिकित्सा, (३) सविता-सूर्य किरण चिकित्सा, (४) बृहस्पति-मानस चिकित्सा।

साथ साथ (५) हवि-हवन चिकित्सा। इन सब चिकित्साओंके योग्य रीतिसे करनेपर अवश्य दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

❀ षड्रिपुओं का दमन ❀

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

अ. ८।४।२२॥

(सुपर्ण-यातुं) गरुडके समान चालचलन अर्थात् घमण्ड, गर्व, अहंकार, (गृध्र यातु) गीधके समान वर्ताव अर्थात् लोभ, दूसरेके मांस पर स्वयं पुष्ट होने की इच्छा, (कोक-यातु) चिड़ियाके समान व्यवहार अर्थात् अत्यन्त काम-विकार, (श्व-यातुं) कुत्तेके समान रहना अर्थात् आपसमें लड़ना और दूसरोंके सामने दुम हिलाना, (उलूक-यातुं) उल्लूके समान आचार अर्थात् मूर्खताका व्यवहार करना उल्लू जिस प्रकार प्रकाशसे भागता है, उस प्रकार ज्ञानकी रोशनीसे भाग जाना, (शुशुलूक-यातुं) भेड़ियोंके समान क्रूरता, ये छे राक्षस हैं। गर्व, लोभ, काम, मत्सर, मोह और क्रोध ये विकार हैं, जिनको (दृषदा इव) जैसे पत्थरसे पक्षियोंको मारते हैं, उस प्रकार पत्थरके समान दिल दृढ करके हे (इन्द्र) पुरुषार्थिन्! (रक्षः प्रमृण) राक्षसों को दूर करो और इनसे सबको बचाओ॥

काम, क्रोध लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छ मनोविकारोंको दूर करना चाहिये। ये मनुष्यके शत्रु हैं, इनमेंसे अकेला अकेला मनुष्यका नाश कर सकता है, फिर यदि एकस अधिक इकट्ठे हों, तो कितना नाश करेंगे, यह कहना कठिन है। इसलिये इन छ शत्रुओंको दबाकर रखना चाहिये। और कभी बढने नहीं देना चाहिये। मनुष्यकी उन्नतिके लिये इनको स्वाधीन रखना अत्यन्त आवश्यक है।

❀ श्रद्धा ❀

ऋ० १०। १५१॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥

(श्रद्धया अग्निः समिध्यते) श्रद्धा भक्तिसे अग्नि प्रदीप्त किया जाता है। श्रद्धा से ही हवन सामग्रीका (हूयते) हवन किया जाता है। (भगस्य मूर्धनि) ऐश्वर्यके शिरपर हम सब (श्रद्धां) श्रद्धाको (वचसा वेदयामसि) प्रशंसाके साथ मानते हैं।

सब पुरुषार्थ श्रद्धासे किये जाते हैं, ऐश्वर्यके शिरपर श्रद्धाका स्थान है, इस लिये श्रद्धाही प्रशंसा करने योग्य शक्ति है॥

श्रद्धा हो, तभी मनुष्य कुछ कर्तव्य कर सकता है। श्रद्धाके विना मनुष्य कुछभी करने योग्य नहीं रहता। श्रद्धाके अन्दर अद्भुत बल है। श्रद्धावान् मनुष्य अपनी श्रद्धा के बलसे अद्भुत पुरुषार्थ कर सकता है। इससे मन को श्रद्धा से युक्त बनाना चाहिये।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।

प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥

हे श्रद्धा देवी! (ददत प्रियं) श्रद्धासे दान देनेवालेका कल्याण कर, (दिदासत) श्रद्धासे देनेकी इच्छा करनेवालेका प्रिय कर, (भोजेषु यज्वसु) श्रद्धासे भोग और यज्ञ करनेवालोंका कल्याण कर, (इद मे) यह मेरा सब (उदित कृधि) उदयसे पूर्ण कर।,

श्रद्धा भक्तिसे पुरुषार्थ, दान और कर्म करनेवालों को यश प्राप्त होता है और उनके ही श्रम सफल होते हैं।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।

एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥

(यथा) जिस प्रकार देवोंने भी (उग्रेषु असुरेषु) शूर असुरों अर्थात् अपना जीवन अर्पण करनेवालोंमें (श्रद्धा चक्रिरे) श्रद्धा रखी थी। उस प्रकार भोग लेनेवाले और यज्ञकरनेवालोंमें (अस्माक उदित कृधि) हम सबका उदय करो।

विद्वानोंको चाहिए कि वे शूरोंपर श्रद्धा रखें और शूरोंको चाहिए कि वे विद्वानोंपर श्रद्धा रखे। शूर क्षत्रिय भोग भोगनेवाले और ज्ञानी यज्ञ करनेवाले होते हैं। उनमें एकदूसरेके विषयमें श्रद्धा चाहिए, जिससे सबका भला होसकता है। ब्राह्मण क्षत्रियोंका इस प्रकार श्रद्धासे परस्पर संगठन हो तो राष्ट्रमें विलक्षण बल बढसकता है अर्थात् श्रद्धासे राष्ट्रिय और जाति उन्नतिभी सिद्ध होसकती है।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।

श्रद्धां हृदय्य१या कूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

(देवा यजमाना) दिव्य यजमान (श्रद्धा) श्रद्धाको प्राप्तहोते हैं। (वायु गोपा) प्राणसे सुरक्षित होनेवाले प्राणायाम करनेवाले योगी श्रद्धासे ही उपासना

करते हैं। (हृदय्यया आकूत्या) हृदयके उच्च भावसे (श्रद्धां) श्रद्धा प्राप्त होती है। और श्रद्धासे ही (वसु विन्दते) धन प्राप्त होता है।

सब लोक श्रद्धाके होनेसे ही सत्कर्म कर सकते हैं। योगी लोक प्राणायामसे आत्म-शुद्धि करके श्रद्धासे ही उपासना करते हैं। श्रद्धा यों ही नहीं प्राप्त होती परन्तु वह हृदयकी एक विशेष भावनासे उत्पन्न होता है। श्रद्धासे ही सब पुरुषार्थ सफल और सुफल होते हैं। इसलिये अपनी वैयक्तिक तथा जातीय उन्नति के लिये हरएकको अपने अंदर श्रद्धा बढानी चाहिये।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

प्रातःकालमें श्रद्धासे कम करते हैं, और उसी प्रकार मध्यदिनमें और सूर्य के (निम्रुचि) अस्त होनेके समयमें भी श्रद्धा से भक्ति करते हैं, हे श्रद्धे! हम सबको श्रद्धासे युक्त करो ॥

इस सूक्तपर विचार-श्रद्धा, विश्वास, मनका निश्चय, दिलका अटल भरोसा ही मनुष्यसे महान् से महान् पुरुषार्थ कराता है। श्रद्धाकेविना मनुष्य कुछभी नहीं कर सकता। जैसे धार्मिककृत्योंमें श्रद्धा होनेसे बड़े बड़े धर्म कृत्य मनुष्य कर सकता है, उसी प्रकार सब अन्य व्यवसाय भी श्रद्धा से ही किये जाते हैं। इस प्रकार सर्वत्र श्रद्धाका अधिकार चलता है। इसलिये श्रद्धा एक बडी भारी शक्ति है। यह श्रद्धा मनुष्योंमें उत्पन्न होवे, और उसके द्वारा मनुष्य सदा सत्कार्य करते रहें।

मनुष्यमें कितनी भी शक्ति, बुद्धि तथा अन्य प्रकारकी समर्थता क्यों न हो परन्तु यदि श्रद्धा उसमें न होगी, तो उसके अन्य सद्गुण उत्तम प्रकारसे अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते। अर्थात् अश्रद्धाके कारण अन्य सद्गुणोंका बल कम होता है, और श्रद्धाके कारण अपना बल बढ जाता है। इसलिये न केवल धार्मिक भूमिकामें परन्तु हरएक अन्य भूमिकामें श्रद्धासे ही कृतकार्यता सिद्ध होती है।

इसलिये हरएकको उचित है, कि वह अपने अंतःकरणमें श्रद्धा भक्तिका विकास होने दे। तथा जो जो सत्कर्म करता है, उसको श्रद्धाके साथ उत्तम प्रकार करनेका अभ्यास करे। जिनके अंतःकरणमें श्रद्धा नहीं होती, वे प्रयत्नसे अपनेमें श्रद्धाका उदय करें।

❋ योग ❋

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥ अ. १०।२।२६॥

(अस्य) इसका (मूर्धानं हृदयं च) मस्तिष्क और हृदय (सं) एक करके (सीव्य) सीकर (पवमान) पवित्र (अथर्वा) स्थितप्रज्ञ योगी (शीर्षत अधि) सिरके ऊपर (मस्तिष्काद्) मस्तिष्कसे (ऊर्ध्व) परे (प्रैरयत्) प्रेरित होता है। अर्थात् (१) मस्तिष्क और हृदयको एक बनाकर सम उन्नत रखना, (२) और पवित्र बनकर मस्तिष्कके परे अर्थात् तर्ककी भूमिसे परे कूदना, ये दो उपदेश इस मंत्रमें अत्यंत महत्व पूर्ण आगये हैं। किसी अन्य धर्मग्रंथमें इस प्रकार इस बातको साफ नहीं किया है, जैसा कि यहां हृदय और मस्तिष्कको एक करनेके लिये बताया है। मस्तिष्कका कार्य तर्क-वितर्क-कुतर्क करना है, और हृदयका कार्य भक्ति करना है। दोनोंकी समतासे उन्नति और विषमतासे हानि होती है।

इस मंत्रका "अ-थर्वा" शब्द स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है। यह योगी अपने प्राणको मस्तिष्कमें चढाता है और आत्मानंदका अनुभव लेता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये भी हृदय और मस्तिष्कको सम उन्नत करना आवश्यक है।

प्राणद्वारा मनकी स्थिरता संपादन करनेका योगमार्ग इस मंत्रमें कहा है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ अ. १०।२।३०॥

(य अमृतेन आवृता ब्रह्मण पुर वेद) जो उपासक भक्त अमृतसे वेष्टित ब्रह्मकी नगरीको जानता है। (तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मा च चक्षु प्राणं प्रजां ददु.) उसको ब्रह्म और ब्राह्मा=ब्रह्मभक्त चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। (चक्षुः प्राण जरस. पुरा तं न जहाति) चक्षुरादि इन्द्रिय, प्राण अर्थात् आयु वृद्धावस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडते, (य ब्रह्मण पुर वेद) जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है। (यस्य पुरुष उच्यते) जिसके कारण उसे पुरुष कहते हैं।

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।

तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ अ. १०।२।२७॥

(अथर्वणः शिर) अथर्वा=योगीका जो सिर है, (तत्) वह (वै) निश्चयसे (समुब्जित देवकोश) देवोंका सुरक्षित कोश है। (प्राणः तत् अभिरक्षति) प्राण उस सिरका संरक्षण करता है, (अन्नं अथो मन) अन्न और मन भी संरक्षण करते हैं।

इस प्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राण शक्तिकी स्वाधीनता होनेसे शरीरकी सपूर्ण शक्तियां आधीन हो जाती हैं। और प्राण शक्तिकी स्वाधीनता करनेवालेको योगसाध्य सब सिद्धियां मिलती हैं।

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानो विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशे कम्।

अंतर्येमे अंतरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य॥ ऋ. १०।५।५

(वावशान विद्वान्) इद्रियोंको वशमें रखनेवाले ज्ञानीने (कं दृशे) आनंदके दर्शनके लिये (मध्व) अमृतमे (अरुषीः) तेजस्वी (सप्त स्वसॄ) सात बहिनसमइन्द्रियोंको (उत् जभार) उन्नत किया है। और (पुरा-जाः) पहिले जन्मा हुआ वह जीवात्मा (अंतरिक्षे) अत करणमें (अंतः) बीचमेंसे (येमे) नियमन करता है। जो उन्नतिकी (इच्छन्) इच्छा करता है, वह (पूषणस्य वव्रिं) पोषकका आश्रय (अविदत्) प्राप्त करता है।

संयमी विद्वान् आनद प्राप्तिके लिये आत्मशक्तिसे अपनी सातों इन्द्रियोंको उन्नतिके मार्गपर चलाता है। जिसने पहलेभी अनेकवार जन्म लिये हैं, ऐसा यह जीवात्मा अपने अत करणके द्वारा सबका नियमन करता है। ऐसा आत्मसयमी जिस प्रकारकी उन्नति चाहता है, उस प्रकारकी उन्नति ईश्वरकी सहायतासे प्राप्त करता है। (१) नाक (२) जिह्वा (३) आख (४) कान (५) त्वचा) (६) मन और (७) बुद्धि ये सात आत्माकी बहिनें हैं। इनके सयमसे उन्नति और असयमसे अधोगति होती है।

ब्रह्मज्ञान से मुक्ति

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणे-

ऽपचत् । यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदने-

नाति तराणि मृत्युम् ॥ अ. ४।३५।१॥

(ऋतस्य प्रथमजा प्रजापति.) सत्यके प्रथम प्रवर्तक प्रजापतिने (तपसा) अपने तेजसे (यं ओदनं) जिस ज्ञानरूपी ओदनको (ब्रह्मणे) जीवके लिये, मुक्तिके लिये (अपचत्) पकाया। और (य) जो (लोकानां विधृति) लोकोंका विशेष धारणकर्ता और जो सबका (नाभिः) मध्य है। उसके (तेन ओदनेन) पकाये हुए ज्ञानरूपी चावलोंसे (मृत्युं अतितराणि) मृत्युके पार होता हूं।

ब्रह्म=मुक्ति (न्यायभाष्य १ १ २१)

वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पर-

स्तात् । तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था

विद्यतेऽयनाय ॥ य. ३१।१८॥

(तमसः परस्तात्) जो अंधकारसे परे, (आदित्यवर्णं) सूर्यके समान तेजस्वी और (महान्तं पुरुषं) महान् पुरुष है, उसको (अहं वेद) मैं जानता हूं। (तं एव विदित्वा) उसको जाननेसेही (मृत्युं) मृत्युके (अत्येति) पार हो सकता है। (अयनाय) मृत्यु दूर करनेका (अन्य. पंथा) दूसरा कोई मार्ग (न विद्यते) नहीं है।

मुक्ति से पुनरावृत्ति।

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो

धेहि भोगं ॥ ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते

मृळया नः स्वस्ति ॥ ऋ. १०।५९।६॥

हे (असुनीते) प्राणसंचालक प्रभो! (अस्मासु चक्षु पुन धेहि) हममें दर्शनशक्ति फिरसे धारण कीजिये, (न इह पुन: प्राणं पुनः भोगं) हमें इस संसार में फिरसे जीवनशक्ति तथा अभ्युदयसाधन भोग दीजिए। (उच्चरन्तं सूर्यं ज्योक् पश्येम) उदय होते सूर्यको चिरकाल तक देखें। हे (अनुमते) अनुमते! (न स्वस्ति मृलय) हम सुख दें॥

मुक्तिजीव परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है, कि प्रभु मुझे फिर से शरीर आदि प्रदानकर। ताकि मैं फिर पुरुषार्थ करके पुन इस अवस्थाको प्राप्त करूं।

कस्यं नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य
नाम । को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च
दृशेयं मातरं च ॥ ऋ. १।२४।१॥

(अमृतानां) अमर देवोंमें (कतमस्य कस्य देवस्य) किस सुखमय, देवके (चारु) सुंदर नामका (मनामहे) हम मनन करें। (कः नः) कौन हमें (मह्यै अदितये) बड़ी स्वतन्त्रता, बन्धनरहितता के प्रति (पुनः) पुनः (दात) देता है और किस की कृपा से (मातरं च) माता और (पितरं च) पिताको मैं (दृशेयं) फिर देख सकूं ?

संपूर्ण देवोंमें कौन मुख्य देव है, कि जिसका नाम लेनेसे मनुष्य कृतार्थ हो जाता है ? संपूर्ण देवोंमें कौन मुख्य देव है, कि जो मनुष्योंको मुक्तिके मार्गपर चलाता है ? और किसकी कृपासे जन्म प्राप्त होकर उन्नतिके साधन हमें प्राप्त होते हैं ? उसी अद्वितीय एक देवकी उपासना हम सब करें।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य
नाम । स नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं
मातरं च ॥ ऋ. १।२४।२॥

(अमृतानां प्रथमस्य) अमरोंमें पहिले (अग्नेः देवस्य) तेजस्वी देव परमात्माके (चारु मनामहे) सुन्दर नामका हम मनन करते हैं। (स नः मह्यै अदितये पुनः दात्) वही हमको महती स्वतन्त्रतामें पुनः देता है और (मातरं पितरं च दृशेयं) जिससे हम मातापिताको देखते हैं।

परमात्मा ही सब देवोंमें श्रेष्ठ है, उसके नामका मनन करनेसे सब प्रकार के बन्धनोंकी निवृत्ति हो जाती है। मुक्तिकी अवधि समाप्तिके अनन्तर उसकी कृपासे फिर माता पिता मिलते हैं, और फिर मोक्षप्राप्तिके लिए जीव पुरुषार्थ करता है। इसलिये हरएकको उसका नाम लेना चाहिये। और उसी अद्वितीय परमात्माकी उपासना करनी चाहिये।

पुनर्जन्म

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥ अ. ११।४(६)

(पुरुषः) मनुष्य (गर्भे अन्तरा) गर्भके अन्दर (प्राणति) श्वास लेता है और (अपानति) उच्छ्वास छोड़ता है। हे प्राण! जब तू (जिन्वसि) प्रेरणा-अनुमोदन देता है (अथ) तब ही (स·) वह (पुनः आयते) फिर उत्पन्न होता है।

गर्भके अन्दर भी यह प्राणी जीवन लेता है, अर्थात् इसको गर्भमें भी प्राण मिलता है, और इससे अपान दूर होता है।

[सूचना-कई लोक समझते हैं, कि वेदमें पुनर्जन्म की कल्पना नहीं है। इस मंत्रमें "स पुन आयते" अर्थात् वह पुनर्जन्म लेता है, ये शब्द पुनर्जन्मकी स्पष्ट कल्पना बता रहे हैं। इन शब्दोंको देखनेसे उक्त शंका रह नहीं सकती।]

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् । वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा
अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ य. ४।१५॥

(मे) मुझे (मन पुनः आगन्) मन फिरसे प्राप्त हुआ है (पुनः प्राणः) प्राण भी फिरसे मिला है (मे आत्मा पुन आगत्) मेरा देह भी पुनः मिला है, (पुन चक्षु) आंख भी फिरसे और (श्रोत्रं पुन आगन्) कान भी पुनः प्राप्त हुए हैं, अतएव (मे आयु पुन आगन्) मेरा जीवन मुझे फिरसे मिला है। (वैश्वानर) सर्वजनहितकारी (अदब्ध) परमबलिष्ठ (तनूपा) सर्व शरीररक्षाकारी (अग्नि) सर्वज्ञानधारी, दुरितसंहारीभगवान् (दुरितात् अवद्यात् न पातु) दुराचार तथा पापसे हमें बचाए।

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गई थीं, यद्यपि प्राण जागता था, तथापि उसके कार्यकाभी पता हमको नहीं था। वह सब कलके समान आज पुन. प्राप्त हुआ है। यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है? वह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे। जिस प्रकार निद्राके पश्चात् पूर्ववत् संपूर्ण इंद्रियां आदि प्राप्त होतीं हैं, ठीक उसीप्रकार महानिद्राके पश्चात् भी चक्षु श्रोत्रादि सपूर्ण शक्तियां हमें प्राप्त होतीं है, महा निद्राही मृत्यु है, इस मृत्युके पश्चात् पुन जन्म प्राप्त होकर पूर्ववत् संपूर्ण शक्तियोंसे युक्त शरीर मिलता है। इस प्रकार इस मंत्रमें निद्राके वर्णनसे महा-निद्रके पश्चात्की अवस्था संकेत रूपसे बताई है। यही पुनर्जन्मकी कल्पना है।

❋प्रायश्चित्त-शुद्धि❋

यदाशसा निःशसाऽभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु ॥
ऋ. १०।१६४।३॥

(आशसा) आशाके कारण, (निःशसा) दोषके कारण, (अभिशसा) कुसंस्कारके कारण, (जाग्रत स्वपन्तः) जागृतिके समय अथवा स्वप्नके समय, (यद् यद् उपारिम) जो जो दोष हम सबसे हुए हैं, वे (अ-जुष्टानि) असभ्य, अप्रिय (विश्वानि दुष्कृतानि) सब दुराचार (अग्निः) तेजस्वी आत्मा (अस्मद् आरे) हम सबसे परे (अप दधातु) करे ॥

लोभ, दोष, और कुसंस्कारोंके कारण मनुष्योंसे दुराचार होते हैं। इसलिये असभ्यभाव और दुराचारके भाव सबसे दूर करने चाहिये ॥

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि ।

प्रचेता न आंगिरसो द्विषतां पात्वंहसः ॥ ऋ. १०।१६४।४॥

हे (इन्द्र ब्रह्मण-पते) प्रभो ! ज्ञानके स्वामिन् ! (यत्) जो (अभि द्रोहं) दुष्ट घात पात (चरामसि) हमने किया होगा, उसके मूल कारण (द्विषतां अंहसः) द्वेषके पतित भावोंसे (अंगि-रस· प्रचेता) अंगोंमें रसरूप रहनेवाली विशेषप्रकारकी चेतना शक्ति (नः पातु) हम सबको बचावे ॥

द्वेषमूलक कुसंस्कारोंके कारण घातपात करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है। इस लिये आंतरिक जीवनकी चेतना-शक्तिके बलसे उक्त द्वेषमूलक कुसंस्कारोंसे बचना चाहिये ॥

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ ऋ. ४।१३।१॥

हे (देवा देवा) देवो विद्वानों ! (अवहितं) अधोगत मनुष्योंको पुन (उन्नयथा) उन्नत करते हो। हे देवो ! (आग चक्रुषं) अपराध करने वालेको (उत) भी पुन (जीवयथा) उत्तम जीवनसे युक्त करते हो ॥

ज्ञानी विद्वान् महात्माओं को उचित, है कि वे नीच हीन अधोगत और अपराधी पापी मनुष्यको भी योग्य उपदेश द्वारा उन्नत और पवित्र जीवनवाला बनावें ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ ऋ. ६।१६।१॥

(देव-जना) दिव्य सज्जन (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें। (मनवः) मननशील विद्वान् (धिया) बुद्धिसे मेरी पवित्रता करें। (विश्वा भूतानि) सब भूतमात्र मेरी पवित्रता करें। और (पवमान) पवमान प्रभु मुझे पवित्र करें॥

श्रेष्ठ सत्पुरुष, महात्मा, मुनि और विद्वान् सद्बुद्धिके द्वारा सब को शुद्ध करते हैं। इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह उनके पास जाकर, उन का उपदेश सुनकर तदनुसार आचरण करके पवित्र बने।

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥ अ. ६।१९।२॥

(पवमानः) शुद्धकर्ता भगवान् (मा) मुझे (क्रत्वे) पुरुषार्थ करनेके लिये (दक्षाय) बलको बढानेके लिये और (जीवसे) दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये तथा (अरिष्ट-तातये) कल्याण प्राप्त करनेके लिये (पुनातु) पवित्र करें। अपनी शुद्धता करके पुरुषार्थ करनेकी कर्तृत्वशक्ति, बल, दीर्घ आयु और संकटको नाश करने की शक्ति, इतने गुण अपने अन्दर बढाने चाहिये ॥

दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराज-
घ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ य. १।१३॥

(दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं) वेदोक्तकर्मकरनेके लिए शुद्ध हो जाओ। (यत्) यत (अशुद्धाः) अशुद्ध कर्म आदि ने (वः) तुमको (पराजघ्नुः) पराहत किया है। (तत्) अत मैं तुम्हारी (इदं) इस अशुद्धि को दूर करके (देवयाज्यै) देव यज्ञ आदि के लिए (शुन्धामि) तुम्हारी शुद्धि करता हूं।

वैश्वदेवीं वर्चस आरभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः
पावकाः । अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः
सर्ववीराः मदेम ॥ अ. १२।२।२८॥

(वर्चसे वैश्वदेवीं आरभध्वं) तेजप्राप्ति सर्वगुणों का अभ्यास आरम्भ कीजिए। इससे आप स्वयं (शुद्धा) शुद्ध और दूसरों को (पावकाः) पवित्र करने वाले (भवन्तः) बन सकेंगे। हम (दुरिता पदानि अतिक्रामन्त) पाप अवस्थाओं को हटाते हुए (सर्ववीरा शतं हिमाः मदेम) पूर्णवीर बनकर सौवर्ष तक सुखभोगें।

(१) (शुद्धा) शुद्ध बनना, (२) (शुचयः) पवित्र होना, (३) (दुरिता) दुरितोंको अर्थात् दुष्टभावोंको (अतिक्रामन्त) दूर हटाना, (४) (सर्ववीराः) सब वीर भावोंसे युक्त होना ये चार भाव इस मंत्रमें हैं। आंतरिक और बाह्य शुद्धताका बोध करानेवाले "शुद्धा, शुचय, पावकाः" ये शब्द मंत्रमें हैं। दुरित (दुर्+इत) उसको कहते हैं, कि जो विजातीय भाव अंदर घुसने लगते हैं, जो विजातीय पदार्थ अंदर आकर अजीर्ण बनाते हैं। उनको हटाना और ऐसे भाव तथा ऐसे पदार्थ पास करने, कि जो पचन होकर अपने बनकर रहें। यही दीर्घायु बननेकी कुंजी है। इससे हरएक मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे। जो मनुष्य शुद्ध, पवित्र और निर्दोषी वीर होते हैं, उनकी दीर्घ आयु हुई, तो जनताका उपकार हो सकता है। मूर्ख मनुष्यकी आयु कितनी भी लंबी हो जाए तो उससे क्या बनना है? इसलिये ज्ञानी, विद्वान् मार्ग-दर्शक, नेता परोपकारी, शुद्धाचारी, वीर जो हों, उनको प्रयत्न करके दीर्घ आयु प्राप्त करनी चाहिये।

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।

यूयं नस्तस्मान्मुंचत विश्वेदेवाः सजोषसः॥ अ. ६।११५।१॥

हे (विश्वेदेवाः) सब देवता लोगो! (विद्वांसः यत्) जानते हुए जो और (यत् अविद्वांसः) न जानते हुए जो (एनांसि वयं चकृम) पापकर्म हमने किये हैं, (सजोषसः यूयं) समान प्रीतिसे युक्त तुम (तस्मात्) उस पापसे (नः मुंचत) हमें छुडाओ।

किये हुए अपराधके दोषसे मुक्त होना आवश्यक है। पाप जानते हुए किया गया हो या अज्ञानसे किया गया हो, उसका निराकरण करना आवश्यक है। विद्वान् ज्ञानी सज्जन अन्योंको पाप-निष्कृतिका उपाय बता सकते हैं। ज्ञानी विद्वानोंसे उक्त मार्ग जानकर उसका आक्रमण करके हरएकको अपने पापकी निष्कृति करनी चाहिये।

यदि जाग्रद्यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।

भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुंचताम्॥ अ. ६।११५।२॥

यदि (जाग्रत्) जागते हुए और यदि (स्वपन्) स्वप्नमें (एनस्यः एनः) मैंने पाप द्वारा पाप (अकरं) किया हो, वह (भूतं) भूतकालीन हो, वा (भव्यं) भविष्यकालीन हो, (द्रुपदात् इव) काष्ठके बंधनसे छुटनेके समान (मा) मुझे (मुंचतां) उससे छुडालें।

जागृतिमें अथवा स्वप्नमें जो पाप किये जाते हैं, उनके दोषसे मुक्त होनेका पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये।

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव। पूतं

पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुंभन्तु मैनसः॥ अ. ६।११५।३॥

(द्रुपदात् मुमुचान इव) काष्ठ बंधनसे, खडावोंसे छुटनेके समान, (स्विन्नः स्नात्वा मलात् इव) पानीमें गोता लगाकर स्नान करके मलसे जिस प्रकार शुद्ध होते हैं, (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) छाननीसे शुद्ध होनेवाले घीके समान (विश्वे) सब धर्मात्मा लोग (एनसः) पापसे (मा शुंभंतु) मुझे शुद्ध करें।

शुद्धि तीन प्रकारकी है—(१) बाह्य दोषसे शुद्धता जैसी खडावें या जूते आदि अपवित्र पदार्थ पांवोंसे निकालनेसे पांवकी शुद्धता होती है, (२) गात्रोंकी शुद्धि, जो स्नान द्वारा मलके दूर होनेसे होती है, और (३) अंतःशुद्धि। मनुष्यों को इन तीनों प्रकारोंकी शुद्धि करना चाहिये। शरीर शुद्धि, इंद्रियोंकी शुद्धि और आत्माकी पवित्रता ये तीन पवित्रतायें प्राप्त करके मनुष्यको अंतर्बाह्य शुद्धता संपादन करना चाहिये।

आत्मसुधार

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः
प्रतरं नवीयः ॥ आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध
स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ अ. १८।३।१७॥

(क-स्ये) आत्माकी छाननीमें (मृजाना) शुद्ध बनकर (रिप्रं) अशुद्धि, मल अथवा अपमृत्युको (अति यंति) धोकर परे जाते हैं। और (नवीय प्रतरं आयु) नया दीर्घ आयुष्य (दधाना) धारण करते हैं। (अध=अथ) पश्चात् हम सब (प्रजया धनेन) प्रजा और धनके साथ (आप्यायमाना) अभ्युदयको प्राप्त होते हुए, (गृहेषु) अपने घरमें (सुरभयः) सुगंधिरूप बनकर (स्याम) रहें। आत्म परीक्षा करनेका नाम आत्माकी छाननी है। आत्म परीक्षासे जितना सुधार होता है, उतनी किसी अन्य रीतिसे नहीं होता। इस आत्माकी छाननीसे सब मलोंको दूर करके शुद्ध पवित्र और बलिष्ठ बनकर, दीर्घ आयुकी प्राप्तिके उपाय करने चाहिये। इसके साथ साथ उत्तम संतान और विपुल धन प्राप्त करके अपने घरमें सुगंधरूप बनकर रहना चाहिये। जहां सुगंध होता है, वहां सबके मन आकर्षित होते हैं, इसी प्रकार सुगंधरूप मनुष्यके पास सब जनताका आकर्षण होता है। इस प्रकार जनताको आकर्षित करके उनका मार्ग दर्शक बनकर रहना चाहिये। आत्मपवित्रताकी यही परीक्षा है।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णं
बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥ य.३६।२

(१) (यत्) जो (मे) मेरे (चक्षुषः) आंखका (हृदयस्य) हृदयका (वा मनसः) और मनका (अति-तृण्णं) अत्यन्त फटा हुआ (छिद्रं) छेद है, (तत्) उस (मे) मेरे दोषको (बृहस्पतिः) ज्ञानका अधिपति (दधातु) ठीक करे।(२) (यः) जो (भुवनस्य पतिः) सृष्टिका स्वामी है, वह (नः) हम सबका (शं) कल्याणकर्ता (भवतु) होवे।

(१) हमारे चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंमें, हृदयमें और मनमें जो न्यूनता अथवा हीनता छिपी हुई हो, वह परमेश्वरकी दयासे दूर होवे। (२) तथा जगदीश हमारा कल्याण करे। हरएक मनुष्य अपने हृदय, मन और चित्तकी परीक्षा करे और देखे कि उसमें कौनसा दोष है, कौनसा छिद्र है, और उसकी अवस्था कैसी है। उक्त प्रकार जहां दोषकी छाया प्रतीत हो, वहांसे उस दोषको

हटावें और अपने हृदयको सदा शुद्ध और निर्मल रखे। क्यों कि हृदयकी शुद्धतामेंही मनुष्यकी श्रेष्ठता और कनिष्ठता सिद्ध होती है। हृदयकी शुद्धताके लिये ज्ञानमय सर्वज्ञ परमात्माकी भक्ति करनी चाहिये। हृदयकी शुद्धताके लिये परमात्माकी भक्तिके बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। जितनी भक्तिकी दृढता होगी, उतना मन पवित्र होगा, क्योंकि दयामय परमात्मा भक्तोंके अंतःकरणमे दोष नहीं रखते और भक्तोंको निर्दोष बनाते हैं। यदि मनमें पाप विचार आजाय, तो उसको किस प्रकार हटाना चाहिये, इस विषयमें निम्न मंत्रोंका विचार कीजिये और बोध लीजिये-

मन से पापी विचार को हटाना।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥ अ.६।४५।१५

हे (मन-पापं) मनके पाप! (पर) दूर (अपेहि) हट जा। तू (किं) क्या (अशस्तानि) बुरी बातें (शंससि) बताता है! (परा इहि) हटजा। (त्वा न कामये) तुझको मैं नहीं चाहता। (वृक्षान् वनानि) वनोंमें, वृक्षोंमें (संचर) फिरता रह। (मे मन) मेरा मन (गृहेषु गोषु) घरमें और गो आदि पशुओंकी पालनामें है।

मनमें पाप विचार आजाय, तो उसको उसी क्षण दूर हटाना चाहिये। अपनी प्रबल इच्छा शक्तिसे उस पापविचारको दूर हटाना चाहिये। और कभी पाप का प्रभाव अपने मन पर होने नहीं देना चाहिये। मनको शुभ विचार से युक्त करके अपने घर की उन्नतिमें लगाना चाहिये। अपनी उन्नति अपनेसे ही प्रारम्भ होता है। दूसरोंको दोष न देते हुए अपनी शुद्धता स्वयं करने का दृढ यत्न करना चाहिये। इस विषयमें और देखिये-

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥ ऋ. १०।१६४।१॥

हे (मनस-पते) मन को पतित करने वाले कुविचार! (अप इहि) हटो (अप क्राम) दूर भागो। (परः चरः) परे चलो। (परः निर्ऋत्या) दूर के विनाश को (आचक्ष्व) देखो। (जीवत मन) जीवित मनुष्य का मन (बहु धा) बहुत सामर्थ्य से युक्त है।

मन के अन्दर कुविचार बुरा ख्याल आने लगे, तो उस को वहीं से उसी क्षण हटा देना चाहिये। उस बुरे विचार से जो भविष्यत् में होने वाली हानि होगी, उस का विचार करके, मनकी अनेक प्रकार की शक्तियों को इकट्ठा करके कभी गिरावट का विचार पास नहीं आने देना चाहिये।

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युंजन्ति दक्षिणम् ।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥ ऋ. १०।१६४।२॥

(वैवस्वते) तेजस्वीमन ' तू जो (वै वरं वृणते) निश्चय से श्रेष्ठ विचार पसन्द करता है, उससे (भद्रं) कल्याण प्राप्त करता है, जो (दक्षिणं युंजन्ति) दक्षताके साथ योजना करता है, उससे भी (भद्रं) कल्याण प्राप्त करता है । अपनी (चक्षु) आंख को (भद्रं) कल्याण कारक बनाओ। (जीवतः मनः बहु-त्रा) जीवित मनुष्य का मन बहुत समर्थ होता है ।

कल्याण कारक विचार करना, दक्षता के साथ सब कर्तव्य करना और चक्षु आदि सब इन्द्रियों को भलाई के मार्गसे चलाना चाहिये । मनुष्यका मन अनेक प्रकारकी धारणा करता है, इसलिये यदि वह कल्याणकी धारणा करेगा, तो कल्याण प्राप्त करेगा । इसकारण मनमें कभी बुरा विचार नहीं लाना चाहिये । एक बार बुरा विचार मनमें आजाय, तो मन और शरीरपर उसका परिणाम बड़ी हानि-कारक होता है, इसलिये इस विषयमें बड़ी सावधानता रखनी चाहिये । इस रीतिस मन शुद्ध होनेके पश्चात् अब उसकी शक्ति बढानेका यत्न करना चाहिये । इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये ।—

मन की शक्तियों की वृद्धि ।

मनस्त आप्यायतां वाक्त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां
चक्षुस्त आप्यायताꣳश्रोत्रं त आप्यायताम् ॥ य. ६।१५॥

हे मनुष्य ! (ते) तेरा (मन) मन (आप्यायतां) उन्नत होवे । तेरी वाचा उन्नत होवे । तेरा प्राण उन्नत होवे । तेरा आंख उन्नत होवे । तेरा कान उन्नत होवे अर्थात् मनुष्य को उचित है कि वह अपनी शक्तियों का विकास जो मन, वाणी, प्राण, आंख, कान, आदि शक्तियां हैं, उन सब शक्तियों की उन्नति होनी चाहिये । अपनी शक्तिकी उन्नति करनेके लिये ही मनुष्यका जन्म है ।

यज्ञ से मति की समर्थता ।

मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । य. १८।११॥

(मे) मेरी मति और मेरी (सुमतिः) उत्तम मति यज्ञसे (कल्पन्तां) सामर्थ्य शाली होवें । सत्कर्म द्वारा अपनी मति और बुद्धि का संवर्धन करना चाहिये ।

यज्ञसे मति और सुमति अधिक शक्तिशाली होती है। यह उपदेश इस मंत्रसे प्राप्त होता है। यज्ञका अर्थ अत्यंत व्यापक है, परन्तु उसका भाव "प्रशस्ततम कर्म" है। सबसे श्रेष्ठ सर्वोपयोगी जो कर्म होता है, वही प्रशस्ततम कर्म कहलाता है। जिस कर्मसे श्रेष्ठोंका सन्मान, सबके साथ मित्रता और परोपकार होता है, वह प्रशस्ततम कर्म है। इस प्रकारके कर्मोंमें अपने आपको समर्पित करनेसे अपना मन शक्तिशाली और समर्थ होता है। तात्पर्य यह है, कि अपने आपको इस प्रकारके कर्मोंमें लगाना चाहिये और मनकी तन्मयतासे ही उक्त कर्म करने चाहिए। ऐसा करनेसे मनकी शक्ति बढ जाती है। और वह 'समर्थ' हो जाता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

संकल्प का महत्व।

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥

अ. १९।४।२॥

(सुभगां) उत्तम भाग्य युक्त (आकूतिं देवीं) संकल्परूप देवताको मैं (पुरः दधे) आगे धरता हूं। वह (चित्तस्यमाता) चित्तकी माता है, इसलिये वह (नः सुहवा) हमारे लिये उत्तम आदरणीय (अस्तु) होवे। (यां आशां) जिस दिशामें (एमि) मैं जाऊं (सा केवली) वह निर्दोषतायुक्त होकर (मे अस्तु) मुझे प्राप्त होवे। यह संकल्पदेवता जिस समय (मनसि प्रविष्टां) मनमें प्रविष्ट होता है, उसी समय (एनां विदेयं) उसे मैं जान सकूं। संकल्प चित्तको अर्थात् चिंतनशक्तिको प्रेरित करता है। मनमें जैसा संकल्प होता है, वैसाही विचार होता है। यह संकल्प जिस दिशामें जिस विषय-क्षेत्रमें कार्य करता है उसमें वैसी ही सिद्धि मिलती है। इसलिये जिस समय मनमें संकल्प उठे, उसी समय उसको शुभ संकल्प बनाना चाहिये। ऐसा करनेसेही मनुष्यकी उन्नति होगी।

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥

अ. ६।७३।२॥

(वः) आपके (हृदयेषु अंतः) हृदयके में (यः) जो (शुष्मः) बल है और (या) जो (आकूतिः) संकल्प (वः मनसि प्रविष्टा) आपके मनमें प्रविष्ट हुआ है, (ताम्) उनको मैं (घृतेन) घी अर्थात् स्नेहपूर्ण (हविषा) यज्ञसे, (सीवयामि) मिलाता हूं। हे (सजाताः) सजातीय लोगो! (मयि) मेरे अंदर (वः रमतिः) आपका रमण (अस्तु) होवे।

हृदयका बल और मनका संकल्प एक कार्यमें लगने चाहियें, जिससे हरएक कार्य उत्तम रीतिसे पूर्ण होसकता है। इस प्रकार हृदय और मनका एक भाव होकर सबके अंदर स्नेह पूर्ण भाव बसने लगे, तो उन लोगोंमें जो जातीयता होती है, वह विलक्षण संघका बल उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह है, कि मनके संकल्प शुभ और पवित्र बननेसे मनुष्यकी निज उन्नति तो होती ही है, परन्तु राष्ट्रियता और जातीयताका बलभी उन्हीं शुभ संकल्पोंसे बढ़ता है। जिस राष्ट्रमें जातियोंके परस्पर झगड़े होते हैं, उस राष्ट्रके लोगोंको यह उपदेश सदा मनमें रखना चाहिये। जाति जातिके परस्पर झगडे हटानेका एक मात्र उपाय यह है, कि उन लोगोंके मनोंके संकल्प शुभ बनाए जाएं। अन्य उपायोंसे ये झगड़े नहीं हटते। अब मनको शुभ संकल्पमय बनानेके लिये खान पानके आवश्यक पथ्यका विचार करना चाहिये, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

❀ खानपान ❀

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ अ. ६।१४०।२॥

(व्रीहिं) चावलोंका (अत्तं) भोजन कीजिए, (यवं) जौ (अत्तं) खाईए, (माषं) उड़द अथवा (तिलं) तिल भक्षण कीजिए, (रत्नधेयाय) रमणीयताके लिये (एष वां भाग) आप सब लोगोंका यही भाग है। आपके (दन्तौ) दांत (पितरं) रक्षकोंकी तथा (मातरं) मान्यकर्ताओंकी हिंसा न करें। चावल, जौ, माष, तिल, आदि पदार्थ भक्षण करने चाहिये और किसी प्रकार बड़े लोगोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

सं सिंचामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्। संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥ अ. २।२६।४॥

(गवां क्षीरं) गौवोंका दूध (सं सिंचामि) में सिंचित करता हूं। (आज्येन) घीसे (बलं रसं) बल बढानेवाले रसको (सं) सिंचित करता हूं। दूध और घीसे (अस्माकं वीरा) हमारे वीर (सं सिक्ता) सिंचित हों। (गाव) गौवें (मयि गोपतौ) मुझ गोपालक के पास (ध्रुवा) स्थिर रहें=घरमें गौवें बहुत रहें। प्रत्येक घरमें गौवोंकी रक्षा और पालना उत्तम प्रकारसे की जाए। दूध घी, मक्खन, छाछ आदि पदार्थ हरएकको भरपूर मिलते रहें। इन पदार्थोंको खा पीकर हरएक मनुष्य हृष्ट और पुष्ट होकर आनन्दसे रहे।

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्॥

अ. १९।३१।५॥

(चतुष्पदां द्विपदां पशूनां) द्विपाद और चतुष्पाद पशुओंसे तथा (यत् धान्यं) जो धान्य है, उससे (पुष्टिं) पुष्टिको (अहं परि जग्रभ) मैं ग्रहण करता हूं। (पशूनां पय) पशुओंका दूध तथा (ओषधीनां रसं) ओषधियोंका रस (मे) मुझे (सविता बृहस्पति) सबके उत्पादक ज्ञानपति ईश्वरने (नि यच्छात्) दिया है। इस मंत्र में 'पशूनां पय' ओषधीनाम् रस' इन शब्दोंद्वारा स्पष्ट कहा है, कि पशुओंसे दूध लेना है, न कि उनका मांस। जहां जहां पशु शब्दका उल्लेख आए, वहां वहां उस पशुका दूध लेना है, यह बात न समझनेके कारण पशुयज्ञका तात्पर्य पशु-मांस यज्ञ किया गया,, और अंत लोगोंने पशुमांसका हवन किया, और पशुमांसका भक्षण करना भी प्रारंभ किया। परन्तु इस मन्त्रने बिलकुल स्पष्टता से कहा है, कि पशुका तात्पर्य उसके दूधसे है। अर्थात् यज्ञमें दूध, घी, आदि का ही हवन होना चाहिए, तथा खानेमें दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि पदार्थ ही आने चाहिएं। इस प्रकार औषधियोंके रस और धान्य-यही पदार्थ खाने योग्य हैं। मांसादि पदार्थ खाने योग्य नहीं है।

मद्यपान निन्दा।

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ ऋ. ८।२।१२॥

(न) जैसे (सुरायां) शराब (हृत्सु पीतास) दिल खोलकर पीनेवाले (युध्यन्ते) आपसमें लड़ते हैं, और (न) जैसे वे (नग्ना) नग्न होकर (ऊधः) रातभर (जरन्ते) बड़बड़ाते हैं, वे (दुर्मदास) दुष्ट बुद्धि लोग होते हैं।

दुर्मदका अर्थ 'जिनका मद दुष्ट होता है' आनंद करनेकी रीति जिनकी बहुत बुरी होती है, जो शराब आदि पीकर नाचना खुशीका चिह्न समझते हैं, वे 'दुर्मद' होते हैं। 'सु-मद' ऐसे नहीं हुआ करते, वे सभ्यता से रहते हैं। 'सुमद' लोग नारियलका पानी या सोम या केवल शुद्ध जल आदि पीते हैं। और आनंदसे हृष्टपुष्ट रहते हैं। हरएक मनुष्य को "सुमद" होना चाहिए, "दुर्मद" होना योग्य नहीं है। मद्यपान की इस प्रकार निंदा की गई है, अतः मद्यपान करना किसीको भी उचित नहीं है।

कल्याण मार्ग

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचंद्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ॥ ऋ. ५।५१।१५॥

(सूर्याचन्द्रमसौ इव) सूर्य और चंद्रके समान हम सब स्वयं (स्वस्ति पन्थां) उत्तम मार्गका (अनुचरेम) अनुसरण करें और (पुनः) पश्चात् हम (ददता) दानी, (अघ्नता) घातपात न करनेवाले और (जानता) ज्ञानी सज्जनों की (संगमेमहि) संगति करें ।

सूर्य और चंद्र जिस प्रकार जनताको प्रकाशका मार्ग बताते हैं, उस प्रकार हरएक ज्ञानी मनुष्य अन्य लोगोंका मार्ग दर्शक बने । और परोपकार, अहिंसा और ज्ञानमय कर्म करनेवालोंके संघ बनावे । परोपकार, अहिंसा और ज्ञान ये तीन बातें हैं, जो मनुष्यके हृदय की उन्नति करनेवाली हैं । इसलिये इन गुणोंके धारण करनेवालोंके साथ रहकर मनुष्यको अपने अंदर ये गुण बढाने चाहिये ।

सत्संगति ।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते । महद्यक्षं
भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति । अ. १०।८।१५॥

(पूर्णेन) पूर्णके साथ होनेसे (दूरे वसति) दूर रहता है और (ऊनेन) न्यूनके साथ रहनेसे भी (दूरं हीयते) दूर गिरता है । भुवनोंके मध्यमें एक (महत् यक्ष) बडा पूज्य देव है (तस्मै) उसीको (राष्ट्रभृतः) राष्ट्रके धारक बीर बलि (भरन्ति) अर्पण करते हैं ।

श्रेष्ठके साथ जो रहता है, उसका संमान होनेके कारण उसका स्थान बहुत ऊंचा होता है, इसलिये वह मनुष्य सामान्य लोगोंसे दूर होता है । तथा नीचके साथ सहवास करनेसे भी नीचे गिरता है । इसलिये वह पतित मनुष्य भी हीनत्वके कारण दूर ही रखा जाता है । यद्यपि ये दोनों दूर ही रहते हैं, तथापि पहिला आदरणीय और दूसरा निन्दनीय होता है । जो श्रेष्ठ होते हैं, और जो राष्ट्रके संरक्षण के लिये अपनी बलि अर्पण करते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ सर्वव्यापक परमात्मा की ही उपासना करते हैं ।

❋ तप से सुखप्राप्ति ❋

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि

विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्व-

हन्तस्तत्समाशत ॥ ऋ. ९।८३।१॥

(हे ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके स्वामी ईश्वर ! तेरा (पवित्रं) पवित्र रक्षण (विततं) सर्वत्र फैला हुआ है। वह तू सबका (प्रभुः) प्रभु (विश्वतः गात्राणि) सब ओरसे अवयवोंमें (परि-एषि) व्यापता है। (तत् आमः) उस सुखको (अतप्त तनूः) जिसने तप नहीं किया है वह (न अश्नुते) प्राप्त नहीं कर सकता। परंतु जो (शृतासः) परिपक्व होते हैं वे (तत् वहन्तः) उसको धारण करते हुए (समाशत) प्राप्त करते हैं।

परमात्मा सर्वत्र है और हरएक स्थानमें वह व्यापता है। जो तप करता है, उसको उस प्रभुका आनंद प्राप्त होता है परंतु जो तप नहीं करता उसको वह आनंद नहीं मिल सकता।

उपासना-स्थान।

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।

धिया विप्रो अजायत ॥ १५ ॥ य. २६।१५॥

(गिरीणां उपह्वरे) पहाडोंकी भूमिपर, (च) और (नदीनां संगमे) नदियों के संगम पर बैठकर (विप्रः) ज्ञानी लोग (धिया) धारणायुक्त बुद्धि से (अजायत) उन्नति को प्राप्त करते हैं।

अर्थात् धारणाध्यान आदि करनेके लिये पहाडोंके सुंदर स्थान, तथा नदियों के मनोहर संगम बहुत लाभदायक होते हैं। ज्ञानी लोग यहां बैठकर योगसाधन करते हुए आत्मिक उन्नतिको प्राप्त करते हैं। यह बात यहां सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है, कि पहाडोंके गंभीर दृश्य और नदियोंके आल्हादकारक स्थान चित्तकी एकाग्रता करनेके लिये बहुत सहायता कर सकते हैं। इन स्थानों में स्वभावतः विशालता, गंभीरता, और प्रसन्नता होनेके कारण मनके एकाग्र होनेमें बहुत सहायता होती है।

❋ जागृत रहो ❋

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः

सनीळाः। दधिक्रामग्निमुषसं च देवीमिन्द्रावतोऽ-

वसे नि ह्वये वः ॥ ऋ. १०।१०१।१॥

हे (समनसः) एक विचारसे युक्त और (स-ज्ञाय:) एक प्रकारके ज्ञानसे युक्त लोगो! (उद्बुध्यध्वं) उठो, जागो, और जानो। (स-नीळाः) एक घरमें रहनेवाले (बहवः) सब लोग मिलकर (अग्निं) ईश्वरको, ज्ञानीको अथवा ज्ञानको (सं इन्धं) उत्तम रीतिसे प्रदीप्त करो। (दधिक्रां) धारणशक्तिके साथ प्रगति करनेवाले, (अग्निं) तेजस्वी और (उषसं देवीं च) चौकसीकी सूचक दिव्य शक्ति, इन को (इन्द्रा-वतः) प्रभुत्व चाहनेवाले (व) आप सबकी (अवसे) रक्षाके लिये (निह्वये) आह्वान करता हूं।

धारणशक्तिके साथ प्रगति, तेजस्विता, सचेतता और प्रभुत्वशक्ति इन गुणों से सबका रक्षण होता है। एक स्थानमें रहनेवाले सब लोग एक ज्ञान और एक विचार से युक्त होकर अपनी उन्नतिके लिये जागते रहें॥ जागृत रहकर अपनी उन्नति दक्षताके साथ करें।

(१) एक घरमें रहनेवाले सब लोग मिलकर ईश्वरोपासना करें। इसी प्रकार जातिके सब लोग अथवा समाजके सब लोग मिलकर उपासना करें।

(२) अपनी प्रगतिके मार्गका ज्ञान प्राप्त करें और उसका आचरण करके अपना अभ्युदय सिद्ध करें।

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रप-
रणीं कृणुध्वम्। इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं
यज्ञं प्रणयता सखायः॥ ऋ. १०।१०१।२॥

हे (स-खाय) एक ज्ञानवाले लोगो! (मन्द्रा) उत्तम भाषण (कृणुध्वं) कीजिये। ज्ञान और पुरुषार्थ (आ तनुध्वं) का संपादन दीजिये! (अरित्र-परणीं) शत्रुसे बचाकर पार लेजानेवाली (नावं) नौका (कृणुध्वं) बनाइए। (इष्-कृणुध्वं) अन्न तैयार कीजिए. (आयुध-अरं) सब शस्त्रास्त्र तैयार (कृणुध्वं) रखिये। (प्र-अंच) अग्रभागमें बढानेका (यज्ञं) सत्कार-संगति दानरूप-सत्कर्म (प्र-नयत) बढाइए।

(१) सब लोगोंको उचित है, कि वे जागृत रहकर अपने बचावका यत्न सदा करें, (२) परस्पर उत्तम प्रेमपूर्ण भाषण और वार्तालाप करें, और परस्पर प्रेम बढाएं, (३) अपना ज्ञान और अपना पुरुषार्थ बढावें, जितना विस्तार हो सकता है, करें, (४) समुद्रमें युद्ध करने और शत्रुसे अपना बचाव करनेके लिये "युद्ध-नौका" बनावें, (५) इसी प्रकार भूमि-पर भी अपने बचावके साधन तैयार करें, (६) अन्नका संग्रह भरपूर रखें, (७) अपने शस्त्रास्त्र शत्रुके शस्त्रास्त्रोंसे बढकर तैयार रखें, (८) सदा आगे बढनेकी तैयारी करें, और कदापि पीछे न हटें। क्योंकि सदा प्रगतिके विषयमें जागृत रहनेवाले लोग कभी अवनत नहीं हो सकते।

वेदानुसार आचरण।

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरायोपयामसि मन्त्र-
श्रुत्यं चरामसि। पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि संरभा-
महे॥ ऋ. १०।१३४।७।

हे (देवाः) विद्वानो! (नकिः मिनीमसि) न तो हम प्राणिहिंसा करते हैं, और (नकि आ योपयामसि) न ही हम लोगोंमें फूट डालते हैं। अपितु (मन्त्रश्रुत्यं चरामसि) वेदमन्त्रोंके अनुसार आचरण करते हैं। अर्थात् (अत्र) इस संसारमें (कक्षेभिः पक्षेभिः अपि) तुच्छ साथियोंसे भी (सं) मिलकर (अभि) सब ओर (रभामहे) उद्योग करते हैं।

अर्थात् किसीमें फूट न डालते हुए किसी प्राणीका वध न करते हुए हम सबको प्रेम दृष्टिसे देखते हैं।

वेदमाता

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्ता पावमानी
द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मव-
र्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ अ. १९।७१।१॥

भक्त कहता है-(प्रचोदयन्तां) मनको उत्साह से प्रेरणा करनेवाली (द्विजानां पावमानी) द्विजोंको पवित्र करनेवाली (वरदा वेदमाता) वर=श्रेष्ठज्ञान देने वाली वेदमाताकी (मया स्तुता) मैंने स्तुति की है=मैंने अध्ययन किया है। प्रभु आदेश करते हैं-(आयु प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं) आयु, प्राण, प्रजा पशु, कीर्ति, ज्ञानतेज (मह्यं दत्वा) मुझे देकर (ब्रह्मलोकं व्रजत) मुक्ति प्राप्त करो।

वेदाध्ययनसे तत्वज्ञान होता है। पश्चात् सर्वस्व त्याग करनेसे मोक्ष प्राप्त होता है।

वेद को संभाल कर रखो।

यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म
एनम्। कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्त-
पसावतेह॥ अ. १९।७२।१॥

(यस्मात् कोशात्) जिस कोशसे (वेदं उदभराम) वेदको हमने उठाया था, (तस्मिन् अन्तः) उसके बीचमें (एनं अवदध्म) इसको रखते हैं। (ब्रह्मणः वीर्येण) वेदज्ञानके बलसे (इष्टं कृतं) हमने इष्ट कर्म किया है। (तेन तपसा) उस तपसे (देवाः) सब दिव्यशक्तियां (मा इह अवत) मेरी यहां रक्षा करें।

शान्तिः ।

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्ति-
रोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः
शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः
शान्तिभिः । ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः
शमया मोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं
तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ अ. १९।९।१४॥

(मे) हमारे लिए (पृथिवी शान्तिः) पृथिवीलोक शान्तिप्रद हो। (अन्तरिक्षं शान्ति) अन्तरिक्षलोक शान्तिमय हो। (द्यौ शान्तिः) द्यौलोकमें शान्ति हो। (आपः शान्तिः) जल शान्ति कारक हों (ओषधय.. ... . .) औषधियां वनस्पतियां सुखदेनेवाली हों। (विश्वेदेवाः ...) संपूर्ण देव-वसुआदि तथा दिव्य-गुण शान्तिकारक हों। (मे सर्वे देवाः) हमें पूर्ण विद्वान् शान्ति दें। (शान्तिः शान्तिः) यह शान्ति भी उपद्रव रहित हो (शान्तिभिः शान्तिः) इन-सब शान्तियोंसे परम शान्ति का लाभ हो। (ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः) उन शान्तियों तथा पूर्ण सुखोंके द्वारा, हे प्रभु! (मोहं शमय) हमारे अज्ञानको शान्त कर। (यत् इह घोरं) जो इस संसारमें भयंकर है, (तत् शान्तं) वह सब नष्ट हो। (इह यत् क्रूरं) इस जगतमें जो कठोरता है। (तत् शिवं) वह कल्याणरूप होजाए। (इह यत् पापं) इस संसारमें जो भी पाप है, वह (सर्वं एव) सभी (न) हमारे (शम् अस्तु) नष्ट होजाए।

प्रभो! प्रत्येक वस्तु सुखशान्ति देनेवाली हो॥

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

* वेदामृत की मन्त्रसूची *

अ.

ब.

र.

ल.